अखण्डानन्द सरस्वती

अष्टावक्रगीता

प्रवचन

अष्टावक्रगीता

प्रवचन

प्रवचन :

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

संकलन :

साध्वी कञ्चन

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : 1100
19 नवम्बर, 2007
आराधन महोत्सव
द्वितीय संस्करण : 1100
विजयादशमी
6 अक्टूबर 2011

तृतीय संस्करण : 1100
अप्रैल 2017

●

मूल्य : 90/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

प्रकाशकीय

परमपूज्य 'महाराजश्री' स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा अष्टावक्रगीताके कुछ श्लोकों पर मुम्बई-भारतीय विद्या भवनमें किये गये प्रवचनोंके कैसेट प्राप्त हुए!

पूज्य स्वामीश्री ओंकारानन्द सरस्वतीने उन्हें सुना, पसन्द आये, पुस्तकाकार करनेका आदेश हुआ—साध्वी कञ्चनने बड़े मनोयोगसे उन्हें लिखा—

पाठकोंकी सुविधा हेतु अष्टावक्रगीताके सम्पूर्ण मूल श्लोक अनुवादके साथ अन्तमें संकलित कर दिये गये हैं। इन श्लोकोंका अनुवाद भी परम पूज्य महाराजश्रीने लिखवाया था! यह ग्रन्थ कुछ दिनोंसे अप्राप्य था, ***महन्त स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके*** *आदेशसे पुर्नप्रकाशित किया जा रहा है।*

विश्वास है जिज्ञासुओंको परम पदकी प्राप्ति करानेमें यह ग्रन्थ सहयोगी होगा!

—ट्रस्टी

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

19 नवम्बर 2007 *मुम्बई / वृन्दावन*

सुगम-से-सुगम

राजर्षि जनक, महामुनि श्री अष्टावक्रजीका दर्शन-सत्संग करके राजधानीके लिए प्रस्थान करते समय घोड़ेकी बायीं ओर लटकते रिकाबमें अपना बायाँ पाँव डाल चुके थे। पीठ पर बैठनेके लिए अभी दाहिना पाँव उठाया नहीं था। इतनेमें श्री अष्टावक्रजीकी धीर-गम्भीर, प्रसन्न-वाणी प्रतिध्वनित हो उठी—

'अरे राजा! तू नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अद्वितीय चिद्-ब्रह्म है, देहको अपना आत्मा मानकर झूठ-मूठ भवाटवीमें भटक रहा है। यह तो अज्ञानका जंगल है। तुझसे अन्य, अमंगल है। लगा दे अज्ञानके जंगलमें आग। न राग, न भाग। न संग्रह, न त्याग। बस, तू-ही-तू है!'

राजा ज्यों-का-त्यों अवाक् देखता ही रह गया। यह क्या? मैं ही अद्वितीय ब्रह्म हूँ! धन्य है, धन्य है!! राजा कृतकृत्य हो गया। कुछ जानना, करना, छोड़ना पाना शेष नहीं रहा। निर्द्वन्द्व, निर्भय। एक क्षणमें कल्पित अनादि आवरण भंग हो गया। नित्य-सिद्ध असंगता प्रकट हो गयी। जब दूसरा है ही नहीं तो आसक्ति एवं विरक्ति भी किससे?

अध्ययन-कालमें 'श्री अष्टावक्र गीता' दृष्टिगोचर हुई। इतनी सरल इतनी ललित। बोल-बोलकर श्लोक पढ़नेमें आनन्द आता। सचमुच 'सत्य' अवक्र है, टेढ़ा नहीं है। उसमें कोई दाव-पेंच नहीं है; इसके निरूपणमें भी कोई दाव-पेंच नहीं है। उसमें किसी प्रकारकी मायिक अथवा प्राकृत ग्रन्थि नहीं है। अष्टधा प्रकृतिके जोड़-तोड़-मोड़से सर्वथा विमुक्त है। उपनिषदोंमें सावधान रहकर ध्यानपूर्वक तात्पर्य ढूँढ़ना पड़ता है। 'अद्वैत-सिद्धि, चित्सुखी, खण्डन एवं धिक्कार' आदि बड़े-बड़े ग्रन्थोंमें

पर-मतके निरसन एवं आक्षेप-प्रतिक्षेप पर ही दृष्टि अटक जाती है। कभी-कभी दृष्टि भटक भी जाती है। परन्तु 'अष्टावक्र गीता' जिज्ञासुके हृदयको तत्क्षण प्रकाशित कर देती है और विशुद्ध अनुभव रसको अपने स्वरूपके रूपमें ही निरावरण कर देती है।

एक कथा और सुनी थी।

राजा जनक अपने महलमें शयन कर रहे थे। उन्हें स्वप्न हुआ, अद्भुत स्वप्न! वे एक दीन-हीन भिक्षुक हैं। तीन दिन तक खाने-पीनेको कुछ नहीं मिला। कहींसे किसी प्रकार चावल-दाल मिले। मृत्तिका पात्रमें पकाने लगे। उसी समय लड़ते हुए दो बैल वहाँ आये। वह खिचड़ी नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। नींद टूट गयी और स्वप्नके दृश्य अदृश्य हो गये। महल, पलंग, रात्रिका सुख-शयन सब ज्यों-का-त्यों मिला।

प्रश्न उठा, 'यह सत्य कि वह सत्य' अर्थात् जो स्वप्न देखा वह सत्य या जाग्रतमें देखा वह सत्य? राजा जनककी सभा में आने लगे विद्वान् होने लगे प्रश्न-समाधान। समस्या रही ज्यों-की-त्यों 'यह सत्य कि वह सत्य?' अन्ततोगत्वा श्रीअष्टावक्र महामुनि पधारे। उनके टेढ़े-मेढ़े शरीर, विचित्र रंग-ढंग, लुढ़कते हुए चलना आदि देखकर सभासद् हँसने लगे। राजा जनकको भी हँसी आगयी। अष्टावक्रजीने धीर-गम्भीर स्वरसे पूछा—'आपलोग किसको देखकर हँस रहे हैं? शरीरके उपादान अर्थात् पञ्चभूत, परमाणु, प्रकृति, माया या परब्रह्मको? भाई, उसमें तो कोई भेद नहीं है। सबका मूल मसाला एक ही है। यदि बनानेवाले परमेश्वर पर हँस रहे हो तो उसकी रचना, उसके कला-कौशलको देख-देखकर आनन्द लेने को है। उसकी हँसी उड़ानेका कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण सभामें गम्भीरता छा गयी। इस बे-डीलडौलके बालकने कमाल कर दिया। सत्य तो यह है कि ज्ञान किसी आकृतिकी अपेक्षा नहीं रखता और न तो व्यक्ति-विशेषके पराधीन ही है। वह स्वयंप्रकाश ही है।

बात यह थी कि वरुण लोकमें बड़े-बड़े विद्वानोंकी आवश्यकता थी। वरुणने अपना एक विशिष्ट विद्वान् जनककी सभामें भेज दिया। वह शास्त्रार्थमें जिस किसीको पराजित करता उसे जलमें डूबो दिया जाता। वरुणके दूत उसको आदरपूर्वक आयोजित सभामें ले जाते। उन्हीं डुबोये हुए विद्वानों में अष्टावक्रके पिता कहोल ऋषि भी थे। जब अष्टावक्रको यह ज्ञात

हुआ तब वे राजा जनककी सभामें पधारे और वहाँ यही प्रश्न ही था—'यह सत्य या वह सत्य?'

विद्वद्-वृन्द इस प्रश्नका उत्तर देनेमें असमर्थ था।

अष्टावक्रजीने घोषणा कर दी—'न यह सत्य न वह सत्य।' स्वप्न, ज़ाग्रत दोनों ही जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त हैं, जिस स्वयं-प्रकाश, प्रकाशके द्वारा प्रकाशित हैं— एक मात्र वही सत्य है। सत् अधिष्ठान एवं चित् प्रकाश दोनों एक ही है और वह अपना आत्मा ही है। यह, वह, मैं, तुम, ये सब व्यर्थ हैं, मिथ्या हैं।

वरुणलोकका यज्ञ समाप्त हो चुका था। कहोल ऋषि मुक्त कर दिये गये थे। 'महामुनि अष्टावक्रकी जय हो'के नारों से सम्पूर्ण सभा-मण्डल गूँज उठा। उसी अष्टावक्र मुनि ने यह गीता राजा जनकको सुनायी थी।

प्रश्न तथा उत्तरों पर गम्भीरतासे विचार करनेपर स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है कि यहाँ (अष्टावक्र गीतामें) गुरु और शिष्य दोनों ही तत्त्वज्ञ हैं।

जिज्ञासुओंके कल्याणके लिए ही गुरु ही शिष्यका कल्पित भेद बनाकर सूक्ष्म-वस्तुका निरूपण किया गया है। ध्यानमें रहे कि तत्त्वज्ञानके लिए शिष्यकी जिज्ञासा एवं गुरुका समाधान नितान्त आवश्यक है। यदि शिष्य दृश्य विषयोंके चिन्तनमें ही लगा रहेगा तो उसके विचार तत्त्वस्पर्शी या तत्त्वदर्शी नहीं होंगे। जो बन्धनके हेतु हैं उन्हीं को विषय कहते हैं। जितना-जितना विषयों को त्याग होता जायेगा, त्याग करनेवाला विषयोंके भारसे मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूपमें विराजमान होगा। त्याग करनेवालेको ही आत्माका ज्ञान होता है, क्योंकि त्यागके अनन्तर जो शेष बचा रहता है, वह प्रत्यागात्मा ही परमपद है। जैसे, अधिष्ठानमें अच्छाई-बुराईका कितना भी अध्यास किया जाय, परन्तु वह अध्यस्त विषयों पर किञ्चित् भी विरोध-निरोध नहीं करता, उसी प्रकार संसारियोंके द्वारा माने हुए अपराधियोंके प्रति क्षमा, सरलता, जीवनमें आनी चाहिए। दयाका अर्थ है किसीको अपने आत्मासे अलग मानकर क्रूरता नहीं करनी चाहिए। ब्रह्मके समान ही अपनेमें शान्ति, सन्तोष एवं अबाधित सत्यताका अनुभव करना चाहिए। जो ज्ञानियोंका अनुभव है, उसीको लक्ष्यमें रखकर जिज्ञासुकी साधना होती है। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तःकरण यदि शुद्ध हो तो, श्रवण-मात्रसे ही तत्त्वज्ञान हो जाता है।

अष्टावक्र मुनिका कहना है कि आप अपनेको पञ्चभूतोंके साक्षीके रूपमें जानिये। मुक्तिका एकमात्र साधन यही है। साक्षीका अर्थ इस प्रकार समझिये कि आप संसारको इन्द्रियोंके द्वारा देखते हैं; मनके द्वारा अच्छा-बुरा, अपना-पराया मानते हैं। यह मिट्टी-पानी है, ऐसा ऐन्द्रयिक ज्ञान है। यह उचित-अनुचित, मेरा-तेरा है, ऐसा मानस-ज्ञान है। काम-क्रोधादि, साक्षी-भाष्य हैं। इसी प्रकार स्वप्न एवं सुषुप्तिकी भी स्थिति है। इन्हें बिना किसी इन्द्रियके और बिना मनके साक्षी देखता है। देखता है अर्थात् ये सब बिना किसी करणके ही प्रकाशित होते हैं। परम्परासे श्रुत-मत अथवा शास्त्रके द्वारा परोक्ष रूपसे कल्पित पदार्थ भी तभी भासते हैं, जब अन्तःकरणकी वृत्ति तदाकार होती है। इसलिए, भूत, भविष्य, वर्तमानके, दूर-निकटके, स्थूलके जितने भी भान होते हैं, वे सब तत्-तत् कल्पनासे युक्त अन्तःकरणमें ही भासते हैं। परलोक एवं ईश्वरकी भी यही गति है। ऐसी अवस्थामें ये सब साक्षीभास्य हैं एवं तत्तदाकार-वृत्तिसे तादात्म्य होने पर ही ये जीवन-लाभ करते हैं। इनकी सत्ता एवं स्फूर्ति साक्षीकी ही अविद्यामूलक भ्रान्तिके कारण पृथक् प्रतीत होती है। प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः यह चिन्मात्र वस्तुसे पृथक् नहीं होता।

अष्टावक्र मुनि कहते हैं—'किसी भी वस्तुका ध्यान मत करो, समाधि मत लगाओ। दूसरेका अन्वेषण मत करो। तुम अपनेको जानो कि अपना आपा क्या है। मुक्ति कोई परोक्ष वस्तु नहीं है। न कहींसे आती-जाती है और न कहींसे मिलती है। यह किसीकी दी हुई नहीं होती है। केवल तुम अपने यथार्थ स्वरूपका निर्णय कर लो। यह निश्चयपर पहुँच जाओ कि मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुकत अद्वितीय, ब्रह्म हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। विवेकके लिए ही 'मैं' शब्दका प्रयोग है। अनुभवमें 'अहं' पद, पदार्थ एवं वाक्यान्वयकी कोई मति-गति-स्थिति नहीं है। अनुभव, अनुभव ही है। उसमें अनुभवी एवं अनुभवका विषय, यह द्वैत भी नहीं है। इस अद्वैत सत्यका जितना स्पष्ट विशद् वर्णन अष्टावक्र मुनिने किया है, उतना अन्यत्र दुर्लभ ही है।

जिज्ञासुको सदा सावधान रहना चाहिए। व्याकरणकी रीतिसे 'साक्षी' शब्दका अर्थ होता है, 'साक्षात् द्रष्टा'। साक्षात्का अर्थ समझिये। रूप देखनेके लिए नेत्र चाहिए। नेत्रकी मन्दता-तीव्रता-अन्धता आदि जाननेके लिए बुद्धि

चाहिए। बुद्धिकी शान्ति, एकाग्रता, विक्षेप, सुषुप्ति आदिको जो जानता है, वह किसी कारणके माध्यमसे नहीं जानता। वह स्वयं जानता है। इस स्वयंताका अनुभव क्या है? यह साक्षी है, ऐसा सोचना मूर्खतापूर्ण है। वह साक्षी है, यह कोरी कल्पना है; 'मैं' साक्षी हूँ, इसमें अपना भ्रममूलक व्यक्तित्व मिश्रित हो जाता है। अतएव 'साक्षी' कोई स्थिति नहीं है। यह विवेककी एक प्रक्रिया है। जब अपनेको दिक्-कालकी कल्पना-वाले अन्त:करणके साक्षीके रूपमें देखेंगे तो विविधता, विस्तार एवं नित्यता, ये तीनों मूर्च्छित हो जायेंगे। मूर्च्छित माने अपनी आत्मामें अध्यस्त जड़। ऐसी स्थितिमें जिज्ञासुको यह भ्रम होता है कि द्रष्टाभावमें वृत्ति टिकती नहीं है या द्रष्टामें स्थिति नहीं होती है। यह सब अविचार-मूलक है। द्रव्य स्थिति होनेके लिए नहीं है, यह वृत्ति टिकानेके लिए नहीं है। दृश्यसे पृथक्ताका विवेक करनेके लिए केवल आलम्बन मात्र है। विवेक हो जानेपर यह स्वयं-प्रकाश, परिच्छेद सामान्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित अद्वितीय ब्रह्म ही है।

और भी देखिये—अन्त:करणको संकल्प-विकल्प-वासना-विक्षेप आदिसे मुक्त करनेके लिए समाधिकी आवश्यकता होती है। परन्तु जो अन्त:करणका अधिष्ठान चेतन है; स्वयं अनुभवस्वरूप है, उसको अनुभाव्य बनानेके लिए समाधि नहीं लगायी जाती। तत्त्वानुभूतिमें, समाधि बाधक ही है, साधक नहीं। जहाँ वृत्ति ही नहीं रहती वहाँ निवर्त्य-निवर्तक भाव नहीं रह सकता। अत: समाधि अज्ञानको निवृत्त नहीं कर सकती। समाधिके अभ्यासमें जो कर्तृत्व रहता है, उसको मिटानेमें भी समाधि समर्थ नहीं है। ऐसी अवस्थामें समाधिका आग्रह अन्त:करणको मैं, मेरा समझनेके कारण ही है और समाधिका आग्रह स्वयंमें एक ग्रन्थि ही है।

अच्छा, आइये! द्रष्टाकी स्थितिका आग्रह छोड़ दिया। समाधिकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु, चिन्तन तो होना चाहिए न! अच्छाजी, यह तो बताइये कि 'सत्य' क्या चिन्तनके घेरेमें आ गया? चिन्तन 'सत्य'को भी चिन्ताकार बना देगा अर्थात् आप जैसा चिन्तन करेंगे उसीके आकारमें 'सत्य' भासने लगेगा। अत: बाह्यार्थ-विषयक वासनाके अन्तर्वेगकी निवृत्तिमें उपयोगी होनेपर भी अनुभवमें चिन्तनकी कोई अपेक्षा नहीं है। चिन्तन द्वितीयका होता है, अप्राप्तका होता है। जहाँ, जब, कोई कुछ द्वैत है ही नहीं तो चिन्तन क्या?

ज्ञानका प्रकृष्ट सर्वोतम, निरुक्तर, निरतिशय स्वरूप क्या है? जिसमें ज्ञातारूप अहं और ज्ञेयरूप इदं न हो। इसीका नाम है 'प्रज्ञान'। प्रज्ञान अर्थात् अन्त:करणरूप उपाधिके सम्बन्धसे सर्वथा विनिर्मुक्त ज्ञान। वही है अपना स्वरूप—'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ। यही है साक्षात् ब्रह्म! भेद-छेद, विशेष, माया, अविद्या, द्वैत सबसे रहित ब्रह्म। ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं है, असाक्षात्कारके भ्रमकी निवृत्तिसे उपलक्षित स्वयं।

आश्चर्य है! आश्चर्य है!! आत्मा, शुद्ध-अद्वितीय, ज्ञानस्वरूप है। शुद्ध, चिद्वस्तु चिन्मात्र। द्वैतकी तो गन्ध ही नहीं है। मैंने अपनेको न जानकर ही देहको आत्मा मान रखा था। यह परिच्छिन्न, जड़, अनेक द्रव्योंका समूह कथमपि आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु, मैंने इसीको आत्मा मान लिया है। इसीमें कल्पित इन्द्रियरूप नेत्रोंसे देख-देखकर बड़ा भारी भूतोंका समूह बना लिया। देहको आत्मा मानना और देहके झरोखेसे अनेकताको देखना, यह सब मोहका ही विलास है। जीव-जगत्के जितने भेद हैं, वह सब अपनेको परिच्छिन्न देह माननेके कारण ही है। जब आत्मा आकाशका भी प्रकाशक, 'चिदाकाश' ही है तो उसके किस अंशमें यह प्रपञ्च अध्यस्त है? न जीव है न जगत्, यह तो एक प्रतीतिमात्र है। इनका कोई नियन्ता भी नहीं है। द्वैत भासता है इससे क्या हुआ? क्या जो चीज भासती है, वह सत्य होती है? जो प्रतीत हो उसके सत्य होनेका कोई नियम नहीं है। आकाशकी नीलिमा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

ज्ञानसे जिसको सत्ता, स्फूर्ति मिलती है और ज्ञान ही जिसकी प्रियताका मूल है, वह सत्ता, स्फूर्ति एवं प्रियता ज्ञानसे भिन्न नहीं होती। इसका अर्थ है कि आत्मासे प्रतीत होनेवाली वस्तु आत्म-स्वरूप ही होती है। सब प्रज्ञानघन ही है। केवल आत्मा ही है। प्रतीति भी आत्मा है, प्रतीत भी आत्मा ही है। तब यह सब क्या है? आत्मा! ठीक है। फिर भ्रम क्या है? इनको पृथक् समझना, उल्टी बुद्धि। अपने आत्मा को ही अन्य समझना भ्रम है। दीख रहा है, ठीक है। छाया दीख रही है, पर जिसकी है, प्रकाशती है क्या उससे वह पृथक् है? केवल देह, आत्मा नहीं है। देह-सहित सम्पूर्ण विश्व आत्मा है। उसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकी कल्पना भी आत्मा है। ज्ञानस्वरूप आत्माकी तरङ्ग भी ज्ञानस्वरूप ही है। जीव, जगत्, ईश्वर सब उल्लासमात्र प्रतीत होने पर भी आत्मा ही है।

अच्छा तो, यह व्यक्तित्व क्या है? व्यक्तित्व अर्थात् परिच्छिन्नत्व। यदि अपनेमें परिच्छिन्नत्वकी कल्पना न हो तो प्रपञ्चका भान नहीं होगा। इन्द्रियोंसे, जो देहमें रहती हैं, शब्दादिरूप प्रपञ्चका भान होता है; उचित, अनुचित क्रिया होती है। प्राणोंसे चेष्टा होती है। मनसे नाम रखे जाते हैं। संस्कारयुक्त बुद्धिसे धर्म-अधर्म, अनुकूल-प्रतिकूल कल्पित हो जाते हैं। यह सब कहाँ है? व्यक्तित्वमें। व्यक्तित्वका मूल क्या है? दृश्यमान अनात्मामें आत्मत्वका भ्रम। भ्रमका मूल है अपने स्वरूपका अज्ञान। वस्तुतः यह अज्ञान कुछ भी नहीं है। परन्तु, जबतक व्यक्तित्वमें अहंभाव है, तबतक 'मैं अपनेको ब्रह्म नहीं जानता' ऐसी प्रतीति होती है। प्रतीति चाहे जो हो, उसका विषय मिथ्या ही होता है। अज्ञान निवर्तक होनेसे ही ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान उपयोगी है। अन्यथा, अपने स्वरूपमें ज्ञानाज्ञानका भेद भी कल्पित ही है।

अज्ञान दशामें, व्यक्तित्वकी शुद्धि आवश्यक है। वह शुद्धि क्या है? वह शुद्धि यह है कि विवेकसे देखनेपर जिस-जिसका मैं साक्षी हूँ, वह मेरा स्वरूप नहीं हैं। न वह सुख है, न चेतन है और न तो उसकी अबाधित सत्ता ही है। जब उसका कोई सत्त्व-महत्त्व ही नहीं है, तो उसके प्रति राग-द्वेषका कोई प्रयोजन नहीं है। राग-द्वेष शिथिल हुए—बस निश्चिन्त! हो सो हो, दिखे सो दिखे, दृश्यके सम्बन्धमें कुछ भी ध्यान-धारणा करनेकी आवश्यकता नहीं है। अपनेको व्यक्तित्वके कारागारसे मुक्त करनेके लिए मुमुक्षापूर्वक सद्गुरुसे अखण्डार्थका श्रवण, मनन कर लीजिए। विरक्त मुमुक्षु एवं तीव्र जिज्ञासुके लिए वेदान्तका श्रवणमात्र ही पर्याप्त है। संशयालुके लिए मनन तथा विपर्ययीके लिए निदिध्यासनकी आवश्यकता होती है।

तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर व्यक्तित्वका क्या होता है? वह स्वाप्निक व्यक्तित्वके समान रहता है। वह केवल प्रतीति-समकालिक ही है। न आगे, न पीछे; न दूर, न निकट; न स्व, न अन्य। व्यक्तित्व माने केवल प्रतीति। स्वप्न-पुरुषमें कौन-से गुण रहें, कौन-से दोष न रहें। उसका पूर्व जन्म कैसा था, उत्तर जन्म कैसा होगा—यह सब निरर्थक प्रलाप है। इस प्रलाप-संलापमें रस लेनेपर विलापका अपलाप नहीं होता। अतः व्यक्तित्व स्वाप्निक व्यक्तित्वके समान ही प्रतीत होता है, उसके लिए चिन्ता-सन्तानके सूत्रसे व्यर्थ जाल बुननेकी प्रवृत्ति, जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुख अथवा परम स्वातन्त्र्यमें बाधक है। साधक-बाधकका भेद भी

व्यक्तित्वका ही चमत्कार है। कोई भी विशेष या भेद व्यक्तित्वका ही चमत्कार है। अधिष्ठान चेतन आत्मासे पृथक् उसका कोई भी अस्तित्व नहीं है। 'आत्मैवेदं सर्वम्'; 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्; स एवेदं सर्वम्;' 'अहमेवेदं सर्वम्'।

जब पहले-पहल वेदान्तमें रुचि हुई तो दो ग्रन्थोंने मुझे विशेषरूपसे आकृष्ट किया। एक : अष्टावक्र गीता और दूसरा : माण्डूक्य-कारिका। प्रायः इन दोनों ग्रन्थोंके सब श्लोक मुझे कण्ठस्थ हो गये थे। संन्यासी होनेपर मेरे परमप्रिय आत्मा दण्डीस्वामी श्री प्रबोधानन्द सरस्वती मुझसे अष्टावक्र-गीता सुनते रहे। उन्होंने ही आग्रह करके यह अनुवाद करा लिया। इस ग्रन्थकी भाषा और शैली इतनी सरल है कि इसपर टीकाकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी श्रीपीताम्बरजीने तथा श्रीजीवन विद्यासागरने इसपर संस्कृतमें टीका लिखी है। श्री जालिम सिंहजीकी हिन्दी टीका भी प्रसिद्ध है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जो जिज्ञासु युक्ति-जालसे, खण्डन-मण्डनसे एवं वागाडम्बरसे बचकर सरल हृदयसे ब्रह्म, आत्माकी सिद्ध एकताका अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ अमोघ रामबाणके समान है और निश्चित रूपसे परमपदकी प्राप्तिके योग्य बनानेवाला है तथा नित्यप्राप्त परमपदके असाक्षात्कारके भ्रमको मिटानेवाला है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!

—अखण्डानन्द सरस्वती

अनुक्रमणिका

प्रवचन : 6

प्रवचन : 7

प्रवचन : 8

प्रवचन : 9

प्रवचन : 10

प्रवचन : 11

प्रवचन : 12

प्रवचन : 13

प्रवचन : 14

प्रवचन : 15

प्रवचन : 16

प्रवचन : 17

अष्टावक्रगीता : मूल

●

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

अष्टावक्रगीता

प्रवचन : 1

पूर्वपीठिका

'अष्टावक्रगीता'का अर्थ है कि बीजभावमें चाहे जितना बाँकापन हो, जितना टेढ़ापन हो—परन्तु जो निर्बीज वस्तु है आत्मा, परमात्मा—उसपर बीज और अंकुरका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। बीजको 'अष्टि' बोलते हैं वह जिसमें हो, उसको 'अष्ट' बोलते हैं और बीजभावसे जो अवक्र हो माने कार्य-कारणभावापन्न न होता हो, उस परमात्माको ही 'अष्टावक्र' बोलते हैं।

वेदान्तमें वक्ताकी प्रधानता नहीं होती और श्रोताकी भी प्रधानता नहीं होती। किसने कहा है और किसने सुना है और किस भाषामें बोला गया है—इसकी प्रधानता नहीं होती। किस वस्तुके बारेमें बोला गया है, उस वस्तुकी प्रधानता होगी। तो जब शुद्ध वेदान्त बोला जायेगा तो उसका नाम 'ब्रह्मगीता' होगा। न उसका नाम 'वसिष्ठगीता' होगा और न 'अर्जुनगीता' होगा। क्योंकि, जिस वस्तुका वर्णन किया जाता है, उस वस्तुकी प्रधानतासे वेदान्तशास्त्र होता है। इसलिए वेदका वक्ता कौन है—यह किसीको मालूम ही नहीं है। वेदका श्रोता कौन है, यह भी मालूम ही नहीं है और उसकी भाषा भी अपनी ही है। वेद संस्कृत भाषामें नहीं है, नागरी भाषामें नहीं है। वेदकी भाषा ही वैदिक है। तो किस देशमें पैदा हुआ, किस कालमें पैदा

हुआ, वक्ता कहाँका है ? हिन्दुस्तानी कि विदेशी—इससे कोई मतलब नहीं। वह हजार, पाँच सौ वर्षके भीतरका है कि दस, बीस हजार वर्ष पहलेका है—इससे कोई मतलब नहीं। हमारे सम्प्रदायका है कि दूसरे सम्प्रदायका है—इससे कोई मतलब नहीं। उसने क्या-क्या साधना की है—इससे कोई मतलब नहीं। किसने सुना है—इससे कोई मतलब नहीं। किस भाषामें बोलता है—इससे कोई मतलब नहीं। वह किस वस्तुके सम्बन्धमें बोल रहा है, उसको वेदान्तमें पकड़ना है।

आपके मनमें यदि कोई भय हो तो निकाल दीजिये। '**भयं तत्त्वावमर्षणात्**'—वेदान्तका कहना है कि यदि आप तत्त्वका चिन्तन करेंगे तो आपका भय निवृत्त हो जायेगा। '**द्वितीयाद् वै भयं भवति**'—बृहदारण्यक उपनिषद्का कहना है कि दूसरेसे भय होता है। '**अभयं वै ब्रह्म**'—ब्रह्म निर्भय पद है। इसलिए वस्तुकी प्रधानता है।

आप भोजनकी तारीफ कीजिये तो यह मत कहिये कि किसने बनाया और यह मत कहिये कि किसके खानेके लिए बनाया गया और यह मत कहिये कि कहाँ बनाया गया और कब बनाया गया और किस बर्तनमें बनाया गया। यदि भोजनको पहचानना है तो भोजनकी असली तारीफ तो भोजनकी तारीफ होगी। अरे भाई, हमारी पत्नीका बनाया हुआ है तो इसको मीठा ही कहना चाहिए। जब भाई-भाभीके खानेके लिए बनाया गया है तो अच्छा ही होना चाहिए। जब सुवर्ण पात्रमें पकाया गया है तो अच्छा ही होना चाहिए!! ये सारी बातें बेकार हैं। भोजन तो भोजनके रूपमें अच्छा होना चाहिए। देखो, यह भी नहीं देखा जाता कि वक्ता कुरूप है कि सुन्दर है। अष्टावक्रजी महाराज आठ जगहसे टेढ़े थे। ढुलकते हुए चलते थे। धरती पर ढहलाते हुए चलते थे। अब कोई सुन्दरताका प्रेमी हो तो बोलेगा कि राम-राम, यह क्या उपदेश करेगा?

तो नारायण, 'अष्टावक्रगीता' माने ब्रह्मविषयक यह गीता है।

कहते हैं कि एक बार जनकजीके दरबारमें कोई जवान ब्राह्मण कथा कर रहा था। उसने कहा कि महाराज, ब्रह्मज्ञान कोई कठिन बात

नहीं है। वह तो घोड़ेकी रिकाबमें अपना बायाँ पाँव डाला और दाहिना पाँव अभी दूसरी ओर पहुँचा नहीं—इतनी देरमें ब्रह्मज्ञान हो जाता है। उसने कहा कि तुम इस बातको प्रमाणित करो। वह बोला कि हम नहीं प्रमाणित कर सकते। सो जनकने उसको जेलमें डलवा दिया। अब दूसरे भी जो ब्राह्मण विद्वान् इस बातको प्रमाणित नहीं कर सके, उन सबको जेलमें डाल दिया गया। अब अष्टावक्र महामुनिके मनमें कृपा आयी और वे पहुँच गये जनकके दरबारमें। जनकने पूछा कि आप इस बातको प्रमाणित कर सकते हैं? वे बोले कि हाँ, कर सकते हैं। घोड़ा मँगाया गया। बायाँ पाँव जनकने घोड़ेकी रिकाबमें डाला। अष्टावक्र बोले—'ठहर! तुमने इतना ही वेदान्त सुना है कि घोड़ेकी रिकाबमें पाँव और ब्रह्मज्ञान कि कुछ और भी सुना है?' 'और भी सुना है, महाराज।' बोले कि यह सुना है कि बिना गुरुके वेदान्तका ज्ञान नहीं होगा। 'सुना तो है।' '**आचार्यवान् पुरुषो वेद**'। 'पहले बना गुरु!' 'महाराज, मैं आपको ही गुरु बनाता हूँ।'

'अच्छा, हमको गुरु बनाता है तो दक्षिणा दो।' बोले कि तन, मन, धन-सब दिया। अष्टावक्र बोले कि अच्छा खड़ा रह! और, अष्टावक्रजी उठकर वहाँसे बाहर चले गये। अब राजाके मंत्री, यंत्री सब आये और देखा कि राजा तो हिलते नहीं, बोलते नहीं, देखें नहीं, जवाब नहीं देते; खड़े हैं। जबरदस्ती महलमें ले जाकर पलंग पर लिटा दिया, परन्तु वे तो चुप! किसी प्रयत्नसे जब नहीं बोले तो अष्टावक्रमुनि फिर आये। बोले कि उठकर बैठ जा! बैठ गये। उन्होंने पूछा कि अच्छा, क्या चाहता है? राजा बोले कि—

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो॥

यह राजा जनकका प्रश्न है। यह श्लोक पुरानी पुस्तकोंमें नहीं था। परन्तु ईश्वर कृपासे नयी प्रतियोंमें मिलता है तो उसीसे हम अष्टावक्र-गीताका शुभारम्भ करते हैं।

जनककी जिज्ञासा

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो॥ 1.1

हमें सच्चाईका ज्ञान होना चाहिए। जैसे तुम चाहते हो कि हमें स्वर्ग मिले, तो स्वर्ग है तब न तुम चाहते हो। तो स्वर्ग है कि नहीं—पहले यह ज्ञान होना चाहिए। अच्छा, हमको नरक न मिले। तो नरक है कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए। अच्छा, हमारा पुनर्जन्म न हो। तो, जन्म-मृत्यु है कि नहीं है—यह ज्ञान होना चाहिए। सो यह सब कुछ तो प्राप्त किया नहीं।

बड़ी विलक्षण बात है कि दुनियामें तुम सम्बन्ध-ही-सम्बन्ध तो चाहते हो। 'सम्बन्ध' माने रिश्ता-हमको यह चीज खानेको मिले, यह देखनेको मिले, यह सूँघनेको मिले, यह पहननेको मिले। हे भगवान्, यह रिश्तेदारी हो, यह नातेदारी हो, यह पैसा हो! ये सब सम्बन्ध है न! अपनी इन्द्रियोंको जब हम किसी एक चीजके साथ मिलाना चाहते हैं और बाँध करके रखना चाहते हैं तो उसका नाम 'बन्धन' हुआ। तो आप मुक्ति चाहते हैं क्या? किससे मुक्ति चाहते हैं। अतः पहले आपको यह देखना है कि मुक्ति है कि नहीं! यह समझना है। और, मुक्ति क्या है? बन्धन हो, तब भी मुक्ति होगी। तो बन्धन आपका कहाँ है?

नारायण कहो! पैसेके साथ बन्धन है, स्त्रीके साथ बन्धन है, शरीरके साथ बन्धन है, पुरुषके साथ बन्धन है, बच्चेके साथ बन्धन है, मकानके साथ बन्धन है और इन बन्धनोंको तो आप छोड़ना नहीं चाहते। तो जैसे कोई हाथसे तो कोई घड़ीको तो पकड़ ले कि घड़ी हमको चाहिए, घड़ी हम रखेंगे, घड़ी हम नहीं छोड़ेंगे—तो यह तो हाथसे पकड़ कर रखे और मुँहसे चिल्लाये, 'मुक्ति-मुक्ति'। यह बात हम सबके लिए तो नहीं कह सकते। लेकिन, किसी-किसीके मनकी यही हालत है। तो उसको स्वयं सोचना चाहिए कि क्या वह सचमुच मुक्ति चाहता है? और फिर, मान लो मुक्ति है और वह कुछ करनेसे मिलेगी। तो मिलेगी तो खो जायेगी, आवेगी और जायेगी! कबतक रखोगे?

देखो, 'है'के रूपमें मुक्ति मिलेगी तो तुम्हारा मन हटते ही वह छूट जायेगी। कोई भी है, है के रूपमें अनुभव होनेवाली चीज हमेशा तुम्हारे साथ रह नहीं सकती। अच्छा, यदि तुम-तुमके रूपमें मुक्ति मिले, तो जबतक हम-तुम दोनों चाहेंगे या हम न चाहें; लेकिन तुम चाहते रहो— तबतक वह मिली रहेगी और हम न चाहें और तुम भी न चाहो तो वह चली जायेगी। परन्तु यदि 'मैं'के रूपमें ही कभी मुक्ति मिल जाय माने 'मैं'का निज स्वरूप ही मुक्ति हो तो मुक्ति छुड़ाये भी नहीं छूट सकती। तुम कहो कि हे मुक्ति, हम तुमको तिजोरीमें रखते हैं, हम तुमको पेरिस भेजते हैं! लेकिन; न मुक्ति पेरिस जायेगी, न स्वर्ग जायेगी, न वैकुण्ठ जायेगी। और, कहो कि मुक्ति, तुम दो दिनके बाद आना! सो यह भी वह नहीं मानेगी। तुमको छोड़कर कहीं नहीं जायेगी। इसलिए, जो 'है' में मुक्ति मिलती है, वह तो बिलकुल मानसिक है और जो 'तुम हो'में मुक्ति मिलती है—वह दोनोंकी इच्छासे है और जो 'मैं'में मुक्ति मिलती है—वह बिलकुल स्वतन्त्र है। तब विचारकी आवश्यकता हो गयी न कि मुक्तिके स्वरूपका ज्ञान होवे कि क्या है मुक्ति? इसलिए राजा जनकने यह प्रश्न किया—

'**कथं ज्ञानमवाप्नोति**'—कोई जिज्ञासु, कोई अधिकारी पुरुष ज्ञान कैसे प्राप्त करता है? फिर पूछते हैं कि अच्छा, ज्ञान होनेपर मुक्ति कैसे होती है? वैराग्य कैसे मिलेगा? आप कृपा करके मुझे बतलाइये!

'मुक्ति' माने छुटकारा। यदि तुम खुद किसी चीजको, 'यह'को या 'वह'को या 'तुम'को पकड़कर रखोगे या मैं-पनेको ही किसी भावमें बाँधकर रखोगे तो वही दशा हो जायेगी—जैसे हाथसे तो घड़ीको पकड़े रखें और मुक्ति-मुक्ति चिल्लाएँ। इसलिए, मुक्तिको जानना जरूरी है कि वह क्या है? और, यह तब होगा कि जब सम्बन्ध त्याग रूप वैराग्य हमारे हृदयमें आवे! यह आजकल आध्यात्मिक उपदेशके नामपर जो चेला बनानेके बाजारू ढंग चलते हैं, वह दूसरी चीज है और मुमुक्षा दूसरी चीज है, जिज्ञासा दूसरी चीज है। वह अपने भीतर अपने आपको जाननेकी तीव्र

लालसा है, अभीप्सा है। अपने आपको जाननेके लिए प्यास है। झंडा बाँधकर दूसरेको दिखानेके लिए मुक्ति नहीं चाही जाती है।

अब अष्टावक्रजी महाराज बोले—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज॥ 1.2

अष्टावक्रमुनिका समाधान

साधन निरूपण (क) :

मुक्तिच्छिसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज॥ 1.2

मेरे प्यारे पुत्र! 'तात' का अर्थ होता है, जो वंशको फैलावे। तो चाहे बापको तात बोलो, चाहे चाचाको बोलो, चाहे भाईको बोलो और चाहे बेटेको बोलो। जैसे बोलते हैं न कि तुम तो हमारे वंशको बढ़ानेवाले हो; वैसे ही ज्ञानके वंशको जो बढ़ानेवाला हो; उसको 'तात' बोलते हैं। अष्टावक्र बोले कि बेटा, तुम मुक्ति चाहते हो? 'हाँ, चाहते हैं।' तो सुनो—

पहली बात यह है कि किसी चीजने तो तुमको बाँधा नहीं है; तुम ही किसी-किसी चीजके साथ बँध गये हो। तो किसके साथ बँधे हो? बोले कि **'विषयान् विषवत्त्यज'**। संस्कृत भाषामें 'विषय' शब्दका अर्थ होता है, **बन्धनका हेतु**। *'विषीयन्ते जनाः एभिः इति विषयः' 'विषीणवन्ति जनान इति विषयः'* शीञ् बन्धने धातुसे 'वि' उपसर्ग लगकर विषय शब्द बनता है। विषय माने यही संसारकी चीजें—स्त्री, पुत्र, धन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। ये अपनेसे बाहर जो चीज हैं, इनका नाम होता है 'विषय'।

यह महाराज लोग पाँच रुपया दान कर देते हैं और चाहते हैं कि हमको मुक्तिका खिताब मिल जाय। तो पाँच रुपया दानके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। **'विषयान् विषवत्त्यज'**—जैसे विषके सेवनसे, जहर पीनेसे आदमीका शरीर मर जाता है, इसी प्रकार विषयोंका सेवन करनेसे, विषयोंमें प्रेम करनेसे मनुष्य बन्धनमें फँसा है। यह नहीं कि पाँच लाख

रुपया आसनके नीचे दबाकर बैठे हैं और बोलते हैं कि हम एक ही चीज खाते हैं, हम तो दो ही चीज खाते हैं। बोलते हैं कि हम तो पुराना ही कपड़ा पहनते हैं। अब महाराज वे लाखों तो दबाकर बैठे हैं कि आगे जो हमारा दुश्मन है, उसके हाथमें यह न लग जाय, काम आवे और स्वयं भगतराज भी बने रहें और मुक्तराज भी बने रहें। तो ऐसे कोई मुक्तराज नहीं बनता है और न ऐसे भगतराज बनता है।

अत: जैसे विष पीनेसे अनर्थ होता है, इसी प्रकार संसारके इन विषयोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे अनर्थ होता है। जब तुम स्वयं सम्बन्ध बना रहे हो और बनाना चाहते हो, बनाये रखना चाहते हो और फिर चर्चा करते हो मुक्ति की!! तो नारायण, पहली शर्त यह है कि '**यथा अनर्थ करत्वात्**'—जैसे अनर्थकारक होनेके कारण विष छोड़ा जाता है, इसी प्रकार ये विषय अनर्थकारी होनेसे इन्हें छोड़ दो!

देखो, देह भी विषय है, मन भी विषय है। सो साक्षीभास्य दृश्यमात्रका परित्याग करो।

बोले कि भाई यह तो ठीक है। त्याग-त्यागकी बात तो बहुत है; कुछ ग्रहण करनेकी भी बात है क्या? हाँ, ग्रहण करनेकी बात लो—

क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज।

जैसे अपनेको अमर होनेके लिए अमृत पीया जाता है, इस तरहसे हम तुमको एक अमृत बताते हैं। यह अमृत-रस है, अमृत-बूटी है। यह अमृत औषध है। इसका पान करो। यह क्या है? यह है—क्षमा, सरलता, दया, सन्तोष और सत्य। इनको अमृतके समान धारण करो।

अब देखो, जैसे धरती है, वह सबको क्षमा करती है। थूँक दो, मल त्यागकर दो, मूत्र त्याग कर दो, गड्ढा खोद दो; परन्तु पृथिवी किसीको दुःख नहीं देती है, उससे बदला नहीं लेती है। अब यह ब्रह्म क्या है? वह पृथिवी है। '**इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु**'। यह पृथिवी साक्षात् ब्रह्म है। ब्रह्मका ही नाम पृथिवी है। देखो, पृथिवी स्थान है और ब्रह्म अधिष्ठान है। तो जैसे रस्सीरूप अधिष्ठानमें अध्यस्तकी चाहे जो रूप-रेखा हो, उसमें आप यह

कल्पना करो कि यह साँप है, यह काट लेगा और यह कल्पना करो कि यह माला है—सो पहनने लायक है; परन्तु रस्सी ज्यों-की-त्यों है। इसी प्रकार ब्रह्ममें चाहे कोई कैसी भी कल्पना करे, वह अधिष्ठान है और अध्यस्तकी किसी भी रूप-रेखाको वह बर्दाश्त करता है, सहन करता है। सो यदि उस ब्रह्मसे आपको एक होना है, तो पहले दुनियाके अच्छे-बुरेको सहन करनेका अभ्यास कीजिये। दण्ड और तारीफसे बचिये। क्षमा कीजिये। पृथिवीसे एक होना क्षमा है। ब्रह्मसे एक होना क्षमा है। अन्तमें एक दिन ब्रह्मसे एक होकर आपको समस्त अध्यस्तको क्षमा करनी पड़ेगी। क्योंकि, ब्रह्म क्षमा करता है। यह उसका स्वभाव है, उसका स्वरूप है। तो आजसे ही आप अभ्यास शुरू कर दीजिये कि अपराधियोंको क्षमा कीजिये।

दूसरी बात है, सरलता। 'आर्जव' माने सरलता, ऋजुता। यह क्या है? अच्छाजी, आप मायाको छोड़ना चाहते हैं कि नहीं? यदि आप मुक्ति चाहते हैं और ब्रह्मसे एक होना चाहते हैं तो आपको मायाका तो त्याग करना पड़ेगा। और, यदि आप अपने जीवनमें कपटको रखेंगे और मायासे छूटना चाहेंगे तो इसमें कुछ बेवकूफीकी बात लगती है कि नहीं? व्यावहारिक कपटको तो आप अपने जीवनमें रखना चाहें और परमार्थमें भांसमान जो माया है, उससे छूटना चाहें तो कैसे छूटेंगे भाई? मायाका ही तो एक हिस्सा है कपट। कं ब्रह्म, खं ब्रह्म। *'कं पटवत् आवृणोति इति कपटः'*—'कपट'को कपट क्यों कहते हैं? जैसे कपड़ेसे किसी चीजको ढँक दिया जाय, तो वह उसे आवृत कर देता है, वैसे ही यह कपट ब्रह्मको आवृत कर देता है। अब महाराज अपने जीवनमें तो तुम रखो कपट और यह सोचो कि जो आत्मा ब्रह्म है, वह निर्माय हो जाय, निष्कपट हो जाय। तो यह नहीं हो सकता।

अब तीसरी बात देखो! ब्रह्म जो है, वह सबका निरुपाधिक हित है। तो 'दया'का अर्थ क्या है? बिना किसी वासनाके, बिना किसी कामनाके, बिना कुछ चाहे ब्रह्म जैसे सबका आत्मा है और सबकी भलाई करता है, सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है। बिच्छूमें चेतन होकर कौन चल रहा है?

साँपमें चेतन होकर कौन रेंग रहा है? करेलेमें कड़वाहट कौन है? अंगूरमें मिठास कौन है? सूर्य-चन्द्रमामें चमक कौन है? समुद्रमें खारापन कौन है? धूलिका कण कौन है? ब्रह्म है। वह बिना किसी कामनाके, बिना कुछ चाहे सबका हित सबका आत्मा, सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है। अतः आप भी बिना कुछ चाहे सबका भला करो, इसका नाम 'दया' है। निरुपाधिक हितको ही 'दया' कहते हैं।

चौथी बात है, 'तोष'। 'तोष' माने अपने आपमें सन्तुष्ट। अपने स्वरूपमें ही सुखी रहना, यह आत्मधर्म है। हम जैसे हैं, जो हैं, जब हैं, जहाँ हैं—सुखी हैं कि नहीं? तो यह सन्तोष आत्म-सुख है, आत्म-धर्म है।

पाँचवी बात है, सत्य। यह भी आत्म-धर्म है। क्यों? क्योंकि, यह अबाध्य है। कोई चीज एक जगह हो और दूसरी जगह न हो तो वह बाधित होती है, एक समयमें हो और दूसरे समयमें न हो तो वह बाधित होती है; एक आकारमें हो और दूसरे आकारमें न हो तो वह बाधित हो जाती है। आकार स्वयं बाधित हो जाता है-कभी रहता है और कभी नहीं रहता है। तो अबाधितत्व जो है, इसका नाम 'सत्य' है। जिसकी सत्ता कभी खण्डित न हो, उस अखण्ड सत्यका नाम 'सत्य' है। तो; यह तो आत्माका स्वरूप है।

तो नारायण, इन्हींका नाम है 'पीयूष'। जैसे जूस होता है न; वैसे पीयूषमें 'पी' माने पीओ और यूष माने जूस। तो यह पीने योग्य है। जैसे अमृत पीते हैं, वैसे इन पाँचों बातको धारण करो। क्योंकि, इनसे आपको आत्माका ज्ञान होगा। अतः इनका सेवन करना चाहिए और संसारमें जो विषय हैं, जो अपनेसे अन्य हैं—वे हमको पकड़कर अपनेमें बाँधनेवाले हैं, सो विषके समान हैं, अनर्थ-हेतु हैं-इसलिए उनका परित्याग करना चाहिए।

इस प्रकार साधन-निरूपण करते हुए अष्टावक्र मुनि उपदेश प्रारम्भ करते हैं—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोष सत्यं पीयूषवद्भज॥ 1.2

●

प्रवचन : 2

साधन निरूपण (ख) :

कल आपको सुनाया था कि संस्कृत भाषा में 'तात' शब्दके जोड़का दूसरा कोई शब्द नहीं है। अपने बापको भी 'तात' कह सकते हैं, अपने बेटेको भी कह सकते हैं और अपने भाईको भी कह सकते हैं। 'तात'का अर्थ होता है, जो वंश-वृद्धि करे। तो गुरुका वंश शिष्य बढ़ाता है। यह नहीं कि बहुत सारे शिष्य हो गये तो वंश बढ़ गया। उसकी जो ज्ञानकी परम्परा है, उसको शिष्य बढ़ावे तो उसको 'तात' बोलते हैं। यदि शिष्य बहुत जानकार भी हो जाये और सद्गुण सम्पन्न न होये तो वह गुरुवंशकी वृद्धि नहीं कर सकता। क्योंकि, यदि मुमुक्षु अथवा जिज्ञासु सद्‌गुणी नहीं होगा तो उसको देखकर दूसरेके मनमें इस मार्गमें चलनेकी इच्छा नहीं होगी। लोग कहेंगे कि इतना वेदान्त पढ़ा, ऐसे गुरुका चेला हुआ—लेकिन कितना बुरा है। दुराचारी है, बेईमान है। तो वेदान्तकी वंश-परम्परामें बाधा पड़ेगी। इसलिए, 'तात'का अर्थ होता है—हमारे स्नेह भाजन, तुम हमारे वंशमें ऐसे पैदा हुए हो कि तुमको देख-देखकरके लोगोंके मनमें वेदान्तकी शिक्षा प्राप्त करनेमें रुचि होगी। लोग कहेंगे कि ओ-हो, हम भी ऐसे बन जायँ। और, नहीं तो वंश बिगाड़नेवाले भी होते हैं। इतना सत्संग किया और चोर हो गये, बेईमान हो गये, स्त्री-लम्पट हो गये। इनको देख लोग कहेंगे कि वेदान्त पढ़ने कौन जाय!!

तो नारायण, 'तात' शब्दका ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि जिसको देख-देखकर, जिसके जीवनको देख-देखकर लोगोंकी रुचि वेदान्तके मार्गमें बढ़े—उसको 'तात' बोलते हैं।

अब दूसरी बात पर ध्यान दो—'**मुक्ति मिच्छसि चेत्**' यहाँ 'चेत्' शब्दका अर्थ यह है कि दुनियामें अधिकांश लोग मुक्ति नहीं चाहते हैं। कोई चाहते हैं कि हमको धन मिल जाय, हमको धर्म मिल जाय, हमको भोग मिल जाय, हमको कुर्सी मिल जाय, यश मिल जाय अथवा ईश्वर मिल जाय। लोग कुछ-न-कुछ चाहते हैं, परन्तु मुक्ति नहीं चाहते हैं।

'मुक्ति' माने होता है छुटकारा। *'मोचनं मुक्तिः'*। न हम किसीके साथ बँधे और न कोई हमारे साथ बँधे। क्योंकि, बन्धनका स्वभाव यह है कि वह एकको नहीं बाँधता है, दो को बाँधता है। जैसे हम फूलको मुट्ठीमें लेकर बाँध लें तो सिर्फ फूल ही नहीं बँधेगा, वह हमारी मुट्ठीको भी बाँध लेगा। तो यदि आप मुक्ति चाहते हैं तो जरा अपनी रहनी पर ध्यान दीजिये। आधी मुक्ति और आधा बन्धन—ऐसे नहीं चलता है। मुक्ति चाहनेवाले विरले होते हैं।

तो 'चेत्' माने यदि आप मुक्ति चाहते हैं तो माने मुक्ति चाहनेवाले बहुत कम होते हैं। यह लाउडस्पीकर लगाकर या रेडियो पर या गाँवमें डोंडी पीटनेसे कोई मुक्ति चाहनेवाला नहीं हो जाता है। आप किसी भी वस्तुके साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं कि नहीं?

एक बात और आपको थोड़ी-सी टेढ़ी और थोड़ी-सी सीधी करके सुनाते हैं कि एक तो समाधिका मार्ग है। तो देहमें 'मैं' करके आप मूढ़ हो रहे हैं। देहमें 'मैं'को मिला दिया तो देह रह गया और 'मैं' खो गया। और फिर जरा देहसे अपने आपको ऊपर किया कि नहीं देह नहीं, मैं हूँ। माने 'यह देह मैं हूँ'—इसमें देहको छोड़ दो और 'मैं हूँ'को रख लो। तो 'यह देह'के साथ मिल जाना—यह तो जड़ता है और देहसे न्यारा 'मैं हूँ' माने देह विशिष्ट मैं हूँ—इसमें थोड़ी-सी जड़ता है और थोड़ी-सी चेतनता है और दोनों एकमें मिली हुई हैं। और, इस 'मैं हूँ'से ऊँची स्थिति है—'है'। अब देखो, यह तीसरी भूमिका हुई 'है'।

तो देहके साथ मिले रहना—यह तो संसारी स्थिति हुई। परन्तु,

देहसे अतिरिक्त मैं हूँ—यह सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तर्गत एक प्रकारकी अस्मितानुगत समाधि तक इसकी गति हो सकती है। सूक्ष्म करते-करते समग्र वृत्तियोंको छोड़ दो। मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ। केवल हूँ, हूँ, हूँ। उसमें भी शब्दको छोड़ दो। तो यह भी सम्प्रज्ञात-समाधिकी एक स्थिति हो सकती है। इसमें यदि 'तुम हो'—ऐसा रहेगा, तब तो वितर्कालम्बन, विचारालम्बन समाधि रहेगी। आनन्दालम्बन समाधि भी हो सकती है। परन्तु, स्थूल विषयको छोड़कर, आनन्दको भी छोड़कर 'मैं हूँ', 'मैं हूँ', 'मैं हूँ'—यह शब्द रहे कि न रहे, परन्तु, अनुभूति होय तो उसको भी 'सम्प्रज्ञात समाधि' बोलते हैं।

अब देखो, 'मैं हूँ, मैं हूँ' खो गया और केवल 'है' रहा। उसमें भी 'है' शब्द नहीं है, 'है' वृत्ति नहीं है। तो यह असम्प्रज्ञात समाधिकी दशामें पहुँचानेवाली बात हो जायेगी।

देहके साथ 'है' होना जड़ता है और 'तुम'को भीतर-ही-भीतर देखते रहना—इसमें अपनी चेतनता भी है और 'तुम'की जड़ता भी है। माने जड़ विशिष्ट चेतन हुआ। अब जहाँ केवल 'है' मात्र है, वहाँ जड़ता और चेतनताका विवेक स्थितिमें नहीं है। इसको अधिक-से-अधिक 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहा जा सकता है। वैसे शास्त्रकी दृष्टिसे यह असम्प्रज्ञात नहीं है। अभी वेदान्त प्रारम्भ नहीं हुआ। यह 'है' 'है' जो है, यह वेदान्त नहीं है। वह तो जड़ताकी एक निष्क्रिय सत्ता है और उसमें तुमने अपने 'मैं'को भुला दिया। तो असलमें यह व्यक्तिगत स्थिति है। अब इसके बाद एक प्रश्न उठता है कि तुम्हारा 'मैं' क्या होगा? इस 'है'में तुम्हारा जो चेतन आत्मा है, वह क्या हो गया? तो यदि 'है'के साथ एक हो गया तो चेतनता लुप्त हो गयी और यदि वह 'है'को जानता है तो 'द्रष्टा' हो गया और जानता है तो द्वैत है, अद्वैत नहीं है।

तो चेतन जो 'द्रष्टा' है, वह 'है' को जानता है कि नहीं जानता है? यदि जानता है, तब तो द्वैत हो गया और यदि नहीं जानता है तो अपनेको खो बैठा। तो इस 'है' की अपेक्षा इसमें सत्ता प्रधान हो गयी और चेतन

गौण हो गया। इसलिए समाधिको वेदान्ती लोग या योगी लोग भी अंग मानते हैं, साधन मानते हैं। 'समाधयः अष्टौङ्गानि'। योग दूसरी वस्तु है और अंग दूसरी वस्तु है। योग तो है 'वृत्तिनिरोध' और समाधि उसका अंग है। तो कोई योगको असम्प्रज्ञात-समाधिरूप मानते हैं और कोई समाधिको अंग मानते हैं और वृत्ति-निरोधको मुख्य मानते हैं। परन्तु योग क्या है—'**तदाद्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं**'—'द्रष्टा'का स्वरूपमें जो अवस्थान है, उसको योग बोलते हैं।

अच्छाजी, अब देखो कि यदि तुम सत्ताको देखते हो तो द्वैत है और सत्ताको नहीं देखते हो तो तुम्हारी चेतना आखिर गयी कहाँ? तो चेतना जहाँ सत्तामें लीन हो जाती है, वहाँ जड़वादकी प्रधानता हो जाती है। और जहाँ जड़ताको छोड़कर चेतन द्रष्टा बिलकुल अलग हो जाता है तो यदि 'सत्ता'की प्रतीति हुई, तब तो द्वैत है और 'सत्ता'की प्रतीति नहीं हुई तो वह चिन्मात्र हो गया। माना ईश्वर-कृपासे उसको चिन्मात्र। परन्तु, उसकी अद्वितीयताका बोध है कि नहीं? नहीं है तो बीज रूपसे द्वैत वहाँ बना रहा।

तो 'यह'में अथवा 'मैं'में 'है'का जो लीन होना है—वह लीनता वास्तविक तो होगी नहीं। फिर-फिरसे बाहर निकलेगी। तो यहाँ 'सत्ता' होगी विशेष्य और 'मैं' हो जायगा विशेषण। अब एक दूसरी स्थितिकी कल्पना करो कि हम यह नहीं कहते हैं कि 'यह है', ऐसा बोलते हैं कि 'तुम हो'। तो यहाँ 'सत्ता' हो जायगी विशेषण और 'चेतन' हो जायेगा विशेष्य। रामानुजाचार्यादिका मत इस ढंगका है।

अच्छा भाई, जैसे सत्ताके लिए सन्मात्र 'है' बोलते थे, वैसे चेतनके लिए चिन्मात्र बोलो। अभी वेदान्तकी चर्चा नहीं है। जड़के साथ हम एक हो गये हैं कि जड़से विविक्त होकर जड़को देख रहे हैं कि हम अकेले हैं? तो यह जो अकेला चिन्मात्र है, यहाँ जड़ताका अभान ही हुआ है, भेदका अभान ही हुआ है, अद्वय-बोध नहीं है। इसलिए जैसे पहले 'है' गौण है और 'हो' मुख्य है और 'हूँ' जो है,

वह परम मुख्य है। वैसे समाधिकी कक्षाके बाद 'है' गौण है और सत्तासे युक्त 'मैं हूँ'—यह मुख्य है और 'मैं ही हूँ'—यह परम मुख्य है। परन्तु, फिर भी वेदान्तको जो अपना काम अभी करना है—अज्ञानको मिटाना। वह अज्ञान, जो सुषुप्तिमें भी रहता है, समाधिमें भी रहता है—उस अज्ञानको मिटानेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए, अज्ञानकी निवृत्तिके लिए, वेदान्तकी आवश्यकता रह जाती है। 'वेदान्त' माने जीते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते रहनेवाली एक व्यावहारिक वस्तु। उसमें सन्मात्रता अथवा चिद्विशिष्ट सन्मात्रता अथवा सद्-विशिष्ट चिन्मात्रता अथवा पृथक् चिन्मात्रता—ये परमार्थ नहीं हैं। क्योंकि पार्थक्य विद्यमान है। इसलिए 'चेत्' पदका अर्थ यह है कि क्या आप मुक्ति चाहते हैं? असलमें मुक्ति चाहना ही बड़ा मुश्किल है।

तो नारायण, 'तात' शब्दका अर्थ है कि आपका उज्ज्वल चरित्र देखकर जो वेदान्तके प्रेमी नहीं हैं, उनके मनमें इच्छा हो कि हम भी वेदान्ती हो जायँ तो हमारा जीवन कितना सुन्दर होगा, भाव कितना सुन्दर होगा! कैसी विलक्षण मुक्ति होगी!! और, वेदान्त पढ़कर चोर हो गये, बेईमान हो गये, बदमाश हो गये तो दूसरे लोगोंकी जो रुचि है, वह नष्ट हो जायेगी और वेदान्त-परम्पराका भंग हो जायेगा। और, 'चेत्' शब्दका अर्थ यह हुआ कि मुक्तिकी इच्छा जो है, वह दुर्लभ है।

अच्छा, आप मुक्ति चाहते हैं? किससे मुक्ति चाहते हैं? आपको ढूँढे नहीं मिलेगा। जब स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज वृद्ध बदरिमें मरनेके लिए तैयार हुए तो एक दिव्य रूपवाली माताने आकर पूछा, 'आपका बन्धन कहाँ है, दिखाइये'। 'आप किस बन्धनसे मुक्ति चाहते हैं?' 'पत्नी है?' 'नहीं'। 'पुत्र है?' 'नहीं'। 'मकान है?' 'नहीं'। 'जात-पात, गद्दी, आश्रम कुछ है क्या?' बँधे कहाँ हैं कि उससे मुक्ति चाहते हैं? 'जरा आप बन्धन दिखाइये तो?' और, महात्माने एकाग्र मनसे विचार करके देखा कि हमारा तो कहीं बन्धन नहीं है। उस माताने कहा कि जब बन्धन नहीं है तब मुक्ति कैसी?

तो असलमें लोग बन्धन चाहते हैं। धन चाहिए, स्त्री चाहिए, पुत्र चाहिए, मकान चाहिए, यश चाहिए। कोई-न-कोई अप्राप्त वस्तु चाहिए। स्त्रीको पुरुष चाहिए—इसीका नाम बन्धन है। क्योंकि, स्त्री अनुभव करती है कि हमारे अन्दर पुरुष नहीं है। पुरुषको स्त्री चाहिए। क्योंकि पुरुष यह अनुभव करता है कि हमारे अन्दर स्त्री नहीं है। गरीबको धन चाहिए। निर्बुद्धिको बुद्धि चाहिए। माने लोग अपने पास जिस वस्तुका अभाव अनुभव करते हैं, उसको चाहते हैं।

तो क्या तुम और कुछ नहीं चाहते? यह जो संसारके बन्धन हैं, इनसे मुक्ति चाहते हो?

एक बात देखो कि आप सम्बन्ध चाहते हो कि नहीं? रुपया मेरा, मकान मेरा, परिवार मेरा, शरीर मेरा! जब आप मेरेपनसे प्रसन्न हैं, किसी भी वस्तुको मेरी बनाकर यदि आप प्रसन्न हैं तो आप मुक्ति नहीं चाहते, बन्धन चाहते हैं तो पहला कुल्हाड़ा आपके सम्बन्धकी इच्छा पर लगता है। क्या आप मुक्ति चाहते हैं?

पहले तो आपकी तारीफ है कि आप बहुत अच्छे हैं जो वेदान्त सिद्धान्तका संवर्द्धन करना चाहते हैं। दूसरी बात यह रही कि क्या आप इतने भाग्यशाली हैं कि आपके मनमें मुक्तिकी इच्छा हो गयी है? धन्य हैं, धन्य हैं। अब तीसरी बात लो—

अच्छाजी, यदि आप सम्बन्ध नहीं चाहते हैं तो '**विषयान् विषवत्त्यज**।' अब त्याग और ग्रहणका दो विभाग करते हैं। मनुष्यको अपने जीवनके लिए कुछ छोड़ना पड़ता है और कुछ पकड़ना पड़ता है। जैसे किसी लड़कीको वरमाला पहनानी हो तो सचमुच ही उसके मनमें एक बार आवेगा कि यह कि यह? माने किसको छोड़ना और किसको वरमाला पहनाना।

'**विषयान् विषवत्त्यज**'—'विषय' शब्दका अर्थ है, विषीणवन्ति—*विशेषेण बध्नन्ति इति विषयः।* जो विशेष रूपसे बाँध ले, उनका नाम 'विषय'। हमको याद है कि हमारे गाँवसे कोई डेढ़ मील दूरी पर गाँजेकी

दूकान थी। तो जिनके पास पैसा नहीं होता, वे भा चार-पाँच बजे शामको दो-दो मील चलकर गाँजेकी दूकान पर पहुँच जाते। तो क्या होता? वहाँ पैसेवाले लोग आते, गाँजा खरीदते, पीते और उनको भी एक-आध चिलम पीनेको मिलती। वह दम खींचते महाराज! अब वह गाँजेकी दमके साथ इतना बन्धनं हो गया कि सायंकाल सारा काम छोड़कर गाँजेकी दूकान पर पहुँचे। तो महाराज, विषय सेवनसे इतने बँध जाते हैं। जहाँ कुत्तेको रोज समयसे रोटी मिलती है, वहाँ बिना घड़ी देखे ही वह स्वयं ठीक समय पर पहुँच जाता है। यही है, *विषीयन्ते जनः एभिः।* संसारी लोग अपने-अपने विषयोंके चक्करमें ऐसे बँध गये हैं कि उनको तो बस वही चाहिए! इसीसे विषयको बन्धन कहते हैं। '*विषं यान्ति*'—परिणाममें ये विषय विषको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् जैसे विष भले ही खाते समय मीठा एवं स्वादु लगे, परन्तु अन्तमें वह मृत्युका हेतु होता है, इसी प्रकार यह विषयोंके प्रति जितनी प्रीति है, यह सब अन्तमें विषमें ही जाकर परिणत हो जाती है।

इसलिए, त्याग किसका? त्याग क्या है? संसारमें ऐसी कोई वस्तु कोई व्यक्ति न हो, जिसके हम पराधीन हों। व्यसनकी बात दूसरी है। इसलिए यह पहले मीठे लगनेवाले और बादमें विषके समान नाश करनेवाले जो संसारके विषय हैं, इनका त्याग करना चाहिए।

तो, वेदान्त परम्पराकी वृद्धि हो, एक और मुक्तिकी इच्छा दुर्लभ है, सो आपको हो गयी—दो और परित्याग करना है विषयोंका-तीन। चौथी बात यह कही गयी कि आपको जीवनमें सद्गुणोंका विकास करना है। यदि आप दुनियामें सबसे लड़ाई ही करते रहोगे तो आप अपनेको तो भूल ही जायेंगे। जने-जनेसे भिड़ते जाना इसका नाम आत्मरक्षा नहीं है। यह दुनियामें जो लोग ऐसा समझते हैं कि हम बातचीतमें इनको हरा देंगे तो हम जीत जायेंगे, काम-धन्धेमें इनको हरा देंगे तो जीत जायेंगे—वे बिलकुल गलत हैं। एक बार जिसको आप हरा दोगे वह समय आनेपर बदला लेगा। भूलता नहीं है। किसीको कोई वाणीकी चोट करे या

बाणकी चोट करे या नीचा दिखावे तो वह भूलता थोड़े ही है। वह तो जब समय आवेगा, तब वह सौ सुनारकी और एक लुहारकी। भले ही तुम किसीका तिरस्कार कर लो, किसीको नीचा दिखा लो और समझ जाओ कि हमने आज बच्चूको वह मुँहकी खवाई है—चाहे जितना सोच लो। लेकिन यह मनुष्य जितना भी काम करता है, वह काम उसके साथ जुड़ता है। उसके अन्त:करणमें जुड़ता है। और, जुड़ते-जुड़ते-जुड़ते उसके हृदयमें ही एक दिन ऐसा भभकता है कि आग लग जाती है। इसलिए, जैसे रस्सीको कोई साँप समझे और कोई माला समझे और वह ज्यों-की-त्यों रहती है; परब्रह्म परमात्माको कोई नाशवान् समझे, दृश्य समझे, सद्वय समझे तो वह जैसे रहता है, वैसे ही केवल क्षमा जीवनमें होनी चाहिए। बिना क्षमाके कोई अपने मार्गको पार कर ही नहीं सकता। जो, जिसके साथ भिड़ जायेगा, वह उसीकी समान सत्तामें रह जायेगा।

यदि रास्तेमें एक आदमी गाली दे और तुम भी उसको गाली देने लगो तो उसके बाद मारपीट होगी। तब उसके बाद गाँवके लोग इकट्ठे होंगे, तब फिर पुलिस आवेगी और तुम्हारे दो-तीन घंटे तो ऐसे ही बीत जायेंगे। फिर जेलमें भी जाना पड़ सकता है। लेकिन, यदि एकने गाली दी और दूसरा सुनकर आगे बढ़ गया तो एक मिनट भी उसके रास्तेमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं आ सकती।

तो यदि आपको सत्यके मार्गमें बढ़ना है तो संसारकी बातोंकी ओरसे ध्यान हटाकर, उनको क्षमा करते हुए चलना पड़ेगा। और, यदि आप व्यवहारमें ब्रह्मवत् क्षमाशील न बनेंगे तो आगे नहीं बढ़ सकते।

दूसरी बात है, 'आर्जव'। 'आर्जव' माने सरलता। जीवन सरल होना चाहिए, बिलकुल आइनेकी तरह। तो ब्रह्म निर्माय है। यह जितनी महती होती है, जितनी मठेश्वरी होती है, जितनी मण्डलेश्वरी होती है—यह सब माया विशिष्ट ब्रह्ममें ही होती है। ईश्वरत्व ही मायाविशिष्टमें होता है। तो संतपना अवधूतपना जो है—अलग है। किस चन्दनका नाम संत होता

है, किस कपड़ेका नाम संत होता है—सो नहीं। किस सुन्दरताका ऐश्वर्यका नाम संत होता है–सो नहीं। 'संत' माने जो किसी भी प्रकारसे अपने भीतर मायाको स्वीकृति न दे। 'माया' माने छल, कपट, जादूका खेल। यदि आप व्यवहारमें मायाको आश्रय नहीं दोगे तो मायारहित ब्रह्मके साथ आपकी एकता हो जायेगी।

एक श्रीमतीजी थी, वह अपने पतिसे बहुत प्रेम करती थीं। लेकिन जब उनके पास मिलनेके लिए जातीं तो अपने शरीर पर एक लोहेका कवच पहनकर और उसमें ताला लगाकर और ताली तिजोरीमें बन्द करके, फिर अपने पतिसे मिलनेके लिए जातीं। तो ऐसे नहीं। यदि आप आवरणरहित ब्रह्मसे मिलना चाहते हैं तो स्वयं अपनेको आवृत करके नहीं मिल सकते। अपनेको बिलकुल नंगा करना पड़ता है। जैसे परमात्मा निरावरण, वैसे आत्मा निरावरण और निरावरण निरावरण एक। और, यदि जीवनमें माया ही रखनी है तो ब्रह्म भी अपनी माया नहीं हटावेगा। तो नारायण, सरल जीवन होना चाहिए।

'दया' माने जैसे अपनी भलाई चाहते हैं, वैसे सबकी भलाई चाहना। निरुपाधिक हित और आत्मतुष्टि, आत्मसन्तोष, आत्मानन्दकी अनुभूति और सत्यभाषण, सत्याचरण होना चाहिए। जैसे ब्रह्म अबाधित है, कभी मिथ्या नहीं होता है, इसी प्रकार बिलकुल सत्यमें स्थित होकर रहना।

मेरे प्यारे, इन सद्गुणोंको धारण करके तब वेदान्तके मार्गमें चला जाता है। पहले महाराज रीति यह थी। हम लोगोंको सभामें सुननेके लिए वेदान्त नहीं मिलता था। हम दस मील, बीस मील पैदल चलकर जंगलमें पेड़के नीचे किसी अवधूतके पास जाते थे। और, वे महाराज पाँव फैलाकर बैठे हुए हैं कि मुँह फेरकर बैठे हुए हैं। तो इन्तजार करनी पड़ती थी कि कब ये हमारी ओर देखेंगे! और, कभी बात करते थे और कभी नहीं करते। माने जो वेदान्तकी शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी आकांक्षा जब तीव्र होती है और योग्यता होती है, तब वेदान्त समझमें

आता है। अब समझानेवालेकी अच्छा तो बड़ी तीव्र है कि सब लोगोंको वेदान्त समझा दें! तो वासनावान् कौन हुआ? श्रोता हुआ कि वक्ता हुआ? वक्ता हुआ वासनावान् कि हम सब लोगोंके गलेके नीचे वेदान्त उतार दें। अब यह जो वासनावान् वक्ता वेदान्तका निरूपण करने लगेगा तो वह वेदान्तके साथ थोड़ी-थोड़ी वासना भी सबके हृदयमें भेज देगा। वेदान्त तो मिलेगा ही, वासना भी मिलेगी। इसलिए, वक्ता जब निर्वासन होता है और श्रोता, और सब वासनाओंको छोड़कर, केवल वेदान्त श्रवणकी वासनाको लेकर जब उस जीवन्मुक्त महापुरुषकी शरणमें पहुँचता है, तब उसको वेदान्तका ग्रहण होता है। और बाकी सब जो हैं—आप नाटककी तरह देख आते हो, आपका मनोरंजन है; आप सिनेमाकी तरह देख आते हो, आपका मनोरंजन है। मनोरंजन भी आपने अच्छा चुना इसके लिए आपको बधाई!

तो नारायण, आपके मनमें एक सच्ची आकांक्षा जगे। एक सच्ची वेदना, एक सच्ची रसानुभूतिकी प्यास आपके हृदयमें जगे!

●

प्रवचन : 3

विषयत्याग कैसे हो?

आप कहते हैं कि विषयोंका परित्याग करना। परन्तु विषयोंका परित्याग करना तो सम्भव नहीं है। क्यों? बोले कि पंचभूतका बना हुआ यह शरीर है। तो, खानेके लिए अन्न चाहिए और पीनेके लिए पानी चाहिए और शरीरमें गर्मी बनी रहे, इसके लिए उष्मा चाहिए और साँस लेनेके लिए हवा चाहिए और पेटमें अनाज अँटे और मुँहमें चुगला जाय और कानमें शब्द घुसे, नाकमें गन्ध घुसे—इसके लिए छेद भी चाहिए। माने आकाश भी चाहिए। सो बिना पंचभूतके तो इस दैहिक जीवनका निर्वाह हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें आप जो कहते हैं कि विषयोंका परित्याग कर दो तो क्या शब्दके बिना शरीर रहेगा? क्या रूपके बिना शरीर रहेगा? क्या रस, गन्धके बिना शरीर रहेगा? पंचभूतका परित्याग तो सम्भव ही नहीं है!!

तो बोले कि आओ, अब इस बातपर थोड़ी अकल लगाकर विचार करें कि आखिर हम हैं क्या? तब विषय-त्यागका जो राज है, जो रहस्य है—वह खुलेगा। 'विषयान् विषवत्त्यज'—यह विषवत् विषयोंका परित्याग कर दो, यह बात विवेकके बिना कैसे मालूम पड़ेगी? इसके लिए अगला श्लोक बोलते हैं—

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौन वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥ 1.3

यहाँ 'पृथिवी'का अर्थ है, पृथिवी-विकार, 'जल'का अर्थ जल-विकार, 'अग्नि'का अर्थ है अग्नि-विकार, 'वायु'का अर्थ है वायु-विकार और 'द्यौ'का अर्थ है आकाश-विकार। ये पाँच विकार नहीं हैं। क्योंकि, असलमें यह देहके घेरेमें जो 'मैं-पना' बैठा हुआ है! पर महाराज, मैंने देखा है कि गोरे-गोरे शरीर चम-चम चमकते हुए मेरी आँखके सामने काले हो गये। काले बाल सफेद होते देखे हैं। घने, चिकने बाल झरते हुए देखे हैं। मोती सरीखे दाँत टूटते हुए देखे हैं। यह जीवनके प्रति निराशा नहीं है। यह सत्यकी खोज करनेके लिए, गहराईमें घुसनेकी एक तरकीब है, एक युक्ति है। आप इस शरीरके भीतर देखिये न! एक सत्यसे आप कबतक मुकर सकते हैं? एक दिन दाँत टूटेंगे, मुँह पोपला हो जायेगा। एक दिन झुर्रियाँ पड़ जायेंगी, शरीरका रंग बदल जायगा। यह जो छाती ताने घूमते हैं, इनको भी लठिया टेकते हुए चलना पड़ेगा! ईश्वर करे वह दिन भी आवे आपके जीवनमें। कहीं उसके पहले ही समाप्त न हो जायँ! क्योंकि, बहुतोंके जीवनमें तो ऐसे दिन भी देखनेको नहीं मिलते हैं। वे लोग कितने भाग्यशाली हैं कि जिनकी पाँच पीढ़ी उनकी आँखके सामने हो! उनके मरने पर ऐसा कहा जाता है कि उनको स्वर्गके लिए सोनेकी सीढ़ी दान करो। अब तो ये सीधे स्वर्गमें जायेंगे। उनको नरकमें तो कहीं जाना नहीं पड़ेगा! परन्तु, इतनी बड़ी उम्र भी कहाँ मिलती है? बड़ी उम्र है तो उसमें रोग है, शोक है! इसको आप छोड़ते क्यों नहीं?

एक सज्जन कहते थे कि हम तो जाग्रत् अवस्थाके आधार पर ही वेदान्तका विचार करेंगे! उसमें सपनेसे क्या लेना है, सुषुप्तिसे क्या लेना है? तो एक सत्यसे मुकर जानेकी जो क्रिया है, वह बिलकुल गलत है। आपके जीवनमें बचपन आया और गया, किशोरावस्था आयी और गयी; जवानी आती है, जाती है, बुढ़ापा आता है, जाता है; आप अधेड़ होते हैं। तो सभी अवस्थाओंको मिलाकर जीवनके बारेमें विचार करना पड़ेगा।

एकके बारेमें हमको किसीने बताया कि एक आदमी कमोड पर शौचके लिए बैठा था तो गिर पड़ा। अब महाराज एक ओर कमोड था

और दूसरी ओर स्नानके लिए टब जैसा बना था और दोनोंके बीचमें वह गिर गया। चिल्लाया तो घरके लोग इकट्ठे हुए कि इसको निकालें! किसीको यह नहीं सूझा कि एक हथोड़ा मारकर कमोडको तोड़ दें या टबको तोड़ दें और इसको निकाल लें। ऐसा खींचा-खींची की कि वह तो मर गया। हे भगवान्! न कमोड तोड़ा न टब तोड़ा!!

तो आप समझते हैं कि आपके घरके लोग आपसे बहुत प्रेम करते हैं। पर, उनका टबसे प्रेम ज्यादा है, कमोडसे प्रेम ज्यादा है। आपके शरीरसे ज्यादा प्रेम नहीं है। और, यह बात और देख सकेंगे कि नहीं, यह भगवान् जानें!! आप जिनके प्रेम पर फक्र करते हैं, अभिमान करते हैं कि ये हमको बहुत प्रेम करते हैं, उन लोगोंकी दुनियामें यह गति है।

तो, नारायण! यह सब मुँह देखेकी प्रीति है। जबतक जिसको जिससे थोड़ा स्वार्थ आता है, तबतक वह उसके ऊपर बिछ गया है। लेकिन जहाँ स्वार्थ-सिद्धि खत्म हुई, वहाँ संसारका प्रेम खत्म हो जाता है। हमको एक सेठने कहा कि आप हमारे घरमें वैराग्यकी बात ही मत करो। नहीं तो हमारे बाल-बच्चे बिगड़ जायँगे। लेकिन आप कब तक आँख बन्द करके रखोगे! यदि आपको परमात्माके मार्गमें चलना है तो यह शरीरके भीतर क्या रखा है, इसको तो देखो!! हड्डी है, माँस है, चाम है, विष्ठा है, मूत्र है, पीब है, खून है। अच्छा, जितनी गन्दगी दुनियामें है— वह सब-की-सब शरीरके भीतरसे निकलती है। शरीरमें-से बाल अलग हो और भोजनमें पड़ जाय तो अच्छा नहीं मानते हैं। सारी गन्दगी तो इस शरीरमें-से ही निकलती है और इसीको मैं-मैं करके क्या अन्याय करते हैं? माता-पिताको सतावें, दादा-दादीको सतावें, नाना-नानीको सतावें, पत्नीको सतावें, पतिको सतावें, पुत्रको सतावें, गुरुको सतावें, चेलेको सतावें! किसके लिए सतावें? बोले कि इस देहमें 'मैं' करके।

तो, पहली साधना यह है कि 'मैं'की परिच्छिन्नताको हटावें! इस देहमें जितना भी कल्पित 'मैं' है, उस 'मैं'से अपनेको ऊपर उठाया जाय। यह वेदान्तकी पहली साधना है कि यह तुम साढ़े तीन हाथके शरीर नहीं

हो। इसमें तात्त्विक और भावनात्मक दो प्रकारकी साधना होती है। आप शरीरमें पंचभूतको अलग-अलग कर दो। शरीरमें जितने छिद्र हैं, वे आकाशके हैं और जितना हिलना-डोलना है, वह सब वायुका है और जितने टेम्परेचर हैं, वे सब अग्निके हैं। टेम्परेचर महाराज दोनों तरफ मारता है। बढ़ जाये, तब भी मर जायँ और कम हो जाय तो भी मर जायँ। यह टेम्परेचर भगवान् दुनियामें न बनाते तो हम लोग सुखी रहते। अच्छा, शरीरमें खून न रहे, रस न रहे तो जिन्दा रहेंगे? मिट्टी न रहे तो जिन्दा रहेंगे? तो अब यह देखना है कि शरीरके भीतर जो ये पाँचों चीजें हैं, उनमें-से तुम एक हो कि पाँचोंके मिले हुए पुलिन्दे हो!!

हम जैसी वेदान्तकी बात साधु-संन्यासियोंको सुनाते हैं, वैसी आपको भी सुनाना चाहते हैं। आप लोग डरना मत। क्योंकि, हम आपके घरमें-से तो कुछ निकालेंगे नहीं। हाँ, आपके मनमें-से हम कुछ निकालना चाहते हैं और उससे आपकी कोई हानि नहीं है। यह भ्रम जितना होता है, वह बुद्धिमें ही होता है।

तो नारायण, विवेक करके शरीरमें पाँचों चीजोंकी अलग-अलग राशि बना दो और जिसकी जो राशि है, उसको उसमें डाल दो। माने मिट्टीको मिट्टीमें जाने दो, पानीको पानीमें जाने दो, अग्निको अग्निमें जाने दो और हवाको हवामें तथा आकाशको आकाशमें मिलने दो। और देखो, यह सब करनेके बाद भी तुम हो। तुम नहीं हो, ऐसी बात बिलकुल नहीं है!! पाँचोंको पाँचोंमें मिला दो और तुम हो! मुख्य बात वेदान्तकी यही है। इसको तात्त्विक-प्रक्रिया बोलते हैं। 'तत्त्व' माने जैसे मिट्टी तत्त्व है। अंग्रेजी बाबू लोग जलको तत्त्व ही नहीं मानते हैं। अच्छा तो, अग्नि तत्त्व है, वायु तत्त्व है। कोई-कोई आकाशको तत्त्व मानते हैं और कोई नहीं मानते हैं। इसका जो शास्त्रार्थ है, वह आप लोगोंको सुनाने लायक नहीं है। नाम-रूपकी अनेकतामें भी जो एक अनुस्यूत तत्त्व होता है, बिलकुल सबमें भरा हुआ लबालब!! आप जरा अपने देहके ख्यालको हटाइये! एक बार ऊपरसे लीजिये और एक बार नीचेसे।

अच्छा, आपके शरीरमें जो अवकाश है, 'अवकाश' माने पोल- यह जो दोनों गाल हैं और ऊपरका तालू है और नीचे जीभ है, इनके बीचमें पोल है कि नहीं? तो यह जो पोल है, यह सबके शरीरमें एक ही है कि अलग-अलग है? कभी आपने विचार किया है? नहीं जी, हमारे गालमें अलग है और तुम्हारे गालमें अलग है। बिलकुल ठीक है। क्योंकि, अपने मुँहमें जब हम कचौरी रखते हैं तो वह दूसरेके मुँहमें नहीं गयी और दूसरेके मुँहमें कचौरी है तो अपने मुँहमें नहीं आयी। अच्छा, तो जब आप चलते हैं तो आपके मुँहकी कचौरी तो आपके साथ ही चलती है? वह क्या जो अवकाश है, पोल है वह गालमें कैद होकर आपके साथ-ही- साथ चलता है? नहीं चलता है। वह तो जहाँ-का-तहाँ रहता है। अच्छा तो आप यह कल्पना करें कि आप आकाश हैं। अच्छा, यह साँस क्या आपके शरीरमें कैद है? अरे भाई, वायु एक है, गर्मी एक है, वातावरणका जो स्वाद है, रस है—वह एक है, नमी एक है। अच्छा जो मिट्टी है, वह अलग-अलग है? अरे रोज-रोज महाराज भीतर भरते जाते हैं। यह चावल भी मिट्टी है, गेहूँ भी मिट्टी है। तो बाहरसे डालते हैं और भीतरसे निकलता है।

समष्टि-व्यष्टिमें एक पृथिवी, एक जल, एक अग्नि, एक वायु और एक आकाश है। तो भावनात्मक साधना ऐसे होती है कि मैं साढ़े तीन हाथका शरीर नहीं हूँ—इसमें नाक है, आँख है, दो हाथ हैं, दो पाँव हैं। मैं यह शरीर नहीं हूँ—मैं पृथिवी हूँ, मैं जल हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं वायु हूँ, मैं आकाश हूँ और ऐसे अपने छोटेपनको काट देते हैं। नहीं तो महाराज, यदि आप अपनेको चेतन भी समझोगे तो यही समझोगे कि इस शरीरके भीतर एक चिंगारीके समान चेतन कहीं यहाँ बैठा होगा या तो समझोगे कि हृदयमें दीयेके समान कोई चेतन जलता होगा या फिर यह समझोगे कि सारे शरीरमें कोई जैसे बिजलीका करेंट व्याप्त होता है, वैसा चेतन व्याप्त है।

हमने ऊटीमें एक रजाई देखी थी—उसके साथ बिजलीका करेंट

कर देते थे तो वह रजाई गर्म हो जाती थी। बहुत हल्की-फुल्की रजाई, पर गर्मी बहुत देती थी। तो ऐसे ही कोई चेतना जो है बिजलीकी तरह शरीरमें फैली हुई है कि हृदयमें दीयेकी लौ की तरह जलती है कि कोई चिंगारीकी तरह रखी हुई है। क्या हैं आप? यह चेतना जो आपके शरीरके भीतर है, आप कभी इसपर विचार करें कि यह चेतना क्या है?

विचारकी पद्धति दूसरी है और शान्तिकी पद्धति दूसरी है। शान्ति तात्कालिक होती है और विचारके द्वारा जो निष्पन्न तत्त्व होता है, वह शाश्वत होता है। अपने अन्तःकरणमें थोड़ी देरके लिए शान्ति बना लेना— यह दूसरी चीज है और तत्त्वज्ञानके मूल हेतुको ही मिटा देना—यह बिलकुल दूसरी चीज है। यह न सिद्धोंका पंथ है और न साधकोंका! इसका नाम साधन नहीं है। साधनसे तो फलका उदय होता है। इसमें साधनसे फलका उदय नहीं होता है। इस विचारसे तो तत्त्व पर जो पर्दा पड़ा है, वह फटता है। यह तो एक विवेककी कुल्हाड़ी मारी और पर्दा हो गया दो टूक! ऐसा यह वेदान्तका विचार है। संसारमें फँसे हुए लोग इसकी छाया भी नहीं छू सकते हैं।

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौन वा भवान्। 1.3

अब देखो, जहाँ केवल जड़ तत्त्वकी भावना करनेसे कि मैं पृथिवी हूँ—देहाभिमान गलता है; मैं जल हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं वायु हूँ और मैं आकाश हूँ—जहाँ इस भावनासे देहाभिमान गलता है, वहाँ इन पाँचोंको उठाकर अलग कर दीजिये! यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ देहको क्यों नहीं हटाता है, इन पाँचोंको क्यों हटाता है? इसलिए हटाता है कि देहमें-से हटानेके बाद भी आपका 'मैं' छोटा ही रह जायेगा और इन पंचभूतोंमें-से हटानेके बाद आपका मैं बड़ा हो जायगा। पृथिवीसे भी बड़ा, जलसे भी बड़ा, अग्निसे भी बड़ा वायुसे भी बड़ा, आकाशसे भी बड़ा कौन है? आपका आत्मा! सबसे बड़ा कौन है? आपका आत्मा!

एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥ 1.3

आप मुक्ति चाहते हैं, धन्य हैं आप! इन छोटी-छोटी कोठरियोंकी

तनहाई कैदमें-से अपने 'मैं'को बाहर निकालिये। 'तनहाई कैद' माने जब एक छोटी-सी कोठरीमें एक कैदीको अकेले बन्द कर दिया जाता है। उसीमें टट्टी जाय, उसीमें पेशाब करे। बर्तन रख दिये जाते हैं। खाना भी उसीमें पड़ता है। उसको तनहाई कैद बोलते हैं। तो नारायण, यह जिसको आप अपना बड़प्पन समझते हैं—एक कुर्सी पर बैठा दिया तो बोले कि हम महाराजा हो गये; एक सिंहासन पर बैठा दिया तो हम महाराजा हो गये; वह कुर्सी पर बैठा जो महाराज बना है, वह तो तनहाई कैदका कैदी है जो राजा बनकर सुखी हो रहा है।

एक बार मैं मुम्बईमें ही किसीके घरकी छत पर बैठा था। एक सम्प्रदायके आचार्यकी सवारी निकली। बड़ी ताम-झाम थी। जिनके घरमें था, वे सज्जन हमारे बड़े मित्र हैं। वे सवारी देख बोले कि स्वामीजी, यदि ये सोनेका सिंहासन, छत्र लगानेसे बड़े महात्मा हो जाते हों, तो आपका क्या ख्याल है? हम आपके लिए ऐसे दस सिंहासन बनवा दें। आप भी बड़े हो जाइये। मैंने कहा कि भाई, हमको ऐसे ही छोटे रहने दो। मौजसे हँसते हैं, खेलते हैं! वहाँ तो मुँह बनाकर बैठना पड़ेगा। किसीसे बोलो मत, किसीकी ओर देखो मत! अरे, हम बहुत मजेमें बैठे हैं!!

तो यह जो तनहाई कैद है न! बड़े ऊँचे-ऊँचे पद, उनके लिए तुम पूँछ हिलाते हुए उनके पीछे-पीछे घूमते हो! इन्द्र भी कैदी है, ब्रह्मा भी कैदी है। जो एक घेरेमें 'मैं' करके बैठा हुआ है वह इन्द्र, चन्द्र, बुध भी कैदी हैं। इससे छुड़ानेके लिए यह जरूरत है! सारा बड़प्पन इसी चाममें ही तो है न! कोढ़ हो जायगा, तब क्या होगा? काला पड़ जायगा, तब क्या होगा? जल जायगा, तब क्या होगा? एक दिन आगके मुँहमें जाने ही वाला है। सारा बड़प्पन इसी शरीरको लेकर है! इस तनहाई कैदका अभिमान!!

एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये। 1.3

क्या तुम मुक्ति चाहते हो? सचमुच इस कैदसे छूटना चाहते हो? तो,

दास कबीर जतन से ओढ़ी,
ज्यों-की-त्यों घर दीनी चदरिया।

यह पंचभूतका बना जो पचरंगा चोला है, इसको जहाँ-का-तहाँ पंचभूतमें रख दो। अपनेको समझो इसका 'साक्षी' चिद्रूप। 'चिद्रूप' समझनेका अर्थ यह है कि सद्विशिष्ट चिद् नहीं और चिद्विशिष्ट सद् नहीं। जहाँ तुम अपने आपको खोकर 'है' मात्र रह जाते हो, वहाँ परमार्थ नहीं है और जहाँ तुम जड़को उपसर्जन बनाकर 'तुम' देखते हो, वहाँ भी परमार्थ नहीं है और जहाँ अपने आपको अकेला देखते हो, द्रष्टा, वहाँ भी परमार्थ नहीं है। तो समाधिमें नहीं, स्वप्नमें नहीं, सुषुप्तिमें नहीं—जाग्रत्कालमें वेदान्तजन्य प्रज्ञाके द्वारा जब इस भ्रमका निवारण होगा कि मैं ये पंचभूतका विकार नहीं, इनका साक्षी चिद्रूप आत्मा हूँ। 'विद्धि' शब्दका यही अर्थ है। समाधौ विद्धि नहीं है, स्वप्नौ विद्धि नहीं है, सुषुप्तौ विद्धि नहीं है। 'विद्धि' माने इसी जाग्रत्-कालमें एक अद्वैतकी बुद्धिका उदय होकर भ्रमका निवारण होगा।

देखो, जो साधन हमारी जाग्रत्-अवस्थामें फलता है, वह तो सच्चा फलता है और जो समाधिमें फलता है—वह तो जागने पर मिट जाता है। जो साधन सुषुप्ति-अवस्था, स्वप्नावस्था और ध्यानावस्थामें फलता है—वह हमारे व्यवहारकालमें काम नहीं दे सकता। वस्तु तो वह होनी चाहिए जो जागते महाराज अभी-के-अभी रौनक हो!!

●

प्रवचन : 4

मुक्तिका स्वरूप : विभिन्न मत

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौन वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥ 1.3

किसीके साथ सम्बन्ध जो है, वह बन्धन है। दूसरी वस्तु होगी और उसके साथ सम्बन्ध जोड़ेंगे, तो पहले जैसे जोड़ा था, बीचमें छोड़ दिया और फिर जोड़ लेंगे तो बन्धन कटेगा नहीं। इसलिए, मुक्तिके लिए विषय विषका परित्याग आवश्यक है। उस श्लोकमें दो बात बतायी गयी कि विषय अपने स्वरूपसे तो कभी छोड़े नहीं जा सकते और अपने आपको कोई छोड़ नहीं सकता। छोड़ेगा तो दूसरेको ही छोड़ेगा। लेकिन दूसरेको छोड़ना नहीं, क्योंकि दूसरा तो छूटा ही हुआ है और अपने आपको भी छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि अपना आप छोड़ा नहीं जा सकता।

तो नारायण, विषयोंके त्यागका तात्पर्य क्या हुआ कि दूसरेको छोड़ना नहीं है, छूटा हुआ है-सिर्फ यह जानना है। यह जाननेके लिए कि क्या-क्या छूटा हुआ है तीसरा श्लोक है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द और इनकी जो जन्म भूमि है-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश-ये आप नहीं हैं। माने इस शरीरमें जो पृथिवीका अंश है, हड्डी आदि, जो जलका अंश रक्त आदि, जो अग्निका अंश उष्मा आदि, जो वायुका अंश गति आदि और जो आकाशका अंश अवकाश, शब्द, स्पन्दन आदि है-यह सब तुम नहीं हो। लेकिन इसीके एक पुलिन्दाको हम समझते हैं कि यह 'मैं' है और फिर इसके जो रिश्ते-नातेदार हैं, सम्बन्धी हैं, वस्तुएँ

हैं—उनसे बँध जाते हैं। वह तो जब उसको पकड़ लिया तो सारेको ही पकड़ लिया। जितना दुनियामें 'मैं' 'मेरा' है, वह इस शरीरके सम्बन्धसे है और शरीर पंचभूतका विकार है। तो इसके त्यागनेका अर्थ यही है कि यह 'मैं' नहीं हूँ—यह जाना जाय। वेदान्तका बच्चा-बच्चा इस बातको जानता है।

बोले कि अच्छा, यह तो एक ध्वंसात्मक ज्ञान हुआ न कि यह 'मैं' नहीं हूँ। आखिर 'मैं'का कुछ स्वरूप भी तो होना चाहिए न! घड़ी 'मैं' नहीं हूँ—यह तो ठीक है। और, घड़ीमें जो मशीन चलती है, सो भी 'मैं' नहीं हूँ। यही नहीं; घड़ीकी भाँति ही एक मशीन जो शरीरके भीतर चलती है, वह 'मैं' नहीं हूँ। तो जैसे घड़ीसे पृथक् घड़ीको देखनेवाला 'मैं' हूँ, वैसे ही भीतर जो हृदय घड़ी चल रही है उसको भी देखनेवाला 'मैं' हूँ। जो देखा जाता है, उसको देखनेवाला न्यारा होता है। लेकिन मेरे भाई, यदि आप मुक्ति चाहते हो तो आप इनसे न्यारे हैं, इतना ही जानना काफी नहीं है। बल्कि, अपना स्वरूप क्या है? इसे जाननेकी जरूरत है।

तो पहला प्रश्न तो यह है कि क्या आप मुक्ति चाहते हैं? मुक्ति चाहने पर भी मुक्तिके बारेमें लोगोंमें बहुत मतभेद हैं। अर्थशास्त्री लोग कहते हैं कि यह शरीर ही जीवन है और अर्थ ही सत्य है। घी सत्य है, पूरी सत्य है, फल सत्य है। यह शरीर जैसे ज्यादा दिन तक जीये और ज्यादा दिन तक सुखी रहे! दूसरेको दुःख पहुँचा कर भी अगर सुखी रहे, तो रहे। जीवनका सुखी रहना, जीवन्मुक्ति है और मर जाना विदेहमुक्ति है। इसको चार्वाकमत बोलते हैं।

अच्छा, एक दृष्टिसे इसकी जरूरत यों है कि जब मनुष्य कोई अपराध करे तो सरकारको, न्यायाधीशको यह नहीं सोचना चाहिए कि पूर्व जन्ममें इसने ऐसे कर्म किये होंगे, तब प्रारब्धसे इसने यह बुरा काम किया है। यह जो परधनकी प्राप्ति इसको हुई है, वह पूर्वजन्मके कर्मसे हुई है। इसका प्रारब्ध है जो इसको इतना चोरीका माल मिला—ऐसा शासकको नहीं सोचना चाहिए। और, इसने यह अपराध किया, तो इस

जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें इसका दण्ड भोगेगा—यह भी राजाको नहीं सोचना चाहिए। राजनीतिमें पूर्वजन्म और उत्तरजन्मका सोचकर दण्डका निर्णय नहीं होता। इसी जन्मकी दृष्टिसे इसने बुरा काम किया है। हमारे चार्वाक महाराज न्यायाधीशसे कहते हैं कि देखो, तुम पूर्वजन्मकी मत सोच, अगले जन्मकी मत सोच! इस जन्ममें इसने बुरा किया है, शरीरसे बुरा किया और इसी शरीरसे भारी-से-भारी दण्ड भी भोगे! जैसे सरकारी वकील होते हैं, वैसे ये चार्वाकजी महाराज हैं।

ये चार्वाकजी राजाको सलाह देते हैं कि तुम यह मत कहो कि इसने परस्त्रीसे सम्बन्ध किया, यह इसका प्रारब्ध था। तुम यह मत कहो कि इस जन्ममें पाप किया है और अगले जन्ममें इसका फल मिलेगा। तुम तो इस पापीको इसी जन्ममें इसके पापकी सजा दो। यह चार्वाकमत है और यह बहुत उपयोगी है। आजतक सबने इसका खण्डन किया। जैनोंने खण्डन किया, बौद्धोंने खण्डन किया। न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य-योग, वेदान्तोंने इसका खण्डन किया कि चार्वाकमत गलत है। लेकिन, वह ऐसा उपयोगी है कि कोई भी जब सरकार बनेगी, तो किसी-न-किसी अंशमें उस मतको स्वीकार करेगी और धर्म निरपेक्ष होकर पूर्व-उत्तर जन्म निरपेक्ष होकर इस जन्मके कर्मके अनुसार समाज-व्यवस्थाका संचालन करेगी। इसलिए, चार्वाकमतका खण्डन आज तक कोई असलमें कर ही नहीं सकता। जिन लोगोंने गुरुमुखसे कभी दर्शनका स्वाध्याय नहीं किया, उनको क्या मालूम कि चार्वाक-दर्शनका कितना उपयोग है?

तो चार्वाकमतमें मुक्ति क्या है? स्वस्थ जीवनका, समाजका निर्माण और परलोककी चिन्तासे मुक्त ठीक-ठीक राजनीतिका संचालन।

जैन लोगोंका मत बड़ा ही विलक्षण है। वे कहते हैं कि यह जो हमारा साढ़े-तीन हाथका व्यक्तित्व है, इसके भीतर असीम शक्तियाँ छिपी हैं और अपरिमित निर्मलता छिपी है। तो; साधनाभ्यासके द्वारा अपने व्यक्तित्वका विकास करना चाहिए। यह जीव जो है, वह साधनाभ्यासके द्वारा एक इकाईके रूपमें अपनेको इतना विकसित कर ले कि और कोई

ईश्वर नहीं, यह व्यक्तित्वकी चरमावस्थाका नाम 'ईश्वर' है। और, वह कभी सिकुड़ता है और कभी फैलता है। तो फैल करके जब एक शरीरमें आबद्ध हो जाता है, तब वह संसारी हो जाता है। उसका जन्म भी होता है, मरण भी होता है, पूर्वजन्म, उत्तरजन्म भी होता है। जैन लोग पुनर्जन्म मानते हैं।

तो जब व्यक्तित्वका विकास होता है तो उसमें ऐसी-ऐसी शक्तियाँ आती हैं कि वह शतावधानी हो जाय, सहस्रावधानी हो जाय। जैनियोंमें बड़े-बड़े चमत्कारी साधु होते हैं और वे देश-विदेशमें जाकर प्रदर्शन करते हैं। तो नारायण, ये व्यक्तित्वके विकासकी शक्तियाँ हैं। यह दो नम्बरकी चीज है। इससे भी परे एक नम्बरकी चीज यह है कि आत्मा बिलकुल वीतराग, निर्मल, उज्ज्वल तीर्थंकरके रूपमें बैठ जाय। वह भी एक इकाई होती है। तो यह जैनमत है : व्यक्तित्वका विकास। व्यक्तिगत ऐश्वर्यके रूपमें विकास और व्यक्तिगत वीतरागताके रूपमें विकास। इसीको वे मुक्ति मानते हैं। किसी भी इकाईका सर्वथा निर्मल, उज्ज्वल वीतराग हो जाना, इसका नाम मुक्ति है। तीर्थंकर, मुक्त होकर भी व्यक्तिके रूपमें ही रहता है। परन्तु, हम उनकी मुक्तिको जरा मुश्किल मानते हैं। एक तो विद्वान् होते हैं और एक होते हैं अभ्यासी साधक और अभी तक पूरे तीर्थंकर केवल चौबीस ही हुए हैं।

बौद्ध लोग कहते हैं कि व्यक्तित्वका विकास मुक्ति नहीं है, व्यक्तित्वका उच्छेद मुक्ति है। चैतन्य-रूपसे जो व्यक्तित्व है, वह न रहे—उसका नाम 'मुक्ति' है। विज्ञानमें जो वासनाका संचरण होता है—एक विज्ञानसे दूसरे विज्ञानमें, दूसरेसे तीसरे विज्ञानमें—उस वासना संतान परम्पराका निवृत्त हो जाना, एक और नारायण विज्ञानका ही उच्छेद हो जाना, दो-यह मुक्तिका स्वरूप है। उनके लिए निर्वाण और महानिर्वाण और परिनिर्वाण और अतिनिर्वाण-ऐसी अवस्थाएँ मुक्तिकी मानते हैं।

अब एक विचित्रमत आपको बताते हैं। काम-शास्त्रका मत है कि यह स्त्री और पुरुष जो परस्पर मिलते हैं, उनका बिलकुल नंगा होकर

मिलना ही 'मुक्ति' है। यह नहीं समझना कि हमारे जो ऋषि-महर्षि हैं, वे सब प्रकारकी बात नहीं सोचते थे। तो कामशास्त्रके प्रवर्त्तक वात्स्यायन-ऋषिका जो मत है, वे आत्मोच्छेदनको मुक्ति नहीं मानते हैं, वे तो नींवी-बन्धनोच्छेदनको मुक्ति मानते हैं।

तो अर्थ-प्रधान मुक्ति चार्वाककी और काम-प्रधान मुक्ति वात्स्यायनकी और व्यक्तिके अन्तःकरणके ऐश्वर्य विकासकी जो अवस्था है और स्वरूपमें शान्ति—यह जैनियोंकी मुक्ति और स्वरूपोच्छेद बौद्धोंकी मुक्तिका स्वरूप है।

अब देखो, इक्कीस प्रकारके दुःखका विध्वंस मुक्ति है, यह मानते हैं न्याय और वैशेषिक और द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान मुक्ति है, यह मानते हैं सांख्य और योग। विवेकसे ही स्वरूपमें अवस्थान हो जाता है, यह सांख्यका मत है और समाधि लगने पर स्वरूपमें अवस्थान होता है, यह योगका मत है। परन्तु, दोनों ही द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान मानते हैं और यह जो स्वरूपावस्थान है, वह अपनी-अपनी इकाईमें है। माने विभु आत्मा अन्तःकरणसे सम्बन्ध छोड़कर, विविक्त होकर, प्रकृति और प्राकृतसे बिलकुल अलग अपनेको जानकर अपने विभु स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। दो विभु हैं कि दस विभु हैं—इससे उसका कोई मतलब नहीं और प्रकृति कैसे जागती, खेलती और सोती है—इससे उसका कोई मतलब नहीं। वह तो अपने स्वरूपमें बैठ गया।

भक्ति-शास्त्रमें जो मुक्ति है, वह बड़ी विचित्र है। माने मरनेके बाद स्वर्ग मिलता है कि मरनेके बाद भगवान् मिलते हैं कि मरनेके बाद अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। समाधिमें स्थिति, अन्य सत्ताके साथ तादात्म्यापन्न होना है और ईश्वरमें स्थिति, अपने सामने एक सत्‌में चेतनका आधान करके उसके साथ अपना खेलना, बोलना है। अन्तर्यामीको अपना ही चैतन्य दान करके, प्रकृतिकी सूक्ष्मावस्थामें अपने आपको ही अन्तर्यामीको चैतन्यके रूपमें देकर और उसके साथ हँसना, खेलना। और, एक है अपने स्वरूपमें बैठ जाना। वेदान्तियोंकी इनमें-से कोई मुक्ति नहीं है।

देखो, सब-के-सब भक्त—पहले मध्वाचार्यको छोड़ देते हैं और बाकी सबको एक राशिमें कर देते हैं—सब सौर, सब शाक्त, सब गाणपत्य आदि जितने भक्त हैं, वे मानते हैं कि नानात्व दो तरहका है—एक जगत् रूप नानात्व और एक जीवरूप नानात्व। इनमें शाण्डिल्य भक्तिदर्शनका मत ऐसा है कि असलमें परमेश्वर एक है, उसमें नानात्व नहीं है। उपाधिके कारण ही नानात्व भासता है। तो परमात्मा अद्वितीय है, इसलिए जगत् उससे भिन्न नहीं है और उपाधिके कारण जीवात्मा अपनेको परमात्मासे अलग अनुभव करता है।

परन्तु, भक्ति-सिद्धान्त यह है कि केवल अज्ञानके कारण ही इसका नानात्व नहीं है, बल्कि उपाधिके कारण नानात्व है। यह एक विचित्र बात है। ये कहते हैं कि केवल अज्ञानसे ही जीवात्मा बद्ध नहीं है, ईश्वरकी अभक्तिसे जीवात्मा बद्ध है। तो अज्ञानकी निवृत्तिसे उसकी मुक्ति नहीं हो सकती, भक्ति भी करनी चाहिए और ईश्वरकी कृपासे ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए। तो, श्रीरामानुज, श्रीवल्लभ, श्रीमन्निबार्क—ये आचार्य कहते हैं कि ईश्वर-विषयक अज्ञानको भी दूर करो और ईश्वरसे जो विमुखता है, अभक्ति है, उसको भी दूर करो। मतलब भक्तिमिश्रित ज्ञानसे परमात्माकी अनुभूति होगी। और, असलमें तत्त्व अद्वितीय है। परमेश्वरसे भिन्न न जगत् है, न ही परमेश्वरसे भिन्न जीव है।

सकलमिदं अहं च वासुदेवः।

मध्वाचार्यजी महाराज ऐसे हैं, जो कहते हैं कि परमात्मासे भिन्न जगत् तो नहीं है—यह तो ठीक है। लेकिन, यह जो जीवात्मा है, यह एक अस्वतन्त्र चेतन है और परमेश्वरमें रहता है।

कुमारिलभट्ट कहते हैं कि प्रपंचके वर्तमान सम्बन्धका विलीन हो जाना मुक्ति है और प्रभाकरका मत है कि दुःखके प्रागभावका जो परिपालन है, उसीका नाम मुक्ति है। दुःखका प्रागभाव ही बना रहे। कुमारिल कहते हैं कि प्रपंच भले ही बना रहे और प्रपंचसे सम्बन्ध न हो। सम्बन्धका विलय हो जाय, इसका नाम 'मोक्ष' है।

मुक्तिके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें पृथक रीतिसे वर्णन है और महाभारतमें पृथक रीतिसे वर्णन है। आयुर्वेदमें भी मुक्तिका वर्णन है। लेकिन ये सब मुक्ति शास्त्र नहीं हैं। मुक्ति-शास्त्र है—उपनिषद्। यदि कोई दवा करनेवाली बात हो तो आयुर्वेदकी मानें। ज्योतिषशास्त्रकी रीतिसे एक ऐसा काल आता है, जिसमें मुक्ति हो जाती है। पर, ज्योतिषशास्त्र तो मुक्ति शास्त्र नहीं है। वह तो कालशास्त्र है। एक ऐसा सिद्धान्त है कि अमुक देशमें पहुँच जानेसे मुक्ति हो जाती है। तो, वह देशशास्त्र है। मुक्ति-शास्त्र तो असलमें उपनिषद् है। तो मुक्तिकी जो परिभाषा उपनिषद्को सम्मत है, वही मुक्तिकी परिभाषा है। राजनीतिमें चार्वाकशास्त्र प्रमाण है, काम, भोगमें कामशास्त्र प्रमाण है, तीर्थंकर होनेके लिए जैनशास्त्र प्रमाण है, आत्मोच्छेदके लिए बौद्धशास्त्र प्रमाण है। वे सब ठीक! परन्तु, आत्यन्तिक मुक्तिके लिए वेदान्त-शास्त्र प्रमाण है।

अब आपको वेदान्तके अनुसार मुक्तिकी बात सुनाते हैं।

एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥ 1.3

'मुक्तये विद्धि'—मुक्तिके लिए जानो। अर्थात् न जाननेसे बन्धन है और जाननेसे मुक्ति है। माने बोधनका साक्षात् साधन आपको बताया जा रहा है। जानना ही साक्षात् साधन है। देखो, इससे कितनी बात निकल आयी—अज्ञानसे ही तुम बँधे हुए हो!

कहते हैं कि एक बार कोई फैक्टरीके प्रबन्धके लिए कई लोगोंको भर्ती करना था। तो मालिकने इन्टरव्यूके लिए लोगोंको बुलाया। बहुत लोग आये। उनको एक कमरा दिखा दिया गया कि वहाँ जाकर आप लोग बैठो, सबको बारी-बारीसे इन्टरव्यूके लिए बुलाया जायेगा। अब महाराज लोग जब बैठनेके लिए गये तो बाहर तो ताला लगा हुआ था। सो, सब बाहर ही धरती पर बैठ गये। एक घंटे, दो घंटे, तीन घंटे बैठे रहे। अब एक कोई व्यक्ति आया। उसने पूछा कि क्योंजी, आप लोग भी इन्टरव्यूके लिए बुलाये गये, हम भी इन्टरव्यूके लिए बुलाये गये हैं, पर तुम लोग कमरेके बाहर धरती पर क्यों बैठे हुए हो? उन्होंने बताया कि

हमको भीतर बैठनेके लिए कहा गया था, लेकिन उसपर तो ताला लगा हुआ है। उसने कहा कि अच्छा, मैं देखता हूँ। और, जाकर ज्यों ही ताले पर हाथ लगाया तो वह खुल गया। वास्तवमें वह बन्द नहीं था, ऐसे ही लटका कर रखा हुआ था। अब मालिक आया तो उसने पूछा कि यह ताला किसने खोला? तो उसने कहा कि साहब, ताला तो लगा ही नहीं हुआ था! यह लोग घंटोंसे यहाँ नीचे बैठे हैं। मैंने खोल दिया। मालिक बोले कि ठीक है, इन्टरव्यूका कार्यक्रम पूरा हुआ। तुम हमारी फैक्टरीके प्रबन्धक होने योग्य हो!!

तो नारायण, ताला तो लगा ही नहीं है। हमें मुक्त होनेके लिए कहीं किसी तरहकी रुकावट, किसी तरहका प्रतिबन्ध नहीं है। केवल एक नकली ताला है। न जाननेसे जो बन्धन होता है, वह सच्चा बन्धन नहीं होता। वह तो न जानना ही वहाँ बन्धन है। और, जाननेसे जो बन्धन कट जाता है और मुक्ति हो जाती है, वह असलमें पहलेसे मिली हुई ही होती है। जाननेसे जो वस्तु मिलती है, वह अनमिली नहीं होती। तो जब हम यह कहते हैं कि **'मुक्तये विद्धि'**—मुक्तिके लिए जानो। तो इसका अर्थ होता है कि बन्धन बिलकुल है नहीं और मुक्ति तुम्हारा स्वरूप है।

'आत्मानं विद्धि' अब प्रश्न यह उठा कि अच्छा, जब मुक्तिके लिए केवल जाननेकी ही जरूरत है, तो किसको जानें? बोले, **'आत्मानं विद्धि'**—और किसी दूसरेको जाननेकी जरूरत नहीं है—आत्मानं विद्धि। दूसरेको जानते-जानते तुम्हारे जन्म-पर-जन्म बी गये। दूसरेको जानोगे तो तुम कैसे मुक्त होओगे? अगर दूसरेको जानोगे कि यह बद्ध है, तो भी तुम मुक्त नहीं होओगे और दूसरेको जानोगे कि यह मुक्त है, तो भी तुम मुक्त नहीं होओगे। तुम्हें तो अपने बारेमें ही जानना है कि मैं बद्ध हूँ कि मुक्त हूँ? बन्धन कुछ है कि नहीं? मुक्ति कुछ मिलती है कि नहीं?

तो नारायण, 'आत्मानं विद्धि'—अपने आपको जानो।

बोले कि, क्या जानें अपने आपको? तो देखो, अपने आपके बारेमें

जाननेके लिए दो बात बताते हैं—*'एषां साक्षिणं चिद्रूपं आत्मानं विद्धि'-'अयं साक्षी आत्मा चिन्मात्रः चिद्रूपः इति विद्धि।'*

'एषां साक्षिणं'—का अर्थ पहले देखो! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश-इनके लिए है 'एषां'। एषां, दृश्यमानानां अनेकेषाम् दो बात 'एषां'में-से निकलती है। संस्कृतकी प्रकृति जाननेवाला जान जायगा। 'एषां' माने यह, यह, यह, और 'एषां'में जो बहुवचन है, उससे क्या निकला? 'अनेक'। अयं पृथिवी, अयं जलं, अयं अग्नि, अयं वायु। तो यं, इदं, अयं इति एते, एषां, एतेषां।

तो 'एषां साक्षिणं' माने यह जो अनेक पदार्थ तुमको दृश्यके रूपमें दिखायी पड़ रहे हैं, इनके तुम साक्षी हो!! यह कहनेका वेदान्तमें बड़ा अर्थ होता है। ऐसा नहीं समझना कि घटका द्रष्टा, घटसे भिन्न और दृश्यका द्रष्टा, 'मैं' दृश्यसे भिन्न—ऐसे नहीं होता है। यह तो बच्चोंके लिए शुरू-शुरूमें ऐसे सिखाया जाता है।

हमारे काशीके बड़े वैष्णव विद्वान्ने शास्त्रार्थमें ऐसे कह दिया कि *यो हि गर्दभ जानाति, स गर्दभं न भवति*—जो गधेको जानता है, वह गधा नहीं होता है। *तथैव यो हि ब्रह्म जानाति, स ब्रह्म न भवति*—इसीलिए जो ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म नहीं होता है। तो भाई, तुम्हारी बुद्धि तो बहुत बढ़िया है। लेकिन श्रुति तो कहती है, **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'**। सो तुम्हारा अनुमान तो श्रुतिसे विरुद्ध है। **'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'**—जो ब्रह्म है, वही ब्रह्म होता है। जो ब्रह्मको जान लेता है, वह ब्रह्म हो जाता है। सो तुम्हारी अकल श्रुतिका बाध कर रही है।

शाण्डिल्य भक्ति दर्शनमें लिखा है कि प्रत्येक जीवके तीन आँख होती है—एक शब्द, एक लिंग और एक अक्षि। शब्द-नयन, लिंग-नयन और अक्षि-नयन। 'अक्षि-नयन' माने प्रत्यक्ष और 'लिंग-नयन' माने अनुमान और 'शब्द-नयन' माने शब्द प्रमाण। तो यह जो परमात्माका दर्शन होता है, वह अक्षि-नयनसे भी नहीं होता है और लिंग-नयनसे भी नहीं होता है। शब्द-नयनसे परमात्माका दर्शन होता है।

तो आपको यह मालूम होना चाहिए कि कैमरेमें फोटो उसी चीजकी खिंचती है, जो कैमरेमें किसी-न-किसी तरहसे पहुँच जाती है। माने कैमरेमें जो प्रतिबिम्बित होता है, उसकी फोटो खिंचती है और जो प्रतिबिम्बित नहीं होता, उसकी फोटो नहीं खिंचती है। माने वस्तु-अंशकी फोटो नहीं खिंचती है, प्रतिबिम्बांशकी फोटो खिंचती है। तो हमारे अन्तःकरणमें बाहरकी वस्तुओंका कितना ज्ञान होता है? हम आपको वेदान्तकी प्रक्रिया सुना रहे हैं। आपको बाहरकी चीजोंका कितना ज्ञान होता है? जितना आप अपने हृदयमें देखते हैं। घड़ा आँखके रास्तेसे पहले हृदयमें पहुँचता है और हृदयमें जब घड़ा देखा जाता है, तब घड़ा देखा जाता है और मैं घड़ेको जानता हूँ—यह ज्ञान होता है। जबतक अन्तःकरणमें घट प्रतिबिम्बित नहीं होगा, तबतक घटका ज्ञान नहीं होगा और जबतक यह समग्र प्रपंच आपके अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित नहीं होगा, तबतक आपको प्रपंचका ज्ञान नहीं होगा। भूतका, भविष्यका, वर्तमानका, यूरोपका, अमेरिकाका, एशियाका जितना भी ज्ञान आपको होता है—वह पहले अन्तःकरणवृत्तिमें आकर तब ज्ञात होता है। जो वृत्तिमें नहीं आवेगा, वह अज्ञात ही रहेगा। 'है' कि 'नहीं है'—इसका निश्चय भी नहीं होगा। अनिर्वचनीय ही है।

अच्छाजी, आने दो वृत्तिमें! अब देखो, आपकी वृत्तिमें आया एक आदमी—स्त्री है अथवा पुरुष है, इससे हमारा कोई मतलब नहीं है। तो एक आदमी आपके अन्तःकरणमें आया। अब उस अन्तःकरणके द्रष्टा आप हैं कि नहीं? बिलकुल आप हैं। तो उस अन्तःकरणमें आयी हुई चीजको देखनेवाला कौन हुआ? आप ही हुए न! तो देखो, हमको स्वामी अनन्तानन्दजी महाराज हमारे अन्तःकरणमें दिखायी पड़ रहे हैं। अब अन्तःकरणमें दीखनेवाले जो अनन्तानन्दजी हैं, उनका आत्मा और उस अन्तःकरणको देखनेवाला 'मैं'—ये दोनों दो हैं कि एक है? उस अन्तःकरणकी वृत्तिमें जो अनन्तानन्दजी हैं, उनकी आत्मा और मेरी आत्मा एक ही है। एक नहीं है—ऐसा जो मालूम पड़ता है, वह

प्रातिभासिक है, वह भ्रम है। जो अन्तःकरणका द्रष्टा है, वही अन्तःकरणवृत्तिमें आरूढ़ पदार्थका भी द्रष्टा है।

जैसे आँख बन्द करके आप अपने अन्तःकरणमें धरती देखते हैं, तो वह धरती और आपका अन्तःकरण एक है और दोनोंका द्रष्टा एक है। अब यह कहो कि बाहर धरती न होती तो अन्तःकरणमें दिखती कहाँसे? अरे, अन्तःकरणमें यदि दिखी न होती तो बाहर दिखती कहाँसे? तो पहले बाहर कि पहले भीतर? बौद्ध लोग कहते हैं कि पहले भीतर, पीछे बाहर और नैयायिक-वैशेषिक कहते हैं कि पहले बाहर, पीछे भीतर। लेकिन वेदान्ती कहते हैं कि यह बाहर और भीतर—दोनों तुम्हारे अन्तःकरणकी एक वृत्ति। इसलिए, बाहर-भीतर, पहले-पीछे और स्थूल-सूक्ष्म—समग्र वृत्तियोंका साक्षी एक है। वह साक्षी जो अपना आत्मा है, सबको प्रकाशित करनेवाला है।

इतनी बात जो यहाँ तक मैंने समझायी, वह बिना वेदान्तके भी समझमें आती है। योगाभ्याससे समझमें आती है, सांख्य-विवेकसे समझमें आती है, जैन-साधना आदिसे समझमें आती है कि जो कुछ हमारे कैमरेमें आता है, वह कैमरेमें है, उसीकी फोटो खिंचती है और जो बाहर है, उसीकी फोटो आती है और यह अनादिकालसे ज्ञाता और ज्ञेयका, प्रमाता और प्रमेयका व्यवहार चल रहा है। प्रत्यक्षनयनसे भी यह दिखता है और अनुमान-नयनसे भी यह दिखता है।

अब 'साक्षी' माने क्या होता है, यह देखो। 'साक्षी' शब्द वैयाकरणोंके द्वारा एक सुनिश्चित संज्ञा है। संज्ञा माने नाम। पाणिनिका एक सूत्र है 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्'—'द्रष्टा'को साक्षी कहते हैं। किस 'द्रष्टा'को साक्षी कहते हैं? 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम् साक्षी इति'। एक द्रष्टा होता है, वह आँखके द्वारा रुमालको देख रहा है। यह नहीं। यह तो हुआ कि ऐसे कि जैसे एक दूती साथ लगी हुई है, वह दूसरेके घरकी खबर लाकर देती है और राजा, महाराज उसको जानते हैं। और, मन आकर बताता है। माने एक नपुंसक आकर राजा साहबको सूचनाएँ देता

है। तो बाहरके दूत-दूतियोंसे या भीतरके नपुंसकोंसे जो बात जानी जाती है, उसके द्वारा जाननेवाला 'ज्ञाता' होता है। प्रमाणकी वृत्तिसे उपहित जो चेतन है, प्रमाणकी वृत्तिसे अवच्छिन्न जो चेतन है अथवा प्रमाणवृत्तिमें जो आभासचेतन है, 'साक्षात् द्रष्टरि'—जिसको देखनेके लिए किसी सहारेकी जरूरत नहीं पड़ती। जो सुषुप्तिमें सुषुप्तिको देखता है। परन्तु, एक ही सुषुप्तिको क्यों देखता है? अरे भाई, सब सुषुप्तिको देखनेवाला है वह। अपनी इस अद्भुत व्यापकताको, अपनी पूर्णताको अपनी देशानवच्छिन्नताको, कालानवच्छिन्नताको पट्ठा जानता ही नहीं है। इससे अविद्याकी वृत्ति साथ रहनेके कारण वह सर्वसुषुप्तियोंका साक्षी होने पर भी आपको केवल एक अन्तःकरणमें रहनेवाली सुषुप्तिका साक्षी मानता है।

तो 'अयं साक्षी आत्मा'—यह जो साक्षी आत्मा है, हम उसको आपके अनुभवसे, आपकी युक्तिसे आपको लखा सकते हैं कि यह आपका आत्मा साक्षी है। साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्, साक्षात् पश्यति कदाचित् परोक्षं न भवति, दृश्यं न भवति, करणसापेक्षं न भवति। यह दृश्य नहीं होता और इसको करणोंकी, औजारोंकी जरूरत नहीं पड़ती। ऐसा जो यह करण-निरपेक्ष साक्षी है, यह क्या है? बोले 'चिद्रूपं'—चिदेव, चिन्मात्रमेव रूपं यस्य—जिसमें दृश्यताका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है, ऐसा यह जो निर्विषय साक्षी है—यह चिन्मात्र, अद्वितीय है।

साक्षिताका प्रतिपादन करनेके लिए वेदान्त नहीं है। आप जानते हैं—

एको देवः सर्वभूतेषुगूढः।
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

'चेता' माने चिन्मात्र, 'निर्गुणश्च' माने निर्विषयः, निर्वृत्तिः, निरन्तःकरणः, निष्करणः। 'निर्गुणः'का क्या अर्थ है कि कोई गौण व्यक्ति, माने जैसे राजा चलता है तो उसके साथ दीवान है, रानी है, राजकुमार है, उसकी सेना है-दस आदमी राजाके पीछे-पीछे चल रहे हैं,

तो राजा मुख्य है और बाकी सब गौण हैं। तो यह 'निर्गुण:' कहनेका अभिप्राय क्या है कि ये आत्मदेव महाराज अकेले ही रहते हैं। इनके साथ कोई गौण व्यक्ति नहीं रहते हैं। कोई बॉडीगॉर्ड इनके साथ नहीं है। इनके साथ इन्द्रियोंके ए बी सी नहीं हैं, अन्त:करणके ए बी सी नहीं हैं, न रानी है, न राजकुमार है, न दीवान है। अद्वैतं विराजते—बिना किसी दूसरेका सहारा लिये ही ये विराजमान रहते हैं।

तो वेदान्तका दृष्टिकोण यह है।

देखो, ज्ञाता वह होता है, जो दो आँखसे देखता है। माने प्रत्यक्षसे या अनुमानसे जो जाने, वह 'ज्ञाता' है और जो इन ज्ञाताओंको देखता है, उसको 'द्रष्टा' बोलते हैं और द्रष्टा जो है, वह पृथक्-पृथक् शरीरमें पृथक्-पृथक् सुषुप्तिको देखता है और उस द्रष्टामें वास्तविक भेद नहीं है। इसलिए, भेदरहित द्रष्टाको 'साक्षी' बोलते हैं और वह जो साक्षी है, वह साक्ष्यापेक्ष है माने किसीको देखनेवाला साक्षी है? तो वेदान्त कहता है कि यह साक्षी ब्रह्म है और दूसरा नहीं है। शिवजीके तीसरे नेत्रसे माने शब्द-नेत्रसे इसका भान होता है और इसका भान होते ही द्वैत भस्म हो जाता है और केवल अद्वैत शिवमात्र रहता है।

तो नारायण, अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मरूप जो मुक्ति है, उसके लिए नित्य-सिद्ध, नित्य-विद्यमान मुक्ति पर जो प्रतिबन्ध है, उस अविद्यारूप प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए 'आत्मानं विद्धि'-अपने आपको जानो—ऐसा अष्टावक्रजी महाराज कहते हैं।

●

प्रवचन : 5

आपकी महिमा

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥ 1.4

अपना आत्मा जिससे मिल जाता है, वह महत्त्वपूर्ण हो जाता है। देहसे मिल गया तो देह महत्त्वपूर्ण और समाधिसे मिल गया तो समाधि महत्त्वपूर्ण। ईश्वरसे मिल गया तो ईश्वर महत्त्वपूर्ण और शत्रु-मित्रसे मिल गया तो शत्रु-मित्र महत्त्वपूर्ण। हम जिसके ऊपर हाथ नहीं रखेंगे, वह मुर्दा रहेगा। जिससे हम मिलेंगे, वह जिन्दा हो जायगा और जिसको हम छोड़ देंगे, वह मुर्दा हो जायगा। और, यदि हम अपने अद्वितीय स्वरूपको जान जायें, अज्ञान मिट जाय तो हमारे सिवाय न कोई जिन्दा रहेगा और न कोई मुर्दा रहेगा! अपना आपा ही रहेगा!!

असलमें ऐसा ही है कि जब हम स्थूल देहसे मिलते हैं तब हमारा नाम 'जीव' हो जाता है। स्थूलकी उपाधिसे 'विश्व' कहो, सूक्ष्मकी उपाधिसे 'तैजस' कहो और कारणकी उपाधिसे 'प्राज्ञ' कहो! हमारे मिले बिना उनकी कोई महत्ता नहीं है। यदि समष्टिसे मिलते हैं तो स्थूलसे मिलने पर हमारा ही नाम 'विराट्' है और सूक्ष्मसे मिलने पर हमारा ही नाम 'हिरण्यगर्भ' है तथा कारणसे मिलने पर हमारा ही नाम 'ईश्वर' है। यह अन्वयकी पद्धति है। हमारे अन्वयके बिना कोई जिन्दा रह ही नहीं सकता! हम नहीं हों और कोई जिन्दा हो—ऐसा अनुभव न कभी

किसीको हुआ है और न आगे हो सकता है! हम घुसेंगे तो 'है' समाधि है और हम अपनावेंगे तो 'तुम, तुम' ईश्वर है और हम 'यह है' और 'तुम'— दोनोंको छोड़ देंगे तो मैं द्रष्टा हूँ।

एक बार महाराज मैं एक महात्माके पास जाकर दुःखी हुआ कि मेरा मन ऐसा! मेरा मन ऐसा! मेरा मन ऐसा!! दुनियामें लोगोंको दुःख तो रहता ही है। अब यह बात मैं सबके लिए नहीं कह रहा हूँ। जो विवेकशील हैं, उनके लिए कह रहा हूँ। उन महात्माने कहा, 'क्यों भाई, साँपका मन सपकना होता है, बिच्छूका मन विषैला होता है, मच्छरका मन खून पीनेमें रुचि रखता है। तो तुमको ऐसी फिक्र ही क्यों होती है कि ऐसा हो? मैंने जो अपनेको बारम्बार दुःखी कहा था न कि हमारा मन ऐसा, हमारा मन ऐसा, तो उन्होंने उसके बदलेमें पूछा कि तुम और मनोंके बारेमें फिक्रमन्द नहीं होते हो, सिर्फ एक शरीरमें रहनेवाले मनके बारेमें ही फिक्रमन्द क्यों होते हो? मैंने कहा कि महाराज, यह मन ऐसा है। अपने मनके लिए फिक्रमन्द हूँ। वे बोले कि यह ऐसे ही है, जैसे गृहस्थ लोग अपने बेटेके लिए, धनके लिए सम्बन्ध जोड़कर फिक्रमन्द होते हैं, वैसे तुम भी एक मनसे अपना सम्बन्ध जोड़कर फिक्रमन्द हो रहे हो! तुम सारी दुनियाके लोगोंके मनके लिए—हत्यारेके मनके लिए, व्यभिचारीके मनके लिए, बेईमानके मनके लिए फिक्रमन्द क्यों नहीं होते हो?' महाराज! इनके मनको मैं मेरा मन नहीं समझता हूँ।' वे बोले कि तब तुम इस मनको भी अपना मन मत समझो!

अब देखो भाई, वेदान्तकी बात सुनानी होगी तो कोई घसियारेकी कहानी थोड़े ही सुनावेंगे। गीता भगवतीका कहना है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ 13.33

'जैसे एक सूर्य समग्रलोकको प्रकाशित करता है, वैसे एक क्षेत्री समग्र क्षेत्रको प्रकाशित करता है।'

तो नारायण, यदि तुमने अपनेको ज्ञाता जाना, द्रष्टा जाना, साक्षी

जाना, ईश्वर जाना, ब्रह्म जाना और अपने देहको, अपने व्यक्तित्वको तो मुक्त कर दिया और बाकी लोगोंको बद्ध ही छोड़ दिया तो असलमें सृष्टिमें एक स्वप्न-पुरुष भी मुक्त नहीं हुआ है। उसका झूठा अभिमान है। और, एक मच्छर भी मुक्त नहीं हुआ है, उसका अभिमान बिलकुल झूठा है। जिसको अपने मुक्तपनेका अभिमान है और दूसरोंके बद्ध होनेका ख्याल है, वह तो मुक्त ही नहीं हुआ; केवल जबानी जमा-खर्चसे मुक्त हुआ। सत्यका ज्ञान तो यह है, यथार्थका ज्ञान तो यह है कि स्वयं प्रकाशके अन्वयसे ही इस दुनियाके प्रिय-अप्रिय, समाधि, ईश्वर सब भासता है, सब जिन्दा हो जाता है। और, इसके व्यतिरेकसे माने जहाँ अपनेको अलग किया तो सब मुर्दा हो जाता है और जहाँ अपनेको ब्रह्म जाना, वहाँ जिन्दा और मुर्दा दोनों नहीं रहकर भी भासते हैं और दोनों अपने स्वरूप हो जाते हैं। इसमें अन्य देश, अन्य काल, अन्य वस्तु—इसका कोई भेद नहीं है।

आत्म स्वरूपको जाननेके तीन साधन

अब आओ आपको वेदान्तके रास्ते पर ले चलें।

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥ 1.4

आपको इस श्लोकमें छः बात बतायी जा रही है। तीन साधन हैं और तीन फल हैं। बातोंकी गिनती होती है। नहीं तो आप श्लोक बाँच जायेंगे और वह श्लोक नहीं, शोक हो जायगा। 'श्लोकः शोकस्य-मागतः'-श्लोक शोक बन गया, श्लोक लोक बन गया, श्लोक शलाका बन गया।

तो पहले श्लोकका साधारण रूपसे अर्थ देखो—

'यदि देहको पृथक् करके और चेतनमें विश्राम करके आप स्थिर हो जाते हैं, तो अभी-अभी सुखी हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं और बन्धमुक्त हो जाते हैं।'

अब छः बातमें-पहली बात है 'यदि'। तो 'यदि'का अर्थ है कि हम बहुत आसानीसे आपसे यह उम्मीद नहीं रखते हैं कि आप तुरन्त यह कर सकेंगे! क्योंकि, आपने अपने आपको सिर्फ देहके साथ नहीं बाँधा है। देहके जो रिश्ते-नातेदार हैं, वे देहके अनुबन्ध हैं। 'अनुबन्ध' माने पूँछ—जो पीछे लगी होती है। 'अनु' माने पीछे और 'बंध' माने बँधी हुई। तो आप देहमें ही नहीं, देहके अनुबन्धके साथ बँधे हुए हैं। यह धन देहकी पूँछ है, यह मकान देहकी पूँछ है। ये जितने रिश्तेदार हैं—ये देहकी पूँछ हैं। माने पहले देह हो तो सब है और देह न हो तो मकानकी, धनकी, रिश्ते-नातेदारकी क्या कीमत है? अपने देहको बढ़ावा देनेके लिए ही तो हम इतने धनके मालिक हैं, ऐसे मकानके मालिक हैं, ऐसे रिश्तेदारोंके सम्बन्धी हैं, ऐसे परिवारके मालिक हैं, ऐसी ऊँची कुर्सी पर बैठते हैं—यह सब देहको आत्मसात् करके है।

तो नारायण, इस देहको अलग करके रख देना।

दास कबीर जतन से ओढ़ी,
ज्यों-की-त्यों धरि दीनी चदरिया।

यदि आप देहसे अलग होनेमें समर्थ हो सके! 'पृथक्कृत्य' माने मैं देह नहीं हूँ, यह अनुभव कर सकें!

देखो, हमारी भारतीय भाषामें 'शब्द' और अर्थका स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाता है और विश्वकी समस्त भाषाओंमें 'शब्द' और 'अर्थ'का सांकेतिक सम्बन्ध माना जाता है। समाज जिस शब्दका जो अर्थ निश्चित कर दे कि हम 'ए' बोलें तो यह समझना 'बी' बोलें तो यह समझना। हरी झंडीका सम्बन्ध और लाल झंडीका सम्बन्ध-यह सांकेतिक है। इसी तरह संसारकी सारी भाषाओंमें 'शब्द' और 'अर्थ'का केवल सांकेतिक सम्बन्ध माना जाता है। एक मान्यता स्थापित कर दी गयी है कि इस 'शब्द'का 'अर्थ' यह समझना। लेकिन हमारे यहाँ 'शब्द-शक्ति' मानते हैं। शब्दमें समाजके द्वारा माना हुआ संकेत नहीं, शब्दगत शक्तिमान्य है। मीमांसक और वेदान्ती दोनों कहते

हैं कि 'धर्म' शब्द जिस अर्थको प्रकट करता है, उसको केवल 'धर्म' शब्द ही करता है। 'ईश्वर' शब्दका जो अर्थ है, उसको केवल 'ईश्वर' शब्द ही करता है। ईश्वर जब प्रकट हुआ और जो ध्वनि 'ईश्वर' शब्दकी अभिव्यक्तिमें प्रकट हुई, वह ध्वनि और अर्थ एकमें मिला हुआ है। दुनियाकी किसी भी भाषामें यह बात नहीं है। यह हमारी सहज स्वाभाविक भाषामें शक्ति है। आप अंग्रेजी पढ़े-लिखे बहुतसे लोग यहाँ बैठे हैं! अपना अपमान नहीं समझना और न अपनी भाषाका ही अपमान समझना। हम आपको समझानेके लिए यहाँ एक शब्द आपके सामने रखते हैं—

'देहं पृथक्कृत्य'—कहते हैं कि यदि तुम देहको पृथक् कर दो! अब यहाँ 'देह' शब्दका प्रयोग करके यह बात बतायी गयी है कि 'देह' माने भानमतिका कुनबा! यह 'देह' और देह शब्दका अर्थ है। 'देह' माने दिह् उपचये—माने ढेर, राशि, कई चीजोंकी पुड़िया। 'कहींका ईंट, कहींका रोड़ा, भानमतिने कुनबा जोड़ा।' तो 'देह' माने एक चीज नहीं। 'देह' माने हाथ अलग, पाँव अलग, सिर अलग, दिल अलग, दिमाग अलग। 'देह' माने मल, मूत्र, रक्त, पीव, हड्डी, मांस, चाम।

अब 'पृथक्कृत्य'का अर्थ समझो! ऐसे मत समझना कि हुकुम दे दिया कि अलग कर दो! इसके साथ एक समझ दी। हम पंडिताई बात ज्यादा नहीं करते हैं। अलग कर दो माने क्या उठाकर फेंक दो? नहीं। आप यह समझो कि देह है अनेक चीजोंसे बना हुआ। तो क्या आप भी अनेक हैं? क्या आपको कभी यह अनुभव होता है कि मैं अनेक हूँ? तो यहाँ 'देह' शब्दका स्वभाविक अर्थ क्या हुआ? अनेक वस्तुओंकी बनी हुई एक पुड़िया और पुड़ियामें अनेक दवायें भरी हुई हैं, अनेक गन्दगियाँ भरी हुई हैं, अनेक कीड़े भरे हुए हैं और सभी कीड़ोंमें मैं-मैं-मैंकी दाल चुर रही है। तो करोड़-करोड़ कीड़े आपके शरीरमें मैं-मैं-मैं करके घूम रहे हैं और आप बिलकुल एक हैं।

तो 'देहं पृथक्कृत्य'का अर्थ क्या हुआ कि बाबा, इतना तो समझो

कि यह है अनेक वस्तुओंका ढेर और तुम हो एक। सो 'पृथक्कृत्य'का अर्थ यह नहीं है कि जैसे तिल और चावलको अलग-अलग रख देते हैं, ऐसे इसको रख दें। इसका अर्थ है, देह और आत्माको अलग-अलग समझना। यह सब धातुएँ जो हैं, ये ज्ञानार्थक हैं। 'पृथक्कृत्यं'में पृथक् और कृत्वा माने पृथक् इति अवबुद्ध्य। बुद्धिसे यह जानो कि यह 'देह' अनेक वस्तुओंसे बना हुआ, जन्म और मरणसे युक्त, बढ़ती और घटतीसे युक्त है। यह 'देह' शब्दका स्वाभाविक अर्थ है, समाजके द्वारा सांकेतिक अर्थ नहीं है। समाजके द्वारा सांकेतिक अर्थ तो यह है कि गायकी इकाई, मनुष्यकी इकाई, मच्छरकी इकाई, साँपकी इकाई। इकाईका नाम देह है, यह समाजके द्वारा सांकेतिक है। और, जिस समय 'देह' शब्दकी ध्वनि समष्टिमें प्रकट हुई, उस समय किस अर्थमें प्रकट हुई? यह जो 'देह' शब्दकी स्वभाविक अभिव्यक्ति है, उस अर्थमें प्रकट हुई।

औत्पत्तिकः शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः।

यह सामाजिक संकेत नहीं है। यह योगकी उत्कृष्टतम भूमिमें बैठकर जो ध्वनियोंका अनुभव होता है, यहाँ वेद मंत्र सुनायी पड़ते हैं, यहाँ महात्मा लोग वेदके मन्त्रोंके द्रष्टा होते हैं। वहाँ जब प्राकृत देह शब्दका, ईश्वरीय देह शब्दका, संबलमात्र जब 'देह' शब्द उच्चारण होता है, तो वहाँ उसका अर्थ होता है—अनेकताका ढेर और आत्मा उससे पृथक्।

तो नारायण, तुमने अपने 'मैं'को देह जो डाल लिया है और बुद्धि, विवेकके द्वारा देहमें-से 'मैं'को उठा लो। यह एक बात कही गयी।

दूसरी बात क्या है? 'विश्राम्य'—यह विश्राम! देहसे पृथक् होकर यह दूसरी भूमिका है। इसमें भी यदि आप आँख बन्दकर अपनेको देहसे पृथक् होनेकी भावना करेंगे या देहसे अलग मान बैठेंगे या देहसे अलग सुनकर बैठेंगे तो विवेक पूर्वक अलग न होनेके कारण जब वह विश्राम आपका टूटेगा, तब सीताराम आप फिर देहमें आ जायेंगे।

तो 'विश्राम' विवेकपूर्वक हुआ है कि बिना विवेकके हुआ है? यह है वज्र! तुमने समझ-बूझकर अपनेको देहसे अलग विश्राम किया है कि बिना समझे, किसीके देहसे मान लिया है या भावना कर ली है या सोच लिया है कि मैं अलग हूँ!! ऐसे नहीं। विवेक करके अलग होना।

विश्राम क्या है? 'विश्राम'का अर्थ है—कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्वके उल्लेखसे शून्य। मैं किसी कर्मका कर्ता पहले रहा हूँ, इस समय हूँ और आगे रहूँगा। यदि आप बैठकर यह सोचते हैं कि मैंने आगे बड़े-बड़े काम किये हैं—ऐसी तो यूनिवर्सिटी बनायी है और ऐसा दानखाता खोला है और ऐसा हॉस्पिटल बनाया है, ऐसा व्यापार किया है। तो कुछ देरके लिए इनको भुलाकर अपने स्वरूपमें बैठ गये और फिर उठे तो फिर यही किये। एक गरीब बेचारा धरती पर सो गया। नींदमें देखा कि मैं स्वर्गमें हूँ। लेकिन उठा तो फिर वहीं धरतीके धरती पर। तो यह जो हजार तरहके अभिमान अपने जीवनमें धारण कर रखे हैं, उनको आप थोड़ी देरके लिए यदि भुला भी दें तो उठनेके बाद फिर उनसे जुड़ जाओगे। यह तो ऐसे ही हुआ कि जैसे स्विच दबा दिया और बल्बमें बिजली आना बन्द हो गया और जब फिर स्विच खोल दिया जायेगा, तो बल्बमें बिजली आ जायेगी। तो आपका यह विश्राम जो है—यह विवेकपूर्वक है कि केवल तात्कालिक अभ्यास, तात्कालिक साधना, तात्कालिक भावना, तात्कालिक मान्यता रूप है?

एक दिन एक बड़े सेठ आये थे। हमारी उन्होंने बड़ी तारीफ की। तो क्या तारीफ की कि महाराज, आपका बहुत पढ़े-लिखे लोगोंसे सम्बन्ध है। मैंने कहा कि फिर क्या हुआ? चाहे तुम लोग जितना पढ़ लिख जाओ। हमारे पास एक-एक ऐसी विद्या है, जो तुम्हारे पढ़े-लिखे लोगोंके पास नहीं है। वह हमारी अपनी विद्या है। तुम अपने पढ़े-लिखेका अभिमान मत करना। हमारे पास एक ऐसी विद्या है जो पढ़े-लिखेसे, करोड़पति होनेसे नहीं मिलती है। वह बोला, ऐसा है महाराज!! मैंने कहा कि हाँ, ऐसा है। तुम समझते हो कि पढ़े-लिखे

आदमीसे सम्बन्ध होनेसे हम धन्य-धन्य हो गये! तो पढ़ायी-लिखायी जहाँसे निकली है, वहाँ तो हम बैठे हैं। जहाँसे शब्दका उदय होता है, जहाँसे विद्याका उदय होता है, विद्या जिसका विवर्त्त है, वृत्ति जिसका विवर्त्त है, व्यवहार जिसका विवर्त्त है—उस अपने अखण्ड स्वरूपमें बैठे हुए हैं और तुम हमें बताते हो कि यह जो सामने सपनेके खेल होते हैं, ये बड़े भारी महत्त्वपूर्ण हैं?

तो 'विश्राम'का क्या अर्थ होता है? एक तो पहलेके कर्म मेरे किये हुए हैं—यह अभिमान न रहे और इस समय कोई कर्म हो न रहे हों और आगे हम कोई कर्म करेंगे—यह संकल्प न हो। भूत और भविष्यके कर्मोंके साथ भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है और इस समय तो कर्म करनेवाले शरीरसे ही सम्बन्ध नहीं है।

और, पहलेके मिले हुए सुख-दुःख नहीं हैं, आगेके मिलनेवाले सुख-दुःख नहीं हैं और वर्तमानके सुख-दुःखसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। और, पहले हम नरक-स्वर्गमें कभी नहीं गये हैं। आगे कभी नहीं जायेंगे और इस समय देह-रूप स्वर्ग-नरकमें हम बैठे नहीं हैं। तो, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, वासना, लोक-परलोक आदिके सम्बन्धसे शून्य और वह भी विवेक मूलक 'विश्राम्य'।

अब तीसरी बात देखो—थोड़ी देरके लिए ऐसा सोच बैठना—यह नहीं। 'तिष्ठसि'। माने फिरसे भ्रान्तिका उदय होकर, जब आप अपने विश्रामको छोड़कर व्यवहारमें आवें, तब भी नारायण अपनेको कर्त्ता, भोक्ता, संसारी न मान बैठें! षठा गति निवृत्तौ-फिरसे मुड़ न जायें। देहसे अलग होकर चिति विश्रम्य।

मूल बात यह है कि आपका विश्राम कहाँ है? जड़तामें कि चेतनतामें। समाधि तो ऐसी होनी चाहिए, जिसमें अन्धकार न हो। 'विश्राम' ऐसा होना चाहिए, जिसमें अन्धकार हो और 'क्रिया' ऐसी होनी चाहिए, जिसमें अभिमान न हो! माने व्यवहार तो ऐसा हो कि उसमें अभिमानका उदय न हो। 'विश्राम'में अन्धकारका न होना माने अज्ञानका

न होना। बोले कि तब किसका प्रकाश रहेगा वहाँ? बिजलीका, सूर्यका, अग्निका, वाग्ज्योतिका? माने उस समय किसकी रोशनीमें क्या दिखायी पड़ेगा? तो, जहाँ वाग्ज्योति और मनोज्योति नहीं काम करती, जहाँ सूर्य-ज्योति और चन्द्रज्योति काम नहीं करती है। माने जहाँ आँखसे कोई रूप दिखायी नहीं पड़ता और जहाँ मनसे कोई कल्पना नहीं होती वहाँ वाग्ज्योति माने शब्द एक नवीन कल्पना उत्पन्न करता है। तो 'चिति विश्रम्य तिष्ठसि'का अर्थ यह है कि न तो प्रत्यक्ष मूलक कोई कल्पना बने और न अनुमान मूलक कल्पना बने और न ही शब्द मूलक कल्पना बने। केवल स्वयंप्रकाश आत्म-ज्योति ही रहे और यह चमककर चली जाय, सो नहीं। 'तिष्ठसि'।

देखो तीन बात सुनायी—चिन्मात्रका जो विश्राम है, वह सन्मात्रके विश्रामसे विलक्षण है। देखो, एक तो व्यवहारमें पुस्तक है, तुम हो और मैं हूँ। तो व्यवहारमें आप जानते हैं कि 'है'से 'हो' अच्छा है और 'हो'से 'मैं' अच्छा है। उत्तम पुरुष 'मैं'को बोलते हैं। अरे, आप यह जानते हो कि पैसा है और पैसा मेरा है और 'है' किसका है, पता नहीं और 'मेरा है'—यह तो अच्छा है। लेकिन महाराज, पैसा है कि नहीं है—दोनोंसे उत्तम चीज है वहाँ आत्मप्रकाश, जिसने पैसेको पैसा बना रखा है। अब व्यवहारकी इन तीनों चीजोंको छोड़ दो। समाधिमें 'है' और ईश्वरमें 'हो'। माने 'है' पदसे उपलक्षित है समाधि। परन्तु आत्मचैतन्य यदि उस समाधिको प्रकाशित न करे तो वह मुर्दा है। वह 'है' जड़ता है, जिसमें आत्म-चैतन्यका अन्वय न हो और वह ईश्वर हो, तो किस कामका? यदि मैं उसकी शरणमें न हो, यदि मैं उसको मेरा न माने, मैं उसका हो न जाय और, ईश्वर और समाधिके बिना भी जो 'मैं' पदसे उपलक्षित चिन्मात्र-वस्तु है आत्मतत्त्व, वह 'है' और 'तुम', 'वह' और 'तुम', 'यह' और 'वह' दोनोंसे विलक्षण है। वह स्वयं प्रकाशमान है और दूसरेके संसर्गसे बिलकुल रहित है। 'तिष्ठसि' जरा टिकने दो।

तो; यह तीसरी बात है, 'तिष्ठसि'—जरा टिक जाओ!

तीन साधनके तीन फल

अब देखो, यहाँ तक साधन बताया। अब फल देखो।

तो, एक होता है धर्मका फल, जो इस जीवनमें भी बादमें मिल सकता है और मरनेके बाद भी नरक, स्वर्ग, पुनर्जन्मादिके रूपमें मिल सकता है। तो मारो उसको गोली!! यह जो आत्म-स्वरूप है, यह जो ज्ञान है, यह जो विवेक है, यह जो निष्ठा है—यह जो क्षेत्री है, वह सारी दुनियाका एक है! दो नहीं है!!

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

यह अखण्ड, यह अद्वितीय परमात्मा 'अधुनैव'। स्वर्गमें जाकर सुखी होओगे, नरकमें जाकर दुःखी होओगे—यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो 'हाथ कंगनको आरसी क्या?' तो, लौकिक देशमें जो भौतिक कला है, उसमें काश्मीरमें जाकर सुखी होंगे और मुम्बईमें दुःखी हैं और देशमें नहीं, स्विडजरलैंडमें जायेंगे, तब सुखी होंगे—यह विदेशकी कला हो गयी। मरनेके बाद स्वर्गमें जाकर सुखी होंगे—यह धर्मफलकी कला हो गयी और वैकुण्ठमें जाकर सुखी होंगे, यह ईश्वरानुग्रहकी कला हो गयी और समाधिमें स्थित होकर सुखी होंगे, यह अभ्यासकी कला हो गयी। पर ये अष्टावक्रजी महाराज बोलते हैं, 'अधुनैव'। 'अधुनैव' माने अभी-अभी। 'एव' शब्दको संस्कृत भाषामें अवधारण बोलते हैं।

इसका अर्थ यह है कि पहले भी तुम दुःखी नहीं थे। पहले भी तुम अशान्त नहीं थे। पहले भी तुम बद्ध नहीं थे। यह तो एक भ्रम था, एक अज्ञान था, एक अविवेक था—जिसके कारण तुम अपनेको दुःखी मान रहे थे, तुम अपनेको अशान्त मान रहे थे, तुम अपनेको बद्ध मान रहे थे। लो, अभी-अभी!! सुखीका अर्थ है, दुःख-विनिर्मुक्त परमानन्द स्वरूप, परम स्वतन्त्र। स्वतंत्रताके बिना दुःखकी निवृत्ति नहीं होती। हमने देखा है कि बच्चे माँ-बापकी परतन्त्रताको भी पसन्द नहीं करते। शिष्य, गुरुकी परतन्त्रताको भी पसन्द नहीं करते। धर्मकी परतन्त्रता, शास्त्रकी परतन्त्रता,

ईश्वरकी परतन्त्रता, अभ्यासकी परतन्त्रता कि इतना करो, तब रोजी-रोटी मिलेगी! इस बातको कोई पसन्द नहीं करता है।

तो 'सुखी'का अर्थ क्या है?

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखं।

सर्व स्वातन्त्र्य! पशुत्वमात्रकी निवृत्ति!! 'पशुत्व' माने पराधीनता। जैसे सेठोंके पास एक-एक चमचा रहता है। चमचा वह नहीं—जिससे उठाकर खाया जाता है। एक आदमी होता है चमचाके रूपमें, जो भोग ला-लाकर सेठके सामने उपस्थित करता है। तो ये जितने देवता होते हैं, ये अपने पास एक-एक चमचा रखते हैं, पशु बनाकर। आपके ऊपर यदि कोई देवता बहुत खुश होगा तो वह आपको अपना पशु बनावेगा। अब आप सुखी कहाँसे होंगे? मैं दूसरा हूँ और यह दूसरा है—ऐसा मानकर जब उपासना करेंगे तो आपके पशुत्वकी आत्यन्तिक-निवृत्ति नहीं होगी। तो सुखीका अर्थ है, सर्वविध पशुत्वकी निवृत्ति। पारतन्त्र्यकी निवृत्ति, पराधीनताकी निवृत्ति।

तो नारायण, जहाँ तक आप 'उपाधि'को 'मैं' 'मेरी' समझेंगे, वहाँ उपाधि-नियन्त्रणके द्वारा आपका नियन्त्रण ईश्वर करेगा। जबतक बैलकी नाकमें नाथ लगी रहेगी, तबतक नाथ पकड़ कर किसान उसका मुँह मोड़ेगा। जब तक घोड़ेके मुँहमें लगाम लगा रहेगा, तबतक लगामके द्वारा सवार घोड़ेको चलायेगा। इसी प्रकार, जबतक आप अन्तःकरण, देहादिकी उपाधिको 'मैं' और 'मेरी' स्वीकार करेंगे, तबतक उस उपाधिके संचालनके द्वारा ईश्वर आपको पराधीन रखेगा। जहाँ उपाधि छूट गयी, वहाँ न कर्म है, न अभ्यास है, न उपासना है, न संस्कार है, न प्रारब्ध है, न व्यक्तित्वका पर्दा है। पशुत्वसे मुक्त हो जायेंगे। 'अधुनैव सुखी'।

'शान्तः'—सारी अशान्ति दूर हो जायेगी। 'अशान्ति' क्या है? अभी सुख नहीं मिलेगा, तब मिलेगा। यहाँ नहीं मिलेगा, वहाँ मिलेगा। इसमें नहीं मिलेगा, उसमें मिलेगा। खीर खाते-खाते तबीयत ऊब गयी,

अब चटनी चाहिए! ब्याह होनेपर प्रेमका भूत उतर गया। बोले कि अब दूसरेकी ओर झुकाव चाहिए। बिना सनसनीके प्रेम भी मजा नहीं देता। इसीका नाम 'अशान्ति' है। कुछ-न-कुछ सनसनी चाहिए।

तो सारी अशान्ति मिट जायगी कि यह चाहिए, वहाँ जाना चाहिए, वह पाना चाहिए, उनकी शरण लेनी चाहिए, उनकी खुशामद करनी चाहिए। कोई जरूरत नहीं!! अशान्तिका उपादान अपने मनमें होता है, बाहर नहीं होता है। कोई किसीको अशान्ति नहीं देता! अपना मन अशान्ति देता है और वह भ्रमके कारण देता है। जब आप अपने स्वरूपको देखेंगे परिपूर्ण, तब बन्धुमुक्तो भविष्यसि। यह जो बन्धनका अभिमान है कि मैं बद्ध हूँ, तो अविद्या ही बन्धन है।

भक्त लोग कहते हैं कि अभक्ति, बन्धन है। योगी लोग कहते हैं कि वृत्ति-विक्षेप बन्धन है। कर्मी लोग कहते हैं, कर्म बन्धन है। वह कर्मसे कटेगा। उपासक कहते हैं कि भक्तिसे बन्धन मिटेगा। चित्त-वृत्तिका विक्षेप रूप बन्धन समाधिसे मिटेगा—यह योगियोंका कहना है। वेदान्तका केवल एक ही दृष्टिकोण है! जरा भी नमक-मिर्च उसके साथ नहीं लगती है! वह यह है कि केवल अज्ञान ही बन्धन है। अपने स्वरूपको न पहचानना मात्र बन्धन है। इसलिए, जहाँ अपने स्वरूपको पहचाना, वहाँ बन्धन न कभी था, न है और न होगा। अशान्ति न कभी थी, न है, न होगी और, दुःख न कभी था, न है और न होगा।

तो 'अधुनैव-अधुनैव'! लो, बिना किसी इन्तजारके अभी तुम्हारा स्वरूप परमानन्द है!!

●

प्रवचन : 6

धर्म, उपासनासे वेदान्तकी विलक्षणता

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव॥ 1.5

कई लोग ऐसे होते हैं, जो यह विचार करते हैं कि हमको क्या चीज रखनी चाहिए और क्या नहीं रखनी चाहिए! तो यह धर्मकी बात हो गयी। ईमानदारीसे क्या हमको रखना चाहिए और क्या नहीं रखना चाहिए। क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए—यह भी धर्मकी बात है। और, क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए—यह भी धर्मकी बात है। कहाँ रहना चाहिए और कहाँ नहीं रहना चाहिए—यह भी धर्मकी बात है। हमको अपना समय कैसे बिताना चाहिए—यह भी धर्मकी बात है। तो अब जब हम तत्त्वकी चर्चा करें, जब हम मिट्टीकी चर्चा करें तो हमको घाव पर पीली मिट्टी लगानी चाहिए, काली मिट्टी नहीं लगानी चाहिए—यह दवावाली बात हमको मत पूछिये! क्योंकि, हम पृथिवी तत्त्वकी चर्चा कर रहे हैं, जिसमें कहीं पीलापन होता है, कहीं कालापन होता है, कहीं बालूपना होता है। बालूवाली मिट्टी सात्त्विक होती है, पीली मिट्टी वैष्णव होती है और काली मिट्टी संसारी होती है। काली तामस है और पीली सत्त्वोन्मुख राजस है और बालू-मिट्टी असंग है। तो यह दूसरी चर्चा है और मृत्तिका तत्त्वकी जो चर्चा है, वह उसके आकार, विकारकी चर्चा छोड़ कर, उसके नाम-रूपकी चर्चा छोड़कर एक शुद्ध तत्त्वकी चर्चा होती है।

तो यह धर्मकी चर्चा है कि क्या रखें, क्या न रखें, क्या खायें, क्या न खायें, क्या करें, क्या न करें, कहाँ रहें, कहाँ न रहें!! आप अपने-अपने मजहबके अनुसार, अपने धर्मके अनुसार इसको करते रहिये।

अब दूसरी बात है—प्रेम करना, आसक्ति करना। तो यह स्थान ही दूसरा है। दुनियामें जो टुकड़े-टुकड़ेसे जो प्रीति है, वह दुःखद है, गलत

है। अपने शरीरसे प्रीति है, पत्नीसे प्रीति है, पुत्रसे प्रीति है, इसमें कहीं-न-कहीं दु:ख मिलेगा अवश्य। क्योंकि इसमें पक्षपात होता ही है। यह इसका स्वभाव है। यह जिससे होता है, उसमें दोष नहीं दिखते हैं और फिर आदमी अन्धा हो जाता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए! तो नारायण, प्रीतिमें भी विवेक करना कि कहाँ करना और कहाँ न करना?

सबसे जो प्रीति है, 'सर्वात्मभाव' वह श्रेष्ठ होती है। अब इसमें देखो, अपने माता-पितासे प्रीति—यह सत्तासे प्रीति है। जिस पति-पत्नीसे भोग मिलता है, उसकी अपेक्षा भी भोग देनेवाले माता-पितासे ज्यादा प्रीति! तो माता-पितासे प्रीति सत्-प्रीति है और ऋषि तथा संतसे जो प्रीति है, वह चित्-प्रीति है माने ज्ञानसे प्रीति है और देवतासे जो प्रीति है, वह चित् और भोगकी प्रीति है। अपने धर्ममें इन तीनोंकी उपासनाका स्थान है—पितृ-पूजा, ऋषि-पूजा और देव-पूजा। अब देखो—सर्वात्मभाव, पितृभाव, ऋषिभाव और देवभाव—इन सबको एकमें मिला दो तो उसका नाम हो जायगा 'ईश्वर-स्वरूप'। ईश्वर हमारा पिता भी है, हमारा गुरु भी है, हमको सुख देनेवाला भी है और सर्वात्मक भी है। यह उपासना हुई। यह उपासना तीन रीतिसे चलती है—सबसे प्रीति और सबसे परे जो ईश्वर है, उससे प्रीति और अपनेसे प्रीति माने आत्मप्रीति। अब इसमें पूर्णकी उपासना तो हो नहीं सकती। तो उसका प्रतीक बनाकर ईश्वरकी पूजा करना होता है। तो बीज रूपसे शालग्राममें, नर्मदाशंकरमें पूजा होती है और अंकुर रूपसे मूर्तियोंमें पूजा होती है। यह सब पूजाके विधान हैं। यहाँ इनका विज्ञान बताना हमको अभीष्ट नहीं है। वैसे सारा बचपन हमारा इन्हीं बातों पर सोचते हुए बीता है! अब आजकलके बच्चे हमको आकर कह देते हैं कि आप तो केवल वेदान्त-ही-वेदान्तकी बात कहते हैं! उपासनाकी बात हमको सुनाओ!!

अब देखो, पितृ-पूजामें भी जीवित पिता-माताकी पूजा और भूत, प्रेतके रूपमें पिता-माताकी पूजा और देवताके रूपमें पिता-माताकी

पूजा—ये भिन्न-भिन्न हैं। जो भोग प्रधान देश है, वहाँ पत्नीको मुख्यता दी जाती है और जो धर्म प्रधान देश हैं, जहाँ माताको मुख्यता दी जाती है। भारतवर्षमें माताकी मुख्यता है और विदेशोंमें पत्नीकी मुख्यता है।

अच्छा, उपासनामें भी देखो कि एक आदमीकी एक रुचि है सुपारीमें, खानेके लिए और एक आदमीकी रुचि है सुपारीमें व्यापार करनेके लिए और एक आदमीकी रुचि है सुपारीमें गणेशकी पूजा करनेके लिए! आप बोलो, सुपारी तो एक ही है! तो कुछ पैसा बनाना-यह एक चीज हुई और उसको खाकर सुखी होना, दूसरी चीज हुई और उसमें गणेशजीकी पूजा करना, तीसरी चीज हुई। तो सुपारीमें जो पैसा है, वह लोभ है और जो सुपारीमें भोग है वह काम है तथा सुपारीमें जो गणेशकी उपासना है, वह परमात्म-ज्ञानके लिए है। यह साधनाकी प्रक्रिया है। यह आप लोगोंकी नजरमें छोटी बात हो सकती है; क्योंकि आप लोग वेदान्तका बहुत ऊँचा-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हैं। परन्तु, इनमें भी विचारकी बहुत सारी बातें हैं—यह हमारा कहनेका अभिप्राय है।

एक होता है धर्म-सम्प्रदाय; एक होता है उपासना-सम्प्रदाय। तो; उपासनामें ये कबीर आदि जितने हैं, ये आत्मामें परमात्माकी उपासना करते हैं और एक वे लोग हैं जो ईश्वरकी उपासना करते हैं। तो ईश्वरकी सीधी उपासना तो नहीं होती। सो कहीं-न-कहीं उसको मानकर उसकी उपासना की जाती है। जैसे बच्चा अपने बापकी अंगुली पकड़ कर चल रहा है। तो किसीने कहा कि यह बच्चा अपने बापको पकड़कर चल रहा है। बोले कि छोटा-सा बच्चा और बड़े बापको कैसे पकड़ेगा? अरे भाई, पकड़ा तो अंगुली है, पर कहा यह जायेगा कि बच्चेने बापको पकड़ा है। इसी प्रकार, मनुष्य ईश्वरके एक अंशमें ईश्वरकी पूजा करता है और कहा यही जाता है कि यह ईश्वरकी पूजा कर रहा है। गुरुके रूपमें ईश्वरकी पूजा, पतिके रूपमें ईश्वरकी पूजा, माँके रूपमें ईश्वरकी पूजा, पिताके रूपमें ईश्वरकी पूजा, मूर्तिके रूपमें ईश्वरकी पूजा। कहीं-कहीं पत्नीके रूपमें भी ईश्वरकी पूजा होती है। बंगालमें यह प्रथा अभी तक जीवित है। कहीं

दोनोंके रूपमें ईश्वरकी पूजा होती है। पत्नी गौरी है और पति शिव है। पत्नी लक्ष्मी है, पति नारायण है। दोनों परस्पर एक-दूसरेकी पूजा करते हैं। ऐसी भी पद्धति प्रचलित है। हम दुनियाकी सब उपासना पद्धतियोंके बारेमें वर्गीकरण करके कि कौन, किस वर्गमें है, उनको जानते हैं।

अब यह योगियोंका जो निरोध-सम्प्रदाय है, वह दूसरी चीज है। न्याय-वैशेषिकके द्वारा ईश्वरके स्वरूपका विवेक करके उसके प्रति शरणागत हो जाना, उसकी भक्ति करना और उससे एक हो जाना—ये तीन बाते हैं। प्रेमसे ईश्वरका चिन्तन करना, यह दूसरी बात है और उसके ऊपर अपनेको छोड़ देना, यह दूसरी बात है। यह शरणागति है। और, 'मैं' और 'यह' एक हैं—यह दूसरी बात है। यह सब ईश्वरकी उपासना ही है। और, आत्माके रूपमें अपना विवेक करना—यह सांख्यका सिद्धान्त है और विवेक करके अपने स्वरूपमें बैठ जाना—यह योगका सिद्धान्त है और मैं, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ--ऐसी वृत्तिकी धारा बहाना, यह अहंग्रह-उपासना है।

तो, आत्माकी उपासना होती है, आत्माका विवेक होता है और आत्मामें स्थिति होती है—ये तीन सम्प्रदाय हैं। अब कोई पूछे कि इनमें-से वेदान्त कौन-सा है? इनमें-से कोई वेदान्त नहीं है। हम यह नहीं कहते कि ये साधन नहीं हैं। ये साधन हैं। तो योग-सम्प्रदायका साधन है, वृत्तिको शान्त करके साक्षी होना। सांख्य-सम्प्रदायका साधन है, आत्माका विवेक करना कि 'यह' दृश्य है और 'मैं' द्रष्टा हूँ और आत्मा, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है—यह वृत्तिधारा प्रवाहित करना, यह अहंग्रहोपासनाका सिद्धान्त है। हम केवल विवेक करनेके लिए कि वेदान्तका जो सम्प्रदाय है, औपनिषद्-सम्प्रदाय जो है—वह बिलकुल अलग है, यह बात हम समझाना चाहते हैं। आप किसी गड़बड़-सड़बड़को वेदान्त न मान बैठें। वेदान्तके नाम पर नास्तिकताको स्वीकार नहीं करें, इसके लिए यह बात आपको सुनायी।

तो वेदान्त जो है, असलमें प्रमाणजन्य प्रमारूप एक वृत्ति है। यह न

वृत्तिका दोहराना है और न वृत्तिका विवेक है और न वृत्तिकी शान्ति है और न ही वृत्तिका ईश्वराकार होना है।

देखो, जैसे दूसरी इन्द्रियोंसे अज्ञात लालिमाको हमने नेत्र-प्रमाणके द्वारा जानते हैं। तो अन्य इन्द्रियोंके द्वारा अज्ञात और नेत्र-इन्द्रियके द्वारा ऐसा ज्ञान कि फिर कोई यह न सिद्ध कर सके कि तुमने गलत देखा है। तो अज्ञातका ज्ञान हो और उसका फिर बाध न हो और उसमें संदेह न हो, तो उसको बोलते हैं प्रमाणके द्वारा वस्तुका ज्ञान! परन्तु, यह वेदान्त इस तरहसे ब्रह्मको ज्ञात नहीं करा सकता। यह ठीक है कि ब्रह्म, किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा ज्ञात नहीं है। क्योंकि वह अपना स्वरूप है, प्रमाणको प्रमाण बनाता है, प्रमाणको जिन्दा करता है। उसीकी वजहसे आँख देखती है, कान सुनता है, जीभ स्वाद लेती है। उसीकी वजहसे यह शरीर जिन्दा है, उसीकी वजहसे संसार जिन्दा है और उसीकी वजहसे ईश्वर जिन्दा है भला! अगर 'मैं' नहीं होगा तो ईश्वरको कौन जानेगा, कौन मानेगा, कौन पूजेगा?

तो नारायण, सम्पूर्ण ज्ञानोंके मूलमें जो बैठा हुआ है, वह स्वयं अपरोक्ष होनेपर भी जो उसमें अज्ञातता भास रही है, उस अज्ञातताको मिटानेका काम वेदान्त करता है और केवल एक बार! न तो वह दोहरानेकी विद्या है, न तो वह स्थितिकी विद्या है, न तो बारम्बार विवेककी विद्या है और न तो निरोधकी विद्या है। क्योंकि, निरोधमें न तो अखण्डका भान होता है और न खण्डका भान होता है। अखण्ड भी वहाँ विषय नहीं है और खण्ड भी विषय नहीं है। और, जो अपना आप है, उसको अखण्डत्वेन भी विषय नहीं कराना है और खण्डत्वेन भी विषय नहीं कराना है। केवल उसकी अज्ञातताका जो आवरण है, उसको भंग करना है। इसका नाम है 'वेदान्त-सम्प्रदाय'। वेदान्त-सम्प्रदाय माने उपनिषद्-सम्प्रदाय और उपनिषद्-सम्प्रदायका यह दावा है कि उसके सिवाय आत्माकी ब्रह्मताका साक्षात्कार करानेवाला और कोई सम्प्रदाय नहीं है।

सम्प्रदाय बहुतसे हैं, परन्तु वे अलग-अलग चीज देते हैं। स्वर्गरूप फल देनेके लिए धर्म है, इष्टलोक रूप फल देनेके लिए उपासना है, समाधि देनेके लिए और द्रष्टाको अपने स्वरूपमें स्थित करनेके लिए योग है। भिन्न-भिन्न फल देनेके लिए भिन्न-भिन्न प्रक्रिया है। परन्तु, आत्माका अद्वैत-बोध करानेके लिए केवल वेदान्तकी प्रक्रिया है।

अब इसके बाद हम मूलके श्लोकको लेते हैं।

विकृति-संस्कृति युक्त देहसे पृथक्ता

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि। 1.4

कल यह बात कही कि देहसे अपनेको अलग कर दो। अलग कर दो माने ऐसा नहीं है कि देहको छोड़ दो, काट दो, मार दो। आपके सामने एक घड़ा रखा है। आप मन-ही-मन घड़ा और मिट्टी—दोनोंका अलगाव करो। घड़ेके नाम-रूपको अलग करके देखो कि क्या है? घड़ा फोड़नेकी जरूरत नहीं। उसका बड़ा पेट बना रहने दो। उसका छोटा-सा गला बना रहने दो। उसमें पानी भरनेकी जगह रहने दो। मन हो तो पानी भरकर रखो। इससे कोई मतलब नहीं कि घड़ेमें पानी है कि दूध है कि शराब है। है तो रहने दो!! अच्छा, घड़ेका पेट बड़ा भी हो सकता है, छोटा भी हो सकता है। गला उसका पतला भी हो सकता है, सुराहीनुमा। हमारा घड़ेके आकारसे और उसमें क्या भरा हुआ है—उससे मतलब नहीं है। इसमें जो माटी है, उसकी हम पहचान कराना चाहते हैं।

एक और बात है, यदि आप ऐसे देखेंगे कि माटीसे घड़ा अलग है—अगर कोई ऐसा समझता हो तो माफ करना भाई! यह विवेक नहीं है, यह बेवकूफी है। मिट्टीसे घड़ा कभी अलग होता ही नहीं। घड़ेका जो नाम, रूप है—उससे अलग मिट्टी होती है। आत्मासे अलग ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट्, विश्व, तैजस, प्राज्ञ—ये सब होते ही नहीं। क्योंकि, आत्माकी ही सत्तासे इनकी सत्ता है और आत्माकी सिद्धिसे ही इनकी सिद्धि है। परन्तु, आत्मदेवका जब विवेक होता है, तब उनसे अलग करके

आत्माका विवेक किया जाता है। कार्यसे कारण पृथक् होता है, पर कारणसे कार्य पृथक् नहीं होता—यह इसका नियम हैं, फार्मूला है। कार्यका नाम-रूप कल्पित है और कारण एक सबीज तत्त्व है और निर्बीज होने पर उसका नाम 'ब्रह्म' हो जाता है। जहाँ किसी भी नाम-रूपका बीज नहीं है, वह सन्मात्र हो जाता है। लेकिन सन्मात्र भी यदि चिन्मात्रसे जुदा है, तो मुर्दा है।

तो यह देहसे अपनेको अलग करना है। देहके साथ दो चीज लगी हैं—एक विकार और एक संस्कार। विकार क्या है? यह जो हड्डी-मांस-चामका पुतला है, यह तो पंचभूतका विकार है और इसमें ब्राह्मणपना, संन्यासीपना संस्कार है। सुपारीका सुपारीपना तो पंचभूतका विकार है, लेकिन उसमें जो गणेशपना है, वह पंचभूतका विकार नहीं है। वह तो ब्राह्मणके द्वारा एक विधिसे मंत्रोच्चारण करके एक संस्कार है कि ये गणेश हैं। इसीलिए, सुपारी रहते उसमें गणेश नहीं थे और गणेशको लाया गया, बैठाया गया, पूजा की गयी और फिर, 'गच्छ-गच्छ....' कर दिया गया। माने विसर्जन कर दिया। तो जिसका आवाहन होता है, उसका विसर्जन होता है और जिसका आवाहन नहीं होता, उसका विसर्जन भी नहीं होता। तो सुपारीपनेका आवाहन होगा, न विसर्जन होगा। लेकिन, गणेशपनेका आवाहन होगा और विसर्जन होगा। परन्तु, सुपारीमें जो नाम-रूप है, वह बीज मूलक हैं। सत्ता-मूलक नहीं है। क्योंकि, सत्ता तो सुपारीमें भी होती है और अंगूरमें भी होती है। लेकिन अंगूरका गुण, स्वाद, शकल, कोमलता दूसरी है और सुपारीका गुण, रूप, नाम दूसरा है। लेकिन पंचभूतकी दृष्टिसे अथवा सत्ताकी दृष्टिसे दोनों एक हैं। प्रकाशकी दृष्टिसे दोनों एकसे ही प्रकाशित होते हैं। दोनोंका प्रकाशक आत्मदेव ही है।

अब देखो, प्रकाश्यत्वेन दोनों एक हैं और सत्तात्वेन दोनों एक हैं। परन्तु, उनमें जो गुण, धर्मकी विशेषता है, पृथक्ता है—वह बीजमूलक है। तो जो बीजमें-से विशेषता आयी है, वह विकार है और जो सुपारीमें हमने

गणेशपनाका आवाहन और विसर्जन किया—वह संस्कार है। अब यह जो आपका शरीर है, इसमें क्या विकार और क्या संस्कार है?

देखो, यह मनुष्यकी जो आकृति है, यह पंचभूतमें बीजमूलक विकार है। जैसे सुपारी, अंगूर, आम जिस बीजमें-से निकला, उसीकी शकलका होता है। तो यह जो मनुष्यका शरीर है, यह तो सत्तामें बीजमूलक विकार है और इसमें जो ब्राह्मणपना है, संन्यासीपना है, यह अध्यारोपित है। क्षत्रियत्व और वानप्रस्थत्व उसमें आरोपित है। वैश्यत्व और गृहस्थत्व उसमें आरोपित है। शूद्रत्व और ब्रह्मचारित्व आरोपित है। और, मनुष्यत्व जो है, यह बीजमूलक विकार है। माने आपकी जाति दो तरहकी है—एक आकृति ग्रहणाजाति। जिससे शकल-सूरत देखते ही हम पहचान लेते हैं कि यह सूअर है कि घोड़ा है कि गधा है कि आदमी है। सूअर और घोड़ामें जातिगत भेद है, आकृतिगत भेद है। लेकिन, मनुष्य और मनुष्यमें? यह ब्राह्मण है और यह क्षत्रिय है—इसके कारण आपको भेद दिखायी पड़ेगा। परन्तु, आकृति तो मनुष्यकी बिलकुल एक सरीखी है। रंग-रोगनमें भी फर्क होता है। लेकिन हमने देखा है कि बाप जो है, वह कोयलेकी तरह काला और बेटा, फिटकरीकी तरह चिट्टा। यह रंग-रोगन केवल बीजसे नहीं आता। बीज तो सबका ही सफेद होता है। उसमें खानेका प्रभाव, वातावरणका प्रभाव, नाना-नानीका प्रभाव, दादा-दादीका प्रभाव, गर्म देशमें होनेका प्रभाव, ठण्डे देशमें होनेका प्रभाव—सब आता है।

हमारी परिचित एक श्रीमतीजी थी—जब वे गर्भवती थीं, तब उन्होंने कोका-कोला पीना छोड़ दिया। बोलीं कि कहीं बच्चा काला न हो जाये। बिलकुल नारियल और उसमें भी छिलका निकाल कर, बादाम और उसमें भी छिलका निकालकर तब खाती थीं। और, दर असल उनका बेटा बहुत गोरा हुआ—इसमें कोई शंका नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद्में बेटा गोरा हो-इसके लिए क्या-क्या खाना चाहिए, यह बात लिखी है। हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ हो, तो कैसे करना और क्या खाना—सब उसमें लिखा है।

तो; मतलब यह है कि यह जो रंग-रोगन है, यह तो बाहरी चीज

है। परन्तु, मनुष्यकी जो आकृति है, वह दूसरी चीज है। मूर्ति लकड़ीकी है कि लोहेकी है—यह तो तत्त्वमें भेद हो गया। अच्छा, मनुष्य की है कि सूअर की है—यह आकृतिका भेद हो गया और काली है कि गोरी है-यह रंगका भेद हो गया। तो अब आपके शरीरमें जो ब्राह्मणपना और संन्यासीपना है, यह सुपारीमें गणेशकी तरह संस्कारके द्वारा लाया हुआ है, आपकी साधनाके लिए! इसीसे हमारे महात्मा लोग जाति दो तरहकी मानते हैं। अब कोई पूछ लेगा कि आप यह बात किस शास्त्रमें-से बता रहे हैं तो हम नाम नहीं बतावेंगे! क्योंकि, यह तो पोलपट्टी ही खुल जायेगी। माने जो लोग उधार लेकर अपनी ओरसे बात करते हैं, वे पकड़े जायेंगे।

तो देखो, एक आकृतिगम्याजाति होती है और एक उपदेशगम्याजाति होती है। यह जिसको 'वर्ण' बोलते हैं—ब्राह्मण-वर्ण, क्षत्रिय-वर्ण—*वर्णनात् वर्णः* माने वर्णनसे जो मालूम पड़े, उसका नाम होता है 'वर्ण'। काला, पीला, नीला नहीं। मुँहसे वर्णन करके शब्दगम्या है यह जाति। वर्णन करके बतायी जाती है।

अच्छाजी, अब देखो—'**न त्वं विप्रादिको**'—पहले यह जो प्रकृतिमें विकृतिके रूपमें आपका यह शरीर, जो आकृति है—उसमें एक संस्कार किया गया। वह क्या है? ब्राह्मणत्व, संन्यासित्वसे दोनों संस्कृति हैं। तो प्रकृति, प्रकृतिमें विकृति, विकृतिमें आकृति और आकृतिमें फिर संस्कृति की गयी कि आप ब्राह्मण हैं!

क्यों महाराज, हम तो मनुष्य हैं, हमको ब्राह्मण क्यों कहते हैं? हम आपको ब्राह्मण इसलिए कहते हैं कि आप यज्ञोपवीत धारण कीजिये, शिखा धारण कीजिये। एक व्रत अपने जीवनमें कीजिये और सन्ध्या-वन्दन कीजिये और वेदका स्वाध्याय कीजिये। आपके जीवनमें एक व्रत आवे—इसके लिए हम संस्कार करके आपमें वर्णका आधान करते हैं। अब यह जो आपके भीतर ब्राह्मणत्वका आवाहन किया गया, यह आवाहन जब आप संन्यास ग्रहण करेंगे तो इसका विसर्जन कर दिया जायेगा। जिसका अध्यारोप होता है, उसका अपवाद होता है। जिसका

आवाहन होता है, उसका विसर्जन होता है। जो वस्तु प्रयोजनके कारण स्वीकार की जाती है, प्रयोजन पूरा होने पर उसका परित्याग कर दिया जाता है। चोटी प्रयोजनके लिए है, यज्ञोपवीत प्रयोजनके लिए है। इसलिए जहाँ प्रयोजनपूर्ति हुई, वहाँ इसका अपवाद हुआ। नावको स्वीकार किया था नदी पार करनेके लिए। पार हो गये तो नावको नदीमें छोड़ दिया। जूता पहना था रास्ता पार करनेके लिए। रास्ता पार हो गये, अब घर पहुँच गये तो जूता निकाल दिया। अब महाराज, जूतेमें रास्तेकी सब गन्दगी लगी है और पहने ही पूजा घरमें चले गये कि रसोई घरमें चले गये। भोजन गृह आत्मपूजा है और पूजा घरमें ईश्वरपूजा है। तो आत्मपूजामें भी जूतेका प्रवेश नहीं है और ईश्वरपूजामें भी जूतेका प्रवेश नहीं है। जो जूतारूप मुर्दाको नहीं छोड़ सकता, वह हड्डी-मांस-चाम रूप मुर्दाको छोड़कर परमेश्वरके पास कैसे जायेगा? वह ब्रह्मात्मैक्य रूप महान् मंदिरमें कैसे जायगा?

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः। 1.5

देखो, आपके घरमें जो कुछ होता है, उससे हमारा कोई मतलब नहीं है। हमको मालूम भी नहीं है। यदि किसीके ऊपर कोई बात घटती है तो उसको अपने ऊपर नहीं घटाना चाहिए। वह तो एक विवेक हम आपके मनमें जाग्रत् करना चाहते हैं कि आपमें स्वयं इस दिशामें विचार करनेका सामर्थ्य आवे। अब किसी-किसीका तो प्रेम अपने बच्चेसे ज्यादा कुत्तेसे होता है। रोते हुए बच्चेको आया की गोदमें दे देते हैं कि तुम इसको सम्भालना और खुद, कुत्तेको अपनी मोटरमें लेकर घूमनेके लिए निकल जाते हैं! तो अपने बच्चेसे ज्यादा प्रेम करना कि कुत्तेसे ज्यादा प्रेम करना— यह तो संसारी लोग अपने विवेकसे समझेंगे, तब उनको मालूम पड़ेगा। दूसरेके विवेकसे तो काम चलेगा नहीं!

'न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी'—देखो, यह जो प्रकृतिका विकार रूप देह है, इस देहमें ब्राह्मणत्वका आधान किया गया है। आपके संस्कारको ठीक करनेके लिए, आपके भावको ठीक करनेके लिए,

आपको वेदपाठ करानेके लिए, गायत्रीकी उपासना करनेके लिए, शुद्ध सदाचारी होनेके लिए एक साधन है। अब जहाँ आपको एक देहसे ऊपर उठकर सत्यसे एक होना है, ज्ञानसे एक होना है, आत्मासे एक होना है—वहाँ इस ब्राह्मणत्वको देहमें डाल दीजिये। आपके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। इसको एक मनुष्याकार शरीरमें डाल दीजिये।

'नाश्रमी'—यह आश्रमीपना भी आरोपित ही है। क्योंकि, जहाँ पर अवधूतका वर्णन आता है—अबसे चालीसवर्ष पहले मैंने जीवन्मुक्ति-विवेक पढ़ा होगा, तो उसमें नारदपरिव्राजकोपनिषद्की एक श्रुति उद्धृत की हुई है। अवधूतको कैसे रहना चाहिए? बोले कि 'यथा जात रूप धराः'—जैसा पैदा हुआ था, वैसे ही रहे। माने आदिमें जैसा, अन्तमें वैसा। मरनेके समय मनुष्यको कैसा होना चाहिए? जैसे सरल चित्त बालक होता है। नंगे हैं कि कपड़ा पहने हुए हैं—इसको माँ जाने। बच्चा नहीं जानता है। और, दूध पीना चाहिए कि कड़वी नीमकी दवा पीनी चाहिए—इसको भी बच्चा नहीं जानता है, माँ जानती है। 'यथा जात रूप धराः'—निष्कपट, सरल, बिना आडम्बरका दिगम्बर है—वही मनुष्यकी अन्तिम अवस्था है। बीचमें सारा-का-सारा अध्यारोप है और उसका अपवाद हो जाता है। हमारा असली रूप यही है, जब माँके पेटमें-से निकला था और जानेके दिन, बिलकुल नंगा करके नहला लेते हैं। जेवर, कपड़ा सब उतार लेते हैं। भले ही घरमें न रखें, चाण्डालको ही दे दें। यहाँ तक कि शरीर भी ले जाने नहीं देते हैं।

तो आश्रमी और वर्णी—'आश्रम' साधनके दृष्टिकोणसे होता है। गुरुकी सेवा की प्रधानतासे ब्रह्मचर्याश्रम है। माता-पिता, पत्नी, पुत्र आदिकी सेवाके अभिप्रायसे गृहस्थाश्रम है। असंगताके अभिप्रायसे वानप्रस्थाश्रम है। धर्मके लिए ब्रह्मचर्य, उपासनाके लिए गृहस्थ और योगके लिए वानप्रस्थ—ये 'आश्रम हैं'। वानप्रस्थमें पत्नी साथ है, परन्तु भोगका सम्बन्ध नहीं है। योग तो है, परन्तु भोग नहीं है। और, अद्वैतताकी दृष्टिसे संन्यासाश्रम है। वहाँ पत्नी साथ नहीं है। अब देखो, अपने आपमें

यह आश्रमीपना और वर्णीपना आवाहन और विसर्जनसे आता जाता है। इसीको वेदान्तकी भाषामें अध्यारोप और अपवाद बोलते हैं और इसीको अधिकारीभेदसे धर्म बोलते हैं।

भला हम, ये वर्णी, आश्रमी क्यों नहीं है? इसका कारण बताते हैं। 'नाक्षगोचर' माने किसी खुर्दबीनसे, दूरबीनसे आँखमें अगर दस लाख अथवा दस करोड़ गुना दिखानेकी ताकत आजाय और दस करोड़ गुना कम करके सूक्ष्मको दिखानेकी ताकत आजाय; लेकिन अगर आँख ही न होये तो आपकी मशीन क्या करेगी? मशीन बेकार! ईश्वरकी बनायी मशीन अगर आपके पास न हो तो कौन-सी मशीन चलाओगे? तुम्हारी बनायी जितनी मशीने हैं, वे ईश्वरकी बनायी मशीनके साथ जुड़कर ही काम दे सकती है। दिल नहीं है, दिमाग नहीं है तो मशीन क्या करेगी? कम्प्यूटर क्या करेगा? तो बात यह है कि आप किसी भी इन्द्रियके विषय नहीं है। 'विषय' माने दृश्य। 'नाक्षगोचरः'। 'अक्ष' माने इन्द्रियाँ।

मोटरके दोनों पहियोंको जोड़नेके लिए जो एक बीचमें डंडा सरीखा होता है, उसको 'अक्ष' कहेंगे। तो यह आत्मा और विषयको जोड़नेके लिए बीचमें जो 'धुर्रा' है, जिससे दुनियाकी गाड़ी चलती है, उसको बोलते हैं 'अक्ष'। ये हैं इन्द्रियाँ! ये हैं मनोवृत्तियाँ। एक पहियेकी जगह पर आत्मा है और एक पहियेकी जगह पर संसारका विषय हैं। '*ते इदं अश्नुते इति अक्षः*'—जो इन्द्रिय और विषय दोनोंको छूता हो, उसका नाम 'अक्ष' होता है।

तो असलमें यह 'अक्ष' जो है, वह आपको छूता नहीं। एक ओर अहंकारको छूता है और एक ओर विषयको छूता है और यह बीचमें रहता है। अहंकारोपलक्षित आत्म-वस्तुको नहीं छूता है। इसलिए, तीन बात आपके ध्यानमें आनी चाहिए—

पहले तो वर्ण और आश्रमका भेद आपमें नहीं है। वर्ण और आश्रम-यह हुआ पक्ष। ये आपमें हैं कि नहीं है? यह प्रश्न हुआ। और, नहीं हैं—यह निर्णय हुआ। और इस निर्णयका हेतु क्या है? क्योंकि, आप

अक्षगोचर नहीं हैं–यह हुआ हेतु, कारण। वर्ण और आश्रम उसमें होते हैं, जो इन्द्रियका विषय होता है और आप इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अन्तःकरणके विषय नहीं है। इसलिए आपमें वर्ण और आश्रम नहीं है।

फलितार्थ

अब फलितार्थ देखो! इसके निष्कर्षमें तीन बात निकलीं—

असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव। 1.5

साहित्यमें इसको अधिकरण बोलते हैं। विषय क्या है? उसमें संशय क्या है? उसमें वादी क्या कहता है और प्रतिवादी क्या कहता है और जजका फैसला क्या है? ये पाँच विषय होते हैं। एक घड़ी है–यह विषय हुआ। एक कहता है कि यह मेरी है—यह वादी हुआ है। दूसरा कहता है कि इनकी नहीं, मेरी है—यह प्रतिवादी हो गया। पूर्वपक्षका उत्तरपक्ष आगया। जजने बयान सुनकर फैसला दे दिया कि असलमें यह घड़ी किसकी है। इसको अधिकरण रचना बोलते हैं। हमारे पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा–दोनोंमें सब वस्तुका इसी ढंगसे प्रतिपादन होता है। नैयायकि लोग पाँच बात दूसरी मानते हैं—एक तो प्रतिज्ञा, उदाहरण और निगमन—ये विभाग होते हैं और पक्ष, साध्य और हेतु और, उदाहरण और निगमन—ये पाँच दूसरे हैं।

अब आपको फलितार्थ सुनाते हैं कि क्या निकला?

असङ्गोऽसि, निराकाराऽसि, विश्वसाक्षीऽसि।

जब तुम इन्द्रियके विषय नहीं हो तो एक फलितार्थ यह निकला कि तुम निराकार हो। इन्द्रियका जो विषय नहीं होगा, उसमें आकार कहाँसे आवेगा? आकार तो इन्द्रियोंसे ही दिखायी पड़ेगा। माने तुम ऐसी 'सत्ता' हो, तुम ऐसे 'सत्' हो, तुम ऐसे 'है' हो, जिसमें कोई आकार नहीं।

यही नहीं, तुम ऐसे चेतन हो जो सबका साक्षी है। 'विश्वसाक्षी'। जबतक तुमको यह मालूम पड़े कि हम अपने मनके साक्षी हैं, अपनी इन्द्रियोंके साक्षी हैं, अपने देहके साक्षी हैं—तबतक तुम्हें साक्षीपनेका

विवेक नहीं हुआ। तुम स्वप्नके साक्षी हो, निद्राके साक्षी हो, जाग्रत्के साक्षी हो! पर एक ही शरीरमें न! अरे भाई, एक ही शरीरमें क्यों बैठे हुए हो? यही जो अहंभावके साथ साक्षीका सम्बन्ध है—यह आपको 'ज्ञाता' बना देता है, यह आपको अहंकारके साथ जोड़ देता है। आप एक ही शरीरके साक्षी क्यों हैं? आप तो विश्वके साक्षी हैं। तो निराकार माने ऐसा सत्, जिसमें किसी आकृतिकी उत्पत्ति नहीं होती, आकृतियाँ भासती हैं। और, ऐसा भान जिसमें अनेकता नहीं होती।

तो नारायण, ऐसे सत् हो तुम—जिसमें आकृतियाँ बिना हुए ही मालूम पड़ती हैं और ऐसे साक्षी हो तुम कि जिसमें यह विश्वाकारवृत्ति, ईश्वराकारवृत्ति, ब्रह्माकारवृत्ति और जगदाकारवृत्ति—ये सब-की-सब झूठ ही मालूम पड़ती हैं। वह हो तुम विश्व-साक्षी!! और, 'असङ्गोऽसि'-अर्थात् तुम वह आनन्द हो, जिसको बाहरसे आनन्दकी कोई जरूरत नहीं है।

आप देखो, आसक्ति बहुत विचित्र-विचित्र होती है। एक निकम्मेपनसे आसक्ति होती है। आपने इस आसक्ति पर ध्यान दिया है कि नहीं? हमने देखा है कि जवान भी निकम्मेपनमें आसक्त होते हैं। बोले भाई कि यह कोई शास्त्रीय आसक्ति है कि अशास्त्रीय है? आपको गीतामें-से बता दें, इसका नाम आसक्ति!

मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि गी. 2.47

अकर्मणि ते संग: न अस्तु। यह अकर्मासक्ति है। अकर्मासक्ति माने बैठे हैं, पाँव फैलाकर सो रहे हैं, ताश खेल रहे हैं। यह क्या है कि जूएमें पैसा पैदा कर लेंगे! अचानक ईश्वर हमारे घरमें आकर पैसा बरसा जायगा। तो यही निकम्मापनमें आसक्ति है।

अब देखो, एक कर्ममें आसक्ति होती है। तो कर्ममें दो तरहकी आसक्ति होती है—एक तो इस कामको हम पूरा करके छोड़ेंगे और दूसरा, काम कोई भी हो, हम तो करते ही रहेंगे! शान्तिसे नहीं बैठेंगे। एक भोगासक्ति होती है। यह भी दो तरहकी होती है—हम इसी विषयका भोग करेंगे, हम इसी पुरुष अथवा स्त्रीका भोग करेंगे। और, एक इन्द्रियासक्ति

होती है। यह क्या है? बोले कि चाहे कोई भी पुरुष हो या कोई भी स्त्री हो, हमें तो भोग चाहिए। दोनोंमें फर्क है, आपके ध्यानमें आगया? इन्द्रियासक्त जो है, वह 'पामर' है और जो नियत विषयासक्त है, वह 'विषयी' है। 'पामर' तो पशुवत् ही है कि हमको तो भोग चाहिए! भले ही किसीसे भी मिले। हमको तो दहीबड़ा खाना है, चाहे वह चोरीका हो, चाहे घरका हो, चाहे खरीदा हुआ हो और चाहे किसीने खाकर पत्ता फेंक दिया हो। एकने कहा कि नहीं, दही बड़ा तो खायेंगे। बहुत अच्छा लगता है; लेकिन जब हमारे घरमें बड़ी पवित्रतासे बनेगा, तब खायेंगे। तो दोनों दही बड़ा खाते हैं, लेकिन पहला 'पामर' है और दूसरा 'विषयी' है। तीसरा कहेगा कि बाबा, बड़ा घरमें बना तो क्या? जबतक भगवान्को भोग नहीं लगेगा और सबको नहीं बँटेगा, तबतक हम नहीं खायेंगे। वहाँ प्रसाद पर दृष्टि चली गयी।

आजकल तो साधनाका नाम 'हिप्पीटाइप' हो गया है न! चाहे जिसको छूओ, जिसको धक्का दो, जिसका भी आलिंगन करो, जिसको चूमो, जिसको चाटो! बोले कि यह साधन हो रहा है। 'साधन'का अर्थ होता है, अपने जीवनको संस्कृत बनानेकी दिशामें अग्रसर होना! अपनेको संस्कारयुक्त बनाना!!

तो नारायण, आनन्दके लिए दूसरे विषयकी अपेक्षा न रहना— इसका नाम है 'असंगता' यदि दूसरे विषयकी अपेक्षा रहेगी तो संग हो जायगा। आनन्दके लिए आत्माके सिवाय दूसरी किसी वस्तुकी अपेक्षा न रहना—इसका नाम है, 'असंगता'। यह आनन्दरूपमें आप स्थित हो गये। और निराकारः माने सद्रूपमें स्थित होना। आप अपनेको शरीर मत मानिये। निराकार हो गये और 'विश्वसाक्षी' माने चिन्मात्र हो गये। और चूँकि तीनों तीन नहीं हैं, इसलिए आप अद्वय हैं। आप निराकार सत्, असंग, आनन्द और साक्षी चेतन और अद्वय, अतएव ब्रह्म है!!

●

प्रवचन : 7

'अस्' पदका अर्थ :

असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखीभव॥

संस्कृत भाषामें जो 'असि' 'असि' बोला जाता है, उसका अर्थ यह नहीं होता कि ऐसा हो जाओ! उसका अर्थ होता है, ऐसे हो! दोनोंमें जो अन्तर है, उसपर आपका ध्यान गया कि नहीं? ऐसे हो जाओ माने अबतक तुम ऐसे नहीं थे तो कैसे हो जाएँ? तो; थोड़ा धर्म करोगे तो हो जाओगे, थोड़ी उपासना करोगे तो हो जाओगे, थोड़ा योगाभ्यास करो तो हो जाओगे या ज्ञान होगा, तब हो जाओगे! ज्यादा करके वेदान्तके चक्करमें जो बहुत वर्षोंसे फँसे हुए हैं, वे भी ऐसा सोचते हैं कि जब ज्ञान होगा तब न! काशीके पण्डित वेदान्त पढ़ाते हैं, प्रस्थान-त्रयी पढ़ाते हैं, चित्सुखी पढ़ाते हैं, भेद-धिक्कार पढ़ाते हैं, अद्वैत-सिद्धि, खण्डन-खण्डखाद्य पढ़ाते हैं और उनसे बात करो तो कहेंगे महाराज, यह सब हमारे भाग्यमें कहाँ बदा है। यह सब तो आप लोगोंकी चीज़ है। हम तो घर-गृहस्थीमें फँसे हुए लोग हैं। हम तो केवल शास्त्रकी रक्षा करनेके लिए कि जिससे हमको पुण्य हो, धर्म हो—हम इसकी परम्परा चलाते हैं। नारायण कहो!

तो देखो, 'असि' 'असि' जो बोला जाता है, उसका अर्थ यह नहीं होता है कि आप धर्म करनेके बाद, अन्तःकरण शुद्ध होनेके बाद, उपासना करनेके बाद, योगाभ्यास करनेके बाद जब ज्ञान हो जायेगा, उसके बाद आप ऐसे हो जायेंगे। वेदान्त कुछ होनेके लिए, कुछ करनेके लिए, कुछ पानेके लिए नहीं है। असलमें न कुछ करना है, न कुछ पाना है, न कुछ

छोड़ना है, न कुछ होना है। यह तो ज्यों-का-त्यों जैसा मामला है, वैसा बताना है। अरे बाबा, तेरे हाथमें यह जो कंगन है, इसको तू अब तक पीतलका समझकर पहनता रहा है। भलेमानुस, यह पीतलका नहीं है। यह तो सोनेका है। तेरी भूल थी जो तू उसको पाँच रुपयेका समझता था! अरे, यह तो सैंकड़ों रुपयेका है।

वेदान्त : सिद्ध वस्तुका निरूपण

तो वेदान्त जो है, वह सिद्ध-वस्तुका निरूपण करता है, साध्य वस्तुका नहीं। अपनेको आत्मासे ब्रह्म बनानेका कोई यंत्र, कोई रसायन-विद्या, कोई विज्ञान नहीं है वेदान्त! यह तो जो तुम हो, उसको बतानेवाला है वेदान्त!!

इस सम्बन्धमें शास्त्रका दो विभाग ही माना जाता है—एक विधिपरक शास्त्र होता है और एक वस्तु निरूपणपरक शास्त्र होता है। शासन और शंसन—दोनोंका विभाग है। तो यह वेदान्त जो है, यह शासन नहीं है। धर्म तो अनुशासन है, योग अनुशासन है, भक्ति अनुशासन है। वेदान्त अनुशासन नहीं, शंसन है। वह आज्ञा नहीं है, बताना है। संध्या-वन्दन करो, यह आज्ञा है। यज्ञ करो, यह आज्ञा है। ईश्वरकी उपासना करो, यह आज्ञा है। आसन, प्राणायाम करो, यह आज्ञा है। और वेदान्त? 'अयमात्माब्रह्म'—यह आज्ञा नहीं है। यह 'त्वं ब्रह्म असि' बताता है। यह बात सातवें आसमानसे टपके हुए जो अललटप्पू वेदान्ती हैं न, उनको नहीं मालूम है। खुदको भी नहीं मालूम है और दूसरोंको जो बताते हैं, उससे भी मालूम हो जाता है कि नहीं मालूम है। वे तो बिलकुल सातवें आसमानसे सीधे ही टपके हैं। न संतोंकी परम्परा है, न गुरुकी परम्परा है, न शास्त्रकी परम्परा है। वे मोक्षको उत्पाद्य मानते हैं, वे बंधको निवर्त्य मानते हैं। मोक्ष अभी है नहीं, होगा और बन्धन अभी है, और आगे निवृत्त होगा। अभी तुम आत्मा नहीं हो, आगे हो जाओगे! अष्टावक्रजी महाराज तो कहते हैं कि,

असङ्गोऽसि निराकारो, विश्वसाक्षी सुखीभव।

'असंगता' आपका सहज स्वरूप

वैसे व्यावहारिक दृष्टिसे ही आप असंग हैं। यह बात बचपनसे अबतक हमने देखी है। किसीसे दो दिनकी आसक्ति हुई है, किसीसे दो घंटेकी आसक्ति हमारी हुई है। दो घंटेके लिए ऐसा मालूम पड़ा कि इसके बिना हमारी कुछ जिंदगी ही नहीं है। बस-बस हम तो इसीके साथ रहेंगे। और, दो घंटेके बाद कुछ नहीं। रफूचक्कर!! फिर दस वर्ष तक याद नहीं आयी। रेलगाड़ीमें मिले और आसक्ति हो गयी। लेकिन, रहे असंग ही। किसीके साथ पाँच वर्षके लिए रही, किसीके साथ दो वर्षके लिए ऐसा मालूम पड़े कि अब आँख इनको देखे बिना मर जायेगी, अब दिल इनके स्मरणके बिना नहीं रहेगा। लेकिन अभी 'है'! इसीका नाम 'असंगता' है। खाते समय खीर अच्छी लगी। लेकिन बाद में दही बड़ेका स्वाद आ गया। इसीको असंगता बोलते हैं। मातासे आसक्ति हुई, पितासे आसक्ति हुई, भाईसे आसक्ति हुई, परिवारसे आसक्ति हुई, प्रेयसीसे आसक्ति हुई, पत्नीसे आसक्ति हुई। हो-होकर सब मिट गयी।

सपने होय-होय मिट गए, रह्यो सार को सारा।

तो 'असङ्गोऽसि'। आप किसीको सुख देनेवाला मान सकते हैं कि यह हमको सुख देनेवाला है। परन्तु, वह छूटेगा, वह छूटेगा, वह छूटेगा। 'असङ्गोऽसि।' 'निराकारोऽसि'! तुम ऐसे आनन्द हो, जिसको दूसरे आनन्दके साथ चिपकनेकी जरूरत नहीं है। तुम ऐसे स्वयंप्रकाशचेतन हो, जिसमें दूसरे दृश्यकी जरूरत नहीं! तुम ऐसी अखण्डसत्ता हो, जिसमें कोई आकार बनता बिगड़ता नहीं। तो 'सुखी भव'। इसलिए निर्द्वन्द्व हो जाओ! कोई फ़िक्र करनेकी ज़रूरत नहीं है।

धर्माधर्म एवं सुख-दुःख मीमांसा

अब इसपर यह प्रश्न उठा कि यह तो ठीक है कि हम निर्द्वन्द्व रहें! सब छोड़नेको हम राज़ी हैं। लेकिन हमारे वेदोंमें, शास्त्रोंमें यह बात **बतायी गयी है कि अमुक कर्मका नाम धर्म है, अमुक कर्मका नाम अधर्म**

है। धर्मसे सुख होता है, अधर्मसे दुःख होता है और हम मनुष्य शरीर धारण करके आये हैं, तो हम कर्ता हैं और हमको अपने कर्मका फल भोगना पड़ता है! सो हम बिलकुल निर्द्वन्द्व कैसे हो सकते हैं? हमने पहले भी धर्म किया है और अब भी धर्म करते हैं, तो उनका फल मिलेगा। और यदि पहले पाप किया है और अब भी पाप करते हैं तो उसका फल मिलेगा! तो सुख-दुःख तो हमारे जीवनमें आवेगा-ही-आवेगा! और, हमने यह बुरा काम किया, इसकी हमको ग्लानि भी होती है। हमने यह अच्छा काम किया, इसकी खुशी भी होती है। आत्म-ग्लानि और आत्मतुष्टि होती है। तो नारायण, दुनियाके लोग तो इसीमें फँसे हुए हैं! इसीका नाम तो दुनियादारी है, संसार है। दुकानका नाम संसार नहीं है। स्त्रीका नाम संसार नहीं है, पुत्रका नाम संसार नहीं है। संसारी लोगोंका नाम संसार नहीं है। आपका मन ही है, जो नाना रूप धारण करके आपके सामने आता रहता है।

हमको बचपनकी भी ऐसी याद नहीं है कि हमने अपने घरमें ब्राह्मणके सिवाय दूसरेकी कच्ची रसोई खाई हो! यज्ञोपवीत संस्कारसे पहलेकी बात हम करते हैं। हमारे पड़ोसी लोग, हमारे भाई-बन्धु जब किसी बनियाके घरमें रोटी खा आते, क्षत्रियके घरमें खा आते तो हम अपने बाबासे जाकर शिकायत करते कि बाबा-बाबा, उसने तो बनियाके घरमें रोटी खायी है! वे बोलते कि बेटा! अभी उसको दोष नहीं लगता। क्योंकि, उसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ है न! उसको पाप तब लगेगा, जब यज्ञोपवीत होनेके बाद वह वहीं खायेगा। 'बाबा, हम तो नहीं खायेंगे!' 'अच्छा बेटा, तुम मत खाना।' यह देखो! वह पाप-पुण्य कहाँ होता है? शास्त्रके आवाहनसे जैसे सुपारीमें गणेश आते हैं, वैसे जब विधि लागू होती है, तब पाप आता है। पूजामें जिसको 'आवाहन' कहते हैं, धर्ममें उसको 'विधि' बोलते हैं, और पूजामें जिसको 'विसर्जन' बोलते हैं, धर्ममें उसको 'निषेध' बोला जाता है।

देखो, एक गृहस्थ गृहस्थाश्रममें रहता हो और सन्तान उत्पन्न न हुई

हो और वह पत्नीसे सलाह किये बिना ब्रह्मचर्य ग्रहण कर ले, ऋतुगमन न करे तो शास्त्रकी दृष्टिसे उसको पाप लगता है। आपके ध्यानमें बात आ गयी न! पति है, पत्नी है—यदि उन दोनोंमें-से किसी एकको ब्रह्मचर्य ग्रहण करना हो तो दोनोंको आपसमें सलाह करना चाहिए। बिना सलाहके नहीं कर सकते। अच्छा, पितृ-ऋणको उतारनेके लिए संतान भी होनी चाहिए और ऐसा नहीं करेगा तो पाप लगेगा। अब मान लो कि वह संन्यासी हो गया। तो संन्यासी होनेके बाद ऋतुगमन उसका धर्म होगा कि नहीं होगा? नहीं होगा! पत्नीके प्रति पत्नीका बर्ताव धर्म होगा कि नहीं होगा? नहीं होगा!

तो, धर्म विधिसे आता है और निषेधसे फिर वह धर्म हट जाता है। संन्यासीके लिए पत्नीका भी सहवास अधर्म है और गृहस्थके लिए पत्नीका सहवास न करना अधर्म है। उसमें भी विधि है, सो अलग बात है। तो धर्माधर्म कहाँ है? धर्माधर्मकी उत्पत्ति कैसे होती है? विधिसे धर्मकी उत्पत्ति होती है और जिसका निषेध है, उसको करनेसे और जो विहित है, उसको न करनेसे अधर्मकी उत्पत्ति होती है। तो सारा-का-सारा धर्माधर्म विधि-निषेधमें चला गया।

आपको यह मालूम है कि यदि सेनापतिकी आज्ञासे सैनिक किसीको बंदूककी गोलीसे भून दे तो उसको पाप नहीं लगता है। तो प्रत्येक कर्म किसी-न-किसी अवस्थामें धर्म होता है और प्रत्येक कर्म किसी-न-किसी अवस्थामें अधर्म होता है। यहाँ बायें से चलना कानून है और अमेरिकामें दाहिनेसे चलना कानून है। इसी तरहसे धर्माधर्मसे सम्बन्धित संविधान होता है। देखो, आज इस युगमें भी लोग कहते हैं कि संविधान बड़ा है, अधिकारी बड़ा नहीं है। माने सरकारी अधिकारी बड़ा नहीं होता, प्रधानमंत्री बड़ा नहीं होता, राष्ट्रपति बड़ा नहीं होता। संविधान बड़ा होता है। तो यदि अबसे पाँच हज़ार वर्ष पहले हमारे ऋषियोंको यह बात मालूम हो गयी थी कि संविधान बड़ा होता है राजा नहीं, ब्राह्मण नहीं, व्यापारी नहीं; तो आपको खुश होना चाहिए कि हमारे पूर्वजोंने

संविधानके सम्बन्धमें कितना बड़ा चिन्तन किया था कि उन्होंने व्यक्तिकी प्रधानता और समाजकी प्रधानता भी स्वीकार न करके संविधानकी प्रधानता स्वीकार की थी। खुश होनेकी बात है।

मनका ही खेल है :

अब जरा, '**धर्माऽऽधर्मौ सुखंदुःखं मानसानि न ते विभो**'। 1.6 की ओर चलो!

अष्टावक्रजी महाराज कहते हैं *धर्म, अधर्म न ते, न तव। धर्मः अधर्मः सुखं दुःखं इति एतानि ते तव न भवन्ति।* ये तुम्हारे नहीं हैं। बिलकुल तुम्हारे नहीं हैं। तुम धर्मसे परे हो, अधर्मसे परे हो, सुखसे परे हो, दुःखसे परे हो।

हे भगवान्! दिनभरमें सत्रह बार तो रोते हैं और सत्रह बार हँसते हैं। कोई ज़रा मीठा बोल दे तो हँस गये और ज़रा कड़वा बोल दे तो रो गये। यह अपना सुख-दुःख तो ज़बानी जमाखर्चमें चला गया न! कितने नाजुक हो गये। आदमी न हुआ छुईमुईका पौधा हुआ। लाजवन्तीका पौधा हुआ। ज़रा टेढ़ी आँखसे देख लिया तो मर गया। ज़रा प्रेमभरी आँखसे देख लिया तो जी गया। तो यह आदमी क्या है? यह तो लज्जावती औषधका पौधा हुआ।

तो ये सब धर्म-अधर्म, सुख और दुःख तुम्हारेमें नहीं है। अब तो सब ईश्वर कृपासे उच्छिष्ट-अनुच्छिष्टका विचार बीत गया। पहले लोग उच्छिष्ट भोजनको बड़ा भारी अधर्म समझते थे। मनुजीने लिखा है—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा। 2.56

'कोई दूसरेको अपना जूठा दे नहीं और दूसरेका जूठा खाये नहीं।' देखो, यह धर्म हो गया। फिर जहाँ मनुस्मृतिमें ही गुरुकी चर्चा आयी, वहाँ यह बात कही गयी कि गुरुके समान गुरुपुत्रके साथ सब व्यवहार करना चाहिए। परन्तु, गुरुपुत्रका उच्छिष्ट नहीं खाना चाहिए। तो इसमें अर्थापत्ति प्रमाण आ गया। माने गुरुके समान गुरुपुत्रके प्रति सारा व्यवहार करें, परन्तु

उच्छिष्ट न खायें। तो स्पष्ट है कि पहले प्राप्त होगा तब निषेध होगा। अब महाराज जगन्नाथपुरीमें गये तो बोले कि यह तो कोई मर्त्यलोक थोड़े ही है! यह तो साक्षात् वैकुण्ठ है! यहाँ उच्छिष्ट-अनुच्छिष्ट नहीं! वहाँ तो खानपानकी ऐसी मर्यादा ही नहीं है। केवल उच्छिष्टकी ही बात नहीं। उच्छिष्ट तो वहाँ जाकर खाते ही हैं। यह उस ज़मानेकी बात है जब उच्छिष्ट खाना बुरा माना जाता था। अब बताओ, वहाँ धर्म कहाँसे आ गया? 'जगन्नाथके द्वार पे जगत् पसारे हाथ।' बोले कि अहो, प्रसाद मिला! यह देखो! एक जगह किसीका जूठा खानेको मिल गया तो बोले, 'राम-राम'! मुँहमें हाथ डालकर कै करो! और, पुरीमें जूठा मिल गया तो बोले कि वाह-वाह, प्रसाद मिला! वैसे महाराज आजकलकी तो बात मत करो! हमने तो देखा कि कुत्तेको गोदमें बिठाया और एकबार अपनी जीभ उसके मुँहमें डालें और एकबार उसकी जीभ अपने मुँहमें डालें! वह ओंठ चाटे उसका और वह ओंठ चाटे उसका। उसके मुँहमें आइसक्रीम, फिर अपने मुँहमें आइसक्रीम। अब ग्लानिका तो कोई प्रसंग ही नहीं है।

लेकिन, इससे भी सिद्ध क्या हुआ? इससे भी यही सिद्ध हुआ कि मनकी बनावट अलग-अलग होती है, जो ग्लानि और तुष्टि उत्पन्न करती है। अनुशासन होना चाहिए। देखो, पंचमहायज्ञ गृहस्थके लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। माने जब तुम्हारे घरमें रोटी बनती है तो उसमें आगसे सहायता ली। तो जिससे सहायता ली, उससे मुफ्तमें सहायता न ली जाय—उसके लिए भी थोड़ा-सा भोजन उसको देना चाहिए! जो ऋषि लोग आत्मचिंतन करते हैं, उनके लिए भी भोजन निकाल देना चाहिए। अपने पितरोंके लिए भी भोजन देना चाहिए। गाय आदिके लिए भी भोजन देना चाहिए। गरीबके लिए भी भोजन देना चाहिए। ये उनके कर्त्तव्य हैं। इनका पालन करना धर्म है। अब महाराज, पालन तो करते नहीं है। लेकिन यदि कोई संन्यासी हो जाय और रोटी बनाकर न खाता हो तो उसके लिये वे पंचमहायज्ञ न करनेका दोष नहीं लगेगा।

अच्छा, ग्रहणमें खाना कि नहीं खाना? यदि कोई कमजोर हो,

बच्चा हो, रोगी हो तो ग्रहणमें खानेसे उसको पाप नहीं लगता है। अधिकारीके भेदसे, स्थानके भेदसे, समयके भेदसे धर्माधर्मका निर्णय है। कहीं संध्या-वन्दन करने बैठे और समाचार मिला कि इधर डाकू आ रहे हैं तो दो-चार छींटे अपने सिरमें मारे और चल पड़े वहाँसे। वहाँ आपतकालमें वह धर्म नहीं होता है। बादमें कहीं जहाँ शान्ति हो, वहाँ बैठकर लो!

अच्छाजी, मुख्य प्रश्न तो सुख-दुःखका है। यह सुख-दुःख कहीं दूसरेके साथ बँधा हुआ नहीं होता है। बिलकुल है ही नहीं। एक कुत्तेके मालिकसे हमारा काम पड़ा। उसका जब हाथ पकड़कर हम अपनी ओर खींचते थे तो कुत्ता भूँककर हमारी ओर दौड़ता था और हाथ छोड़ देते थे तो चुप हो जाता था। एक बच्चेसे काम पड़ा। उसकी माँको कहते थे कि यह तुम्हारी माँ नहीं है, हमारी है। अब वह बच्चा रोने लगे! तो यह जो बाहर सुख-दुःखका निवास है, यह मनोवृत्ति है—वह वही कुत्तेवाली मनोवृत्ति है, वही बच्चेवाली मनोवृत्ति है। आपलोग बुरा मत मानना! सुख-दुःख जिस हृदयमें पैदा होता है, उसका उपादान, उसका मसाला बिलकुल भीतर होता है। यह भीतरसे ही भभकता है।

क्या सुख-दुःख घड़ीसे होता है? घड़ीको उठाकर फोड़ दें तो जो घड़ीका मालिक है, वह अभी नाराज़ होने लगेगा! तो घड़ीको तो सुख-दुःख होता नहीं। अच्छा, जो उसका मालिक नहीं है, उसको कम दुःख होगा। कई लोग कहेंगे कि नहीं, स्वामीजीने अन्याय किया। उनको घड़ी नहीं फोड़ना चाहिए था। तो हमारा अन्याय देखकर उनको दुःख होगा। कई लोग हँस जायेंगे कि अरे, यह तो हँसीका काम है। स्वामीजीने एक मज़ाककर दिया! कई लोग कहेंगे कि महात्मा हैं भाई! उनकी मौज़में आ गया तो फोड़ दिया सो फोड़ दिया। उनको तुम कुछ कहनेवाले कौन हो? एक हमारी ममतावाले आ गये। तो नारायण, घड़ी फोड़नेका काम हम एक करेंगे और जिसको हमसे द्वेष होगा, वह कहेगा कि बड़ा अन्यायी है और जो मालिक है, वह कहेगा कि हमारा पचास रुपया बिगड़ गया। तो

यह एक ही घड़ीका फोड़ना तरह-तरहके लोगोंके मनमें तरह-तरहकी प्रक्रिया क्यों उत्पन्न करेगा? तो उसके- उसके मनकी बनावटके अनुसार होगा। आदमी दुनियामें जो कुछ करता है, वह अपने मनको जाहिर करता है, सच्चाईको ज़ाहिर नहीं करता। कभी दो आना पैसा जाता है तो बड़ा दुःख होता है। कभी दो हज़ार जाता है तो कोई दुःख नहीं होता! तो दो हज़ारमें और दो रुपयेमें दुःख होता तो हमेशा ही होता न! वह तो मनकी बनावटमें दुःख है।

'मानसानि न ते विभो'—विधि, श्रद्धायुक्त अधिकारी जब कर्मका अनुष्ठान करता है, तब धर्मकी उत्पत्ति होती है और बिना विधिके, अनधिकारी पुरुष अश्रद्धासे जब कर्मका अनुष्ठान करता है, तब अधर्मकी उत्पत्ति होती है।

असलमें कुछ चीज़ अपने पास रखने, न रखनेसे दुःख होता है। अमुक चीज़ हमारे पास है, नहीं है—तब दुःख होता है। कोई काम किया, न किया—इसका दुःख होता है। कोई भोग मिला, न मिला—इसका दुःख होता है। कोई अपनी डाली हुई आदत दुःख देती है।

दिल्लीमें एक आर्यसमाजी परिवार है। वह ज्योतिष नहीं मानता। हमारा उनसे बड़ा सम्बन्ध है। तो उनके घरमें ब्याह था। ज्योतिषसे मुहूर्त तो निकलवा नहीं सकते थे। क्योंकि, वह आर्यसमाजके विपरीत पड़ता। तो उन्होंने निश्चय किया कि छः बजे शामके बारात यहाँसे निकलेगी और सात बजे पहुँचेगी लड़केके ससुरालमें। अब महाराज हुआ क्या कि मोटरकी सजावट तो होनी थी। वह नहीं हुई और बाजेवाले ठीक समयसे नहीं आये। अब बारातके निकलनेमें छः की जगह सात हो गया, साढ़े सात हो गया। अब जिन्होंने समय निश्चित किया था, वे सज्जन खूब बिगड़े। वह आँख लाल-लाल करें कि मुहूर्त बिगड़ा जा रहा है और तुम लोग हमारी सुनते नहीं हो!

अब देखो, यह हँसनेकी बात है कि नहीं? अपना ही बनाया हुआ तो मुहूर्त! यह अपने मनका ही बनाया हुआ प्यारा! छोड़ दो! क्या हुआ?

अपने मनका बनाया हुआ दुश्मन! छोड़ दो कल्पना कि यह हमारा दुश्मन है। इसके बिना हम मर जायेंगे कि इसको हम मारकर छोड़ेंगे—यह मनका ही तो उबाल है, उफान है। क्या उसके साथ तुम मरना चाहते हो? तो मर लो! ऐसा भी कई बार होता है। लेकिन, जिसकी नालके साथ अपनी नाल जोड़कर भगवान्ने पैदा किया है?

हमारे गाँवके पास दो भाई जुड़वाँ पैदा हुये थे। आपको क्या बतावें। एक काला था और एक गोरा। एक बड़ा नरम था। बाईस वर्षकी उम्र तक मैंने दोनोंको देखा था। फिर बादमें एक मर गया और एक जिन्दा रहा। दोनोंका मन बिलकुल अलग-अलग था। यह जो कहते हैं कि कि जुड़वाँका मन मिलता है—बिलकुल गलत है।

तो नारायण, कौन एक साथ पैदा हुआ है? मनका फँसाव बड़ा विचित्र है। 'मानसानि'। ये सुख-दुःख मनके हैं। इसीसे जब तत्त्व ज्ञानका प्रसंग आता है तो हमारे महात्मा लोग कहते हैं कि देखो, कठोपनिषद्में नचिकेताने क्या प्रश्न किया? हम उस तत्त्वको जानना चाहते हैं, जो **'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात् अन्यत्र च कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च...।'** 2.14॥ यह कोई साधारण प्रश्न है? हम उस वस्तुको जानना चाहते हैं, जो धर्मसे अलग है, जो अधर्मसे अलग है, जो कृतसे अलग है और जो अकृतसे अलग है। जो न कारण है, न कार्य है। न धर्म है, न अधर्म है। न भूत है, न भव्य है। न पहले हुआ है और न आगे पैदा होगा। क्या मतलब हुआ? जो 'है'—उसको जानना चाहते हैं। जो भूत और भव्यकी संधिमें है, उसको नहीं जानना चाहते हैं। जो सन्मात्र है, उसको जानना चाहते हैं। जिसको धर्माधर्म लगता है, उसको नहीं जानना चाहते। जो कार्य-कारणके रूपमें उत्पन्न होता है और लीन होता है, उसको हम नहीं जानना चाहते।

धर्माधर्म हेतु है और उनसे सुख-दुःख रूप फलकी उत्पत्ति होती है। कारण प्रकृति है, उससे कार्य-रूप जगत्की उत्पत्ति होती है और कुछ हो चुका और कुछ होने वाला है, इसके बीच संधि भी है! वह हमको नहीं

चाहिए। तब क्या चाहिए? हमको तो असालयतका ज्ञान चाहिए कि तत्त्व क्या है?

हमारे कठोपनिषद्का प्रश्न यह है! आप क्या समझते हैं?

नारायण, व्यापारमें तो विवेक-शक्ति लगावेंगे कि व्यापार बढ़ेगा। तो उनका विचार कहाँ लगता है? कमाईमें। विवेक कहाँ लगता है? अच्छी औरतकी प्राप्तिमें। विवेक कहाँ लगता है? अच्छा मकान बनानेमें। और, जो 'है'—उसके बारेमें तो विवेक लगता ही नहीं। अरे, तुम्हारा बड़प्पनका अभिमान बिलकुल झूठा है।

तो यह सब मनोवृत्तिका जाल है। जब हम अपने मनको इस शरीरके साथ जोड़ देते हैं तो शरीर सब कुछ हो जाता है। महात्मा गाँधीसे पूछते! उनके मन देशकी सेवामें लगा हुआ था। तो एक जगह जब मन लग जाता है तो दूसरेकी परवाह नहीं होती। आपका मन पैसेमें लग गया तो तत्त्वकी परवाह छूट गयी। आपका मन स्वयंमें लग गया तो तत्त्वकी परवाह छूट गयी। आपका मन भोगमें लग गया तो तत्त्वकी परवाह छूट गयी। आपका मन कुछ करनेमें लग गया तो तत्त्वकी परवाह छूट गयी। आपका मन अप्राप्तकी प्राप्तिमें लग गया तो तत्त्वकी परवाह छूट गयी। यह सब आपके मनका खेल है। जब बाहरकी किसी वस्तुको मन पकड़ता है, तब उसका नाम 'व्यवहार' हो जाता है और जब मन-ही-मन सुख-दुःख बनाने लगता है तो उसका नाम 'सपना' हो जाता है और जब मन डूब जाता है, तब उसका नाम 'समाधि' सुषुप्ति हो जाता है और सपना भी नहीं रहता है। लेकिन ये सब मनकी अवस्थाएँ हैं! जो इन सबका साक्षी है, उसके बारेमें आप जानो। 'मानसानि न ते विभो।' ये सब मनके खेल हैं। आपके नहीं है।

निष्कर्ष : मुक्त एवासि सर्वदा

तो; पहले यह बात कही गयी कि धर्म-अधर्म, सुख-दुःख—ये चारों तुम्हारे नहीं हैं। मेरे नहीं हैं तो किसके हैं? बोले कि 'मानसानि'—ये

मनके हैं। अच्छा, ये मनके हैं और मन हमारा हो तो? तो बोले कि 'विभोः'—तुम तो विभु हो। सम्पूर्ण विश्व सृष्टिके आधार और प्रकाशक बिलकुल एक हो तुम। एक मनके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। माने पहले चार बात काटी गयी कि तुम्हारा नहीं है—न धर्म है, न अधर्म है, न धर्मका फल सुख है और न अधर्मका फल दुःख है। तब ये किसके हैं? ये तुम्हारे मनके हैं। तुम्हारे संस्कारमें डाल दिये गये। ये कुछ विकार हैं, कुछ संस्कार हैं। तब फिर हमारे क्यों नहीं हैं? तुम्हारे इसलिए नहीं हैं कि तुम विभु हो। हम विभु कहाँ हैं? हम तो कर्ता-भोक्ता बने बैठे हैं। अरे भलेमानुस, 'न कर्त्ताऽऽसि न भोक्ताऽऽसि'। *धर्माधर्मयोकर्त्ता न असि, सुख-दुःखयोः भोक्ता न असि।* तुम धर्माधर्मके कर्त्ता नहीं हो, सुख-दुःखके भोक्ता नहीं हो।

नाचनेवाली जब ठुमुक-ठुमुककर अपने पाँवसे ताल देने लगती है तो देखनेवाला भी तालपर झूमने लगता है। ऐसे ही यह मन जब घूमने लगता है, मन जब लाल होता है, पीला होता है, जब कड़वा होता है, जब मीठा होता है, तब-तब तुम भी लाल, पीले, कड़वे, मीठे हो जाते हो। तुम्हारे अन्दर तो कोई स्वाद नहीं था। जैसे शुद्ध जलका क्या स्वाद होता है? शक्कर डाल दिया तो शर्बत हो गया और नींबू डाल दिया तो खट्टा हो गया, नमक डाल दिया तो नमकीन हो गया। तो नारायण, तुम्हारे स्वरूपमें ये सब-के-सब धर्माधर्म, सुख-दुःख नमककी तरह डाले हुए हैं, खटाईकी तरह डाले हुए हैं। ये तुम्हारे स्वरूपमें नहीं है। क्योंकि तुम एक मनवाले नहीं हो। तुम तो विभु हो। 'न कर्त्ताऽऽसि, न भोक्ताऽऽसि'। न कुछ किया, न कर रहे हो, न करोगे।

अच्छा, आपको कभी इस बातका ध्यान आया कि आप अगले मिनटमें क्या करोगे? बोले कि हम जो चाहेंगे, सो करेंगे। हाथ उठा सकते हैं, पटक सकते हैं, गाली दे सकते हैं, तारीफ़ कर सकते हैं। अच्छा, जो चाहेंगे, सो न करेंगे। तो यह बताइये न कि क्या चाहेंगे? यह तो दुनियामें ब्रह्मा भी नहीं बता सकता कि अगले क्षणमें हम क्या चाहेंगे? आप चाहते

हैं कि चाह आती है? यह तो महाराज उड़ती हुई हवाको जैसे कोई मेरी बोले और बहती हुई नदीके पानीको कोई मेरा बोले। आप बताइये न कि क्या चाहेंगे आप? अरे, हम रामको चाहेंगे, श्यामको चाहेंगे, मोहनको चाहेंगे। ऐसा कुछ नहीं है। यह तो सब अभी आप ऐसा कह रहे हैं। अगले क्षणमें क्या होगा, सो तो बताइये?

तो हम बड़ी मोटी दृष्टिसे यह बात आपको सुना रहे हैं। जो कर्त्ता होता है, वह साक्षी नहीं होता। जो साक्षी होता है, वह कर्त्ता नहीं होता। आप जानते हैं न कि दो आदमी आपसमें लड़ रहे हों तो जो लड़ता हुआ होता है, वह गवाह नहीं होता है और जो गवाह होता है, वह लड़ता हुआ नहीं होता है। यह तो सामान्य-न्याय है। तो आप कर्त्ता नहीं हैं, कर्त्ताके गवाह हैं, साक्षी हैं और आप भोक्ता भी नहीं हैं, भोक्ताके गवाह हैं, साक्षी हैं। आप कूटस्थ हैं, आप तटस्थ हैं। विभु पहले कह चुके हैं। उसको मत छोड़ देना।

देखो, ये जो कर्त्ता होते हैं, ये कभी पापके कर्त्ता होते हैं माने कभी चोरी करते हैं और कभी दानके कर्त्ता हैं? नहीं, गवाह दोनोंका एक है और कर्त्ता दोनोंके अलग हैं। वह तो भ्रमसे ऐसा मालूम पड़ता है कि कर्त्ता एक है। अच्छा, एकबार आप दुःखसे रोते हैं और एकबार खुश होते हैं। तो जो दुःखी है, वही सुखी है? दोनोंकी शकल आपसमें मिलती है क्या? नहीं। एक बार आपके हृदयमें सुखी पैदा हुआ और मर गया। एकबार आपके हृदयमें दुःखी पैदा हुआ और मर गया। एकबार आपके भीतर रहनेवालेने तानदुपट्टा सो लिया और आपने उसको देख लिया और एक बार उसने दुनिया बनायी तो आपने देख लिया। जो उसने हत्या की और जो उसने यज्ञ किया—उसे आपने देख लिया। तो नारायण, आप कर्त्ता हैं? आप पापके कर्त्ता हैं कि पुण्यके कर्त्ता हैं? आप सुखके भोक्ता हैं कि दुःखके भोक्ता हैं? ये मरते गये, मरते गये, मरते गये और वहीं-के-वहीं रहे—'न कर्त्ताऽऽसि न भोक्ताऽऽसि मुक्त एवासि सर्वदा'।

तो आप धर्मसे मुक्त हैं, अधर्मसे मुक्त हैं, सुखसे मुक्त हैं, दुःखसे

मुक्त हैं। देखो, 'मुक्त' शब्दका क्या अर्थ होता है कि आपने इनको छोड़ दिया सो नहीं। इन्होंने ही आपको छोड़ दिया—यह इसका अर्थ होता है। *रामेण श्यामे मुक्तः*—रामने श्यामको छोड़ दिया। तो श्याम छोड़ा गया। जो छोड़ा गया, उसको मुक्त बोलेंगे। आया आपके ध्यानमें। जो छोड़ता है, उसको मुक्त नहीं बोलते हैं। जैसे जेलरने कैदीको मुक्त कर दिया। तो जो छोड़ा गया, सो मुक्त हुआ। जिसने छोड़ा, वह मुक्त नहीं हुआ।

तो नारायण, आपने धर्मको नहीं छोड़ा। धर्मने पहलेसे ही आपको छोड़ दिया है, छोड़ रखा है। वह आपके साथ हमेशा नहीं रहता है। आपने अधर्मको नहीं छोड़ा। अधर्मने आपको छोड़ रखा है। आप झूठ-ही-मूठ उनका रिश्तेदार अपनेको बताते हैं। सुखने आपको छोड़ रखा है। हमेशा आपके पास कहाँ रहता है? वह तो कभी आता है, कभी जाता है। दुःखने आपको छोड़ रखा है। कभी आता है, कभी जाता है। परन्तु, आप ऐसे हैं, जो ऐसा समझते हैं कि मैं सुखका सगा बाप हूँ; मैं तो दुःखका सगा भाई हूँ! पहलेसे ही सुख-दुःख दोनोंने आपको तलाक दे रखा है। धर्म-अधर्म दोनोंने ही आपको तलाक दे रखा है। आप ही तो उनको पकड़ते हैं!

'न कर्ताऽऽसि न भोक्ताऽऽसि मुक्त एवासि' धर्मेण मुक्तोऽसि, अधर्मेण मुक्तोऽसि, दुःखेन मुक्तोऽसि, सुखेन मुक्तोऽसि, कर्त्रामुक्तोऽसि, भोक्तामुक्तोऽसि'।

कर्त्तृत्वने आपको कभी नहीं बाँधा। आपने अपने ऊपर कर्त्तव्यको थोप लिया। भोक्तृत्वने आपको कभी नहीं बाँधा। यदि कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आपको छोड़कर चले न जाते तो आपको नींद नहीं आती। वे तो आपको बारम्बार छोड़-छोड़कर चले जाते हैं और आप हैं कि उठ-उठकर बारम्बार उन्हींके साथ अपनेको मिला देते हैं। कितनी तरहके कर्म आये और कितनी तरहके भोग आये; कितनी तरहके सुख-दुःख आये, कितनी तरहके धर्म-अधर्म आये, कितनी तरहके कर्त्तापन और भोक्तापन आये और आये, और हवाकी तरह जाते रहे, सूर्य-चन्द्रमाकी तरह चलते रहे,

पानीकी तरह बहते रहे, पृथिवी-कणकी तरह उड़ते रहे! उन्होंने तो सर्वदा ही आपको मुक्त कर रखा है। कोई आपको बाँध नहीं सकता है। उन्होंने तो पहलेसे ही रजिस्ट्री कर दी है! आपको मुक्त कर रखा है! परन्तु आपका मोह नहीं मानता है।

एक किस्सा तो ज़रा भद्दा है! लेकिन बिलकुल सच्चा है। मैं वृन्दावनमें था। एक सज्जन बीकानेरसे पैदल चलकर मेरे पास आये। गीता प्रेसके सम्बन्धमें हम उधर जाते-आते रहते थे। हमारा नाम उनको मालूम था। खाने-पीनेके बाद हमने एकान्तमें उनको पूछा कि आप इतनी लम्बी यात्रा करके क्यों आये हो? वे बोले कि महाराज, बात गुप्त है। लेकिन मैं तो आपको बताने ही आया हूँ। हमारी समस्या हल कर दीजिए। मैंने पूछा कि तुमको क्या दुःख है? वे बोले कि हमारी पत्नी व्यभिचारिणी है। उसका हमको बड़ा भारी दुःख है। मैंने कहा कि छोड़ दे। निकाल दो घर से! बोले कि महाराज, उसको निकाल देंगे तो बच्चे छोटे-छोटे हैं, उनका पालन-पोषण कौन करेगा? मैंने कहा कि उनके लिए एक नौकरानी रख लो! बोले कि नहीं महाराज, नौकरानीसे काम नहीं चलेगा! वह जैसे प्रेमसे करती है, वैसे तो नौकरानी नहीं करेगी। तब मैंने कहा कि अच्छा, तुम बच्चोंके पालन-पोषणके लिए उसको घरमें रहने दो और उसका गुजारा करते रहो और तुम ब्रह्मचर्यका पालन करो, उसको पत्नीकी तरह मत मानो। बोले कि महाराज, यह कैसे होगा? हमारा मन तो मानता ही नहीं है! मैंने कहा कि अच्छी बात है, तुम गाँवके बाहर एक कुटिया बनाकर रहो और तुम्हारे बच्चे तुमको वहाँ रोटी-पानी दे जाया करें, तुम अलग रहो। बोले कि महाराज, बड़ी भारी बदनामी हो जायेगी। मैंने कहा कि अच्छा, तब तो तुम यहीं रह जाओ! हम तुम्हारे भरण-पोषणका भार लेते हैं। तुम घर लौटकर मत जाओ। बोले कि महाराज, घर गये बिना तो हमसे रहा नहीं जाता! मैंने कहा कि तब तुम जाओ। अब तक जैसे रहते आये हो, वैसे ही रहो। उसमें फेरफ़ार करनेकी कोई ज़रूरत नहीं है।

अब देखो, बीकानेरसे वृन्दावनतककी इतनी लम्बी यात्रा करके आये। पर देखो, क्या प्रयोजन है? तो हमने ही पकड़ रखा है दुनियाको कि दुनियाने पकड़ रखा है हमको? दुनिया तो हमको छोड़ती जा रही है, छोड़ती जा रही है। हमने ही पकड़ रखा है।

तो 'मुक्त एवासि सर्वदा'—आप यह मत कहो कि जब हम धर्म करेंगे, तब मुक्त होंगे; जब उपासना करेंगे, तब मुक्त होंगे; जब हम योगाभ्यास करेंगे, तब मुक्त होंगे। जब ऐसा होगा तब मुक्त होंगे। असलमें आप मुक्त हैं। और केवल मुक्त होना काफी नहीं है। क्योंकि, अलग-अलग इकाइयाँ अगर अपनेको मुक्त मानने लगें तो यह बड़ी भारी बेवकूफ़ी होगी। असलमें एक अखण्ड ब्रह्म आत्मा है और वही सबका आत्मा है और वही मुक्त है। एक इकाईके रूपमें अपनेको मुक्त मान बैठना बेवकूफ़ीसे युक्त है। अपनेको एक इकाईके रूपमें साक्षी मानना, एक इकाईके रूपमें ईश्वरसे एक मानना, एक इकाईके रूपमें सच्चिदानन्द मानना—यह सब अविचारक है। आप तो एक अखण्ड ब्रह्म हैं और सर्वदा मुक्त ही हैं। 'सर्वदा' माने चाहे किसी समयमें हो और जिस किसी भी स्थानमें हों और चाहे जिस किसी शरीरके द्वारा व्यवहार कर रहे हों—आप वे नहीं हैं, जैसा दुनिया आपको जानती है और जैसा आप बिना सोचे-समझे अपनेको मानते हैं। तब आप कौन हैं? असलमें ये वेदशास्त्र, पुराण, महावाक्य आपको जैसा बताते हैं, जो बताते हैं—आप वह हैं!!

●

प्रवचन : 8

आप विभु हैं और कर्त्ता-भोक्तापन मानसिक है!

धर्माऽधर्मौ सुखंदुःखं, मानसानि न ते विभो।
न कर्त्ताऽऽसि न भोक्ताऽऽसि मुक्त एवासि सर्वदा॥ 1.6

जैसे भक्तलोग भगवान्‌को 'हे विभु' बोलते हैं, वैसे ये महात्मा आपलोगोंको ही बोलते हैं—'हे विभो'! आप वह हैं, जो इस सम्पूर्ण विश्वके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। 'विविधं भवति इति विभुः'—जो विविध रूपमें हो जाय, उसको 'विभुः' बोलते हैं। *'विशिष्टं भवति इति विभुः'*— जो विशिष्ट रूपमें होय, उसका नाम 'विभु'। *विपरीतं भवति, विकर्त्तरूपेण इति विभुः।* तो आप कौन हैं? आप एक होकर भी अनेक हो रहे हैं। आप चेतन होकर भी जड़ हो रहे हैं। आप दृङ्मात्र होकर भी दृश्य हो रहे हैं।

हे विभो! *धर्माऽऽधर्मौ सुखंदुःखं च ते तव न भवन्ति*—ये धर्म-अधर्म, सुख-दुःख—ये सब आपको छूते नहीं हैं। तुम्हारे साथ जुड़ते नहीं हैं। *'यतः एतानि सर्वाणि मानसानि'*—क्योंकि, ये सब-के-सब मानस हैं।

देखो, दो तरहसे आपके साथ इनका सम्बन्ध नहीं है। *तव न भवन्ति। कस्मात्? तव विभुत्वात्, एतेषाम् च मानसत्वात्।* तुम तो हो विभु! इसलिए, धर्म-अधर्म और सुख-दुःखका तुम्हारे साथ सम्बन्ध नहीं है और ये हैं मानस। तो कल्पनामात्र जो वस्तु होती है, उसका किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। तो *धर्माधर्म सुखदुःखानाम् मानसत्वात् तव न विभुत्वात्।*

देखो, बिना मनके धर्माधर्म होता ही नहीं, नोटका बण्डल पड़ा है। यदि आपने उसको देखा, तो देखनेसे आपको पाप नहीं लगेगा। अच्छा मनमें आ भी गया कि इसको उठा लें, तब भी पाप नहीं लगेगा। इसके आगे चलकर उसका परिणाम बुरा हो सकता है! हाथसे उठानेपर पाप क्यों होगा? आप पुलिसमें जमा करनेके लिए उठाइये। जिस मालिकका है उसको देनेके लिए उठाइये। पाप नहीं होगा। लो, देखनेसे पाप नहीं हुआ, क्योंकि, वह तो ज्ञान है। पानेकी इच्छामें भी पाप नहीं हुआ, क्योंकि वह स्वप्नवत् एक संकल्पमात्र है। स्वप्नमें पाप नहीं लगता। अच्छा, उठानेकी क्रिया तो जाग्रतवत् हुई। तब तो उसमें पाप लगेगा? नहीं, उसमें यदि मालिकको देनेके लिए उठाया अथवा पुलिसको सूचित करनेके लिए उठाया, किसी चोर-ठगसे बचानेके लिए उठाया तो पाप नहीं लगेगा। माने हर हालतमें पाप तब उत्पन्न होगा, जब अपेक्षा-बुद्धिसे आप उसको देखेंगे, अपेक्षा-बुद्धिसे छूयेंगे, अपेक्षा-बुद्धिसे उसके साथ कोई क्रिया करेंगे! और यदि आपकी उपेक्षा-बुद्धि बनी रही—मेरे लिए नहीं, मेरा नहीं है—तो पापकी उत्पत्ति नहीं होगी। अब देखो, पाप मानस हुआ कि नहीं?

अकर्ता-अभोक्ताका स्वरूप : विभिन्नमत

कल आपको सुनाया था कि आप न कर्त्ता हैं, न भोक्ता हैं। सिद्धान्तकी बात आज आपको सुनानेके लिए हम अभीसे तत्पर हैं। और, हम जानते हैं कि कई लोगोंकी समझमें बात नहीं आती है। पर, जब दो-चार बार सुनेंगे तो धीरे-धीरे समझमें आ जायेगी। अगर आप यह सोच लेते हैं कि जितना हमारी समझमें आता है, उतना ही आवे और उससे आगेकी बात हमारी समझमें न आवे, तो आप अपनी समझका दरवाजा बन्द कर लेते हैं। नहीं, जो बात आपकी समझमें नहीं आती है, उसको भी सुनिये और उसको भी समझनेकी कोशिश कीजिए।

अच्छाजी, आप कर्त्ता हैं और भोक्ता हैं! तो निषिद्ध-कर्म करते हैं तो अधर्मकी उत्पत्ति होती है और विहित-कर्म करते हैं तो धर्मकी उत्पत्ति

होती है। और, अनुकूल फलकी प्राप्ति होती है तो आप सुखी होते हैं तथा प्रतिकूल फलकी प्राप्ति होती है तो आप दु:खी होते हैं।

कल आपको सुनाया कि हम कर्त्ता क्यों नहीं हैं? हाथ है तो उससे घूँसा तानते हैं। कर्त्ता हुए न! हाथ जोड़ते हैं। कर्त्ता हुए न! बोले कि हम चाहें तब घूँसा मारें, हम चाहें तब हाथ जोड़ें। तो घूँसा मारने और हाथ जोड़नेके बीच चाहना है न! अच्छा, तुम अगले क्षणमें क्या चाहोगे? मालूम नहीं है। तब न जाने कहाँसे एक चाहकी हवा बही और वह आपसे मुट्ठी बँधवाती है और हाथ जुड़वाती है। अच्छा तो आप इतने-से ही अगर समझ लें कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ, तो इससे आप अपनेको मुक्त नहीं समझ सकेंगे। यह तो बहुत स्थूल विचार है।

अब देखो, कर्म गुणोंसे होता है, इन्द्रियोंसे होता है, प्रकृतिसे होता है, पाँच चीज़ोंके मेलसे होता है, स्वभावसे होता है कि ईश्वरसे होता है? मेरा ऐसा विश्वास है कि जब आप लोग अष्टावक्रगीता सुनना पसंद करते हैं, तो आपने भगवद्गीता जरूर पढ़ी होगी!

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। गी. 3.27

मनुष्य जो कर्म करता है, उसमें प्रकृतिके गुण-सत्त्व, रज, तम काम करते हैं। जब मनुष्यका तमोगुण बढ़ा हुआ होता है, तब वह दूसरेको नीचा दिखानेके लिए काम करता है। रजोगुण बढ़ा हुआ होता है तो अपने बड़प्पनको दिखानेके लिए काम करता है। सत्त्वगुण बढ़ा हुआ होता है तो शांत हो जाता है। देखो तो, गुण काम करते हैं।

बोले कि नहीं, *'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः'* गी. 13.30। प्रकृतिके गुण नहीं, प्रकृति ही कर्म करती है। जब प्रकृति करती है—यह मनुष्य देखने लगता है तो अपनेको अकर्त्ता देखता है। आपके ध्यानमें यह बात आयी कि नहीं आयी? न आयी हो तो हम आपका ध्यान खींचते हैं। अकर्त्ता दृश्य होता है! कर्त्ता ही दृश्य नहीं होता, अकर्त्ता भी दृश्य होता है।

यः पश्यति तथाऽऽत्मानं अकर्त्तारं स पश्यति। गी. 13.30

जैन-मतमें ऐसा मानते हैं कि जब मनुष्य साधन करते-करते बिलकुल उज्ज्वल, निर्मल, प्रसन्न हो जाता है, तो वीतराग पुरुष अपने-को अकर्त्ताके रूपमें देखता है। पहले कर्त्ता था और साधनके बलसे अकर्त्ता हो गया और अपनेको निर्मल, उज्ज्वल, वीतराग एक इकाईके रूपमें देखता है।

गीतामें ही देखो—

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ गी. 14.19

गुण ही कर्त्ता है, आत्मा नहीं।

बोले भाई कि अब तो हम अकर्त्ता हो गये न? अभी नहीं हुए। अभी आप सच्चे अकर्त्ता नहीं हुए। इन्द्रियाँ कर्म करती हैं—यह आप देखने लगेंगे तो क्या अकर्ता हो जायेंगे?

नैव किंचत्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ गी. 5.8-9

देखो, इसमें क्या है? 'नैव किंचित् करोमि'—यह जो वृत्ति है, इसमें कर्ता बैठा हुआ है और 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्' में 'इति धारयन्'में धारयति—इस क्रियाका कर्ता बैठा हुआ है। नहीं हुए आप अकर्ता! भई, अध्यात्म-शास्त्रका विचार कोई मछली, कछुआका विवेक थोड़े ही है। राई-नोनका विवेक नहीं है!

अच्छा, हमने यह जान लिया कि पाँच चीजें मिलकर काम करती हैं। गीतामें आपने पढ़ा न कि—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

गी. 18.14-16

अकृतबुद्धि, दुर्मति वह है जो पाँच हेतुओंसे कर्म होता है और अपनेको कर्ता मानता है। भलाई-बुराई दोनों हैं—'न्याय्यं वा विपरीतं वा'—अच्छा, तो अब तो आप अकर्ता हो गये। नहीं जी, अभी नहीं हुए।

बोले कि हम तो बिलकुल ईश्वरके शरणागत् हो गये।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गी. 18.61

हम अन्तःकरणरूप यन्त्रमें बैठे हुए हैं, और ईश्वर अपनी मायासे हमको भटका रहा है। वही कर्म करवाता है। हम तो अकर्ता हैं। हो गये अकर्ता? नहीं; अभी नहीं हुए। हे भगवान्!! 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'— ऐसा भी है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपितत्॥

गी. 18.59-60

स्वाभाविक कर्म ही कर्म करवाते हैं। लो जी, हम यह समझ गये तो हो गये अकर्ता! अभी नहीं हुए महाराज!!

तब देखो, जबतक अकर्तापनका बोध नहीं होगा माने अधिष्ठान ज्ञानपूर्वक जब कर्तृत्वका बाध होगा, तब आप सच्चे अकर्ता होंगे और नहीं तो झूठे अकर्ता होंगे!

देखो, आपको दोनों पदार्थोंकी एकतासे अकर्तापनका बोध सुनाते हैं!

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्तिकम्॥ गी. 2.21

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यतेहतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ गी. 2.19

असलमें न तत्–पदार्थके साथ कर्मका सम्बन्ध है और न त्वं–पदार्थके साथ कर्मका सम्बन्ध है और इस कर्मको असम्बद्ध त्वं–पदार्थ और तत्–पदार्थकी एकताको जब जानेंगे, तो क्या होगा?

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफलेस्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ गी. 4.14

जानोगे कि परमात्मा अकर्ता है और फिर जानोगे कि इस अकर्ता परमात्मासे मैं एक हूँ, तब कर्म–बन्धन तुमको नहीं होगा। 'न करोति न लिप्यते', 'न हन्ति न निबध्यते'।

तो पहली बात वेदान्त ज्ञानमें यह जाननेकी है कि कर्म तो जितने होते हैं, मनोमयकोशका अन्नमयकोशके साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिए जब बीचमें प्राणमयकोशका यंत्र रहता है, तब मन संकल्पके धक्केसे प्राणको संचालित करता है और प्राणके धक्केसे शरीर संचालित होता है और मनको संचालित करनेके लिए विज्ञानमय कोशमें बैठा हुआ आत्मा है, कर्ता है और उसमें भी मूलवासनाओंका बीज आनन्दमय कोशमें बैठा हुआ है। कहाँ सुख मिलता है, कहाँ दु:ख मिलता है—सुख बोले कर्मके लिए कर्ता कर्म करता है और दु:खवाले–से बचनेका प्रयत्न करता है। फिर अपने मन रूपकरणका उपयोग करता है, मन रूपकरणसे प्राणको धक्का लगता है और प्राण शरीरको क्रियाशील बनाता है। तो अन्नमयके भीतर प्राणमय, प्राणमयके भीतर मनोमय, मनोमयके भीतर विज्ञानमय और विज्ञानमयके भीतर आनन्दमय। और, अज्ञानके कारण यह त्वं पदार्थ रूप साक्षी इसके साथ सम्बद्ध होकर अपनेको कर्ता मान रहा है।

तो सांख्यवादियोंने कहा कि अविवेकके कारण कर्तापन है। सो अविवेकको मिटा दो। तो क्या अविवेक मिट जानेसे कर्तापन मिट जायेगा? नहीं मिटेगा। अच्छा, योगवादियोंने कहा कि यह जो द्रष्टाका वृत्तियोंके साथ सारूप्य है, इसके कारण कर्तापन है। बोले कि नहीं–नहीं,

वृत्ति चाहे शान्त हो, चाहे विक्षिप्त हो और चाहे विवेक हो, चाहे न हो! 'मुक्त एवासि सर्वदा'—का अर्थ देखना पड़ेगा न! 'सर्वदा' माने वृत्ति-सारूप्यमें भी तुम मुक्त हो। अविवेक-कालमें भी तुम मुक्त हो!

भगवद्गीताका डिम्डिमघोष :

अब जरा आपको एक दो बात और इस सम्बन्धमें सुनाते हैं। यदि आपलोग गीता नहीं पढ़ते हैं तो हमारे इस वचनको सुनें। प्रवचनको नहीं, प्रियवचनको, आपके लिए बड़ा-ही हितकारी वचन मैं आपको सुना रहा हूँ। इसे सुनकर आपके मनमें गीता पढ़नेकी इच्छा होगी कि गीतामें ऐसा निर्द्वन्द्व दृष्टिकोण दिया है कि जिससे आपको पाप-पुण्य न लगे। ऐसी एक विद्या है हमारे पास, जिससे पाप-पुण्य ही नहीं, आपको सुख-दुःख नहीं लगेगा। आपके जीवनमें कभी दुःख नहीं आवेगा, वह कला हम आपको गीतासे बताते हैं। 'सुखंदुःखं मानसानि न ते विभो।'

तो देखो, 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति'—माने भगवान् कर्ता नहीं है और 'न मे कर्मफले स्पृहा'—भगवान् भोक्ता नहीं है और इस बातको जब जानोगे, तब तुम अकर्ता, अभोक्ता हो जाओगे। माने दोनों एक! गीताका यह एक वज्र नहीं, विष्णुचक्र है।

गीताके मतमें, भगवान्के मतमें ध्यानयोग साधन नहीं है, गतानुगतिकर्ता माने अन्धानुकरण साधन नहीं है। ये सारे साधन भगवान्के मतमें नहीं हैं। अब गीता पढ़नेवाले कहेंगे कि बाबाजीने तो बंटाढार ही कर दिया। बंटाढार तो कर रहे हैं, पर आप गौरसे नहीं पढ़ते हो, इसलिए। आपकी बुद्धिमें जो एक संस्कार पड़ गया है, उस संस्कारका बंटाढार कर रहे हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। गी. 13.24

'केचित्' माने कोई-कोई ध्यानयोगसे हृदयमें आत्माको देखते हैं। यह भगवान्का मत नहीं है। '**अन्ये सांख्येन योगेन**'—दूसरे लोग सांख्ययोगके द्वारा आत्मदर्शन करते हैं। पर, यह भगवान्का मत नहीं है।

'**कर्मयोगेन चापरे**'—दूसरे लोग कर्म योगके द्वारा आत्मदर्शन करते हैं। पर, यह भगवान्‌का मत नहीं है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। गी. 13.25

कोई-कोई आत्मोपासना करते हैं। वह तो ठीक है। उनको भी फलकी प्राप्ति होती है। हम फलका निषेध नहीं करते।

गीतामें जहाँ 'केचित्' 'अपरे' करके मतका निरूपण है—

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे। गी. 18.3

तो 'अपरे' और 'परे' कहकर जिस तत्त्वका निरूपण भगवान् करते हैं, वह भगवान्‌का अपना मत नहीं है। क्योंकि, उसके बाद तो वे अपना निश्चय अलगसे प्रकट करते हैं।

तो परमात्माके ज्ञानके लिए क्या निश्चय है?

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च॥

गी. 13.12-13-15

वही चर है, वही अचर है। यह भगवद्-मत है।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते। गी. 13.18

तो त्रिगुणका अतिक्रमण करना—यह भगवान्‌का मत है? बिलकुल नहीं है।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते। गी. 14.26

पहले गुणोंका अतिक्रमण होगा, तब ब्रह्मभावकी प्राप्ति होगी। 'समतीत्य' में असमास-क्रिया है।

देखो नारायण, असलमें जब तत्-पदार्थ प्रधान उपासना की जाती है तो शालग्रामकी बटिया सामने रखते हैं और कहते हैं कि आप साक्षात् जगदीश, जगत्कारण परमेश्वर हैं। और, जब त्वं-पदार्थ प्रधान उपासना

होती है, तब मैं ज्ञाता हूँ, मैं ध्याता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ और अपने आपमें ठीक वैसे ही अहंमें ईश्वर-बुद्धि की जाती है। तत्-पदार्थकी दृष्टिसे शालग्रामकी शिलामें जैसी भगवान्की उपासना है, वेदान्तकी दृष्टिसे अपने अहंमें भी इस ब्रह्मभावका करना बिलकुल वैसी ही ईश्वरकी उपासना है। उपासना-उपासना तो बिलकुल एक है। यह तो बेवकूफ लोग महाराज एक छुड़ाकर दूसरेका उपदेश केवल चेला बनानेके लिए करते हैं। नहीं तो अहंमें जैसे परमात्मा हैं, इदंमें भी वैसे ही परमात्मा है। यहाँ शालग्राममें उपासना कर लो, तो ठीक और अहंमें कर लो तो ठीक। 'शिवोऽहम्' बोलो, तो ठीक और 'त्वमेव शरणं मम देव देव' बोलो, तो ठीक! इसका नाम सनातन-धर्म है। सनातन-धर्मका एक अंग है, शालग्राममें विष्णुकी उपासना और एक अंग है, अहंमें ब्रह्मकी, परमात्माकी उपासना। ये दोनों भावपूर्वक की हुई उपासना हैं। परमार्थ तत्त्वका निरूपण जो है, वह इससे आगे है!

जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख : सर्वात्मभाव

अच्छा, इसके बारेमें एक बात आपके कानमें इसलिए डालता हूँ कि यह समयपर, जब आपको कोई बर्गलाने लगे, तब काम देगी! हमारे वैदिक-धर्मके अनुसार ज्ञान होनेके बाद जीवन्मुक्तिका विलक्षण-सुख क्या है? जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है, 'सर्वात्मभाव'। मच्छर भी अपना आत्मा है, चींटी भी अपना आत्मा है, साँप भी अपना आत्मा है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी अपना आत्मा है, ईश्वर, परमेश्वर भी अपना आत्मा है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड भी अपना आत्मा है। यह सारे तत्त्वज्ञानके बाद माने अविद्याकी निवृत्तिके बाद जो तत्त्वज्ञानीका जीवन है, उसके व्यक्तिगत जीवनमें जो प्रतिफलित अर्थ है—वह है 'सर्वात्मभाव'। दोनों हाथ उठाकर यह बात बोलता हूँ। और, यदि तुम परमेश्वरको फेंक दोगे वैकुण्ठमें, तो यह मर्त्यलोकमें सर्वात्मभाव नहीं होगा और यदि परमात्माको समेटकर अपने कलेजेके भीतरके बीचके

माये कैद कर लोगे तो वह केवल द्रष्टा ही है। वह ऐसी जगह कैद हो जायेगा कि 'सर्वात्मभाव' नहीं होगा। इसलिए 'जन्माद्यस्ययत:' आदिके द्वारा विचार करके 'अचरं चर मेव च'—यह अचर भी ब्रह्म है और चर भी ब्रह्म है, यह जड़ भी ब्रह्म है और चर भी ब्रह्म है, यह जड़ भी ब्रह्म है, यह स्थूल भी ब्रह्म है। मनुष्यकी आत्मा ही ब्रह्म नहीं है, मनुष्यका शरीर भी ब्रह्म है!

आप नारायण, एक देहमें जो मैं किया हुआ है, उसको उठानेके लिए विवेक करो और यह देह 'मैं' नहीं हूँ, देहमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, संन्यासित्व बिलकुल कल्पित है—सो मैं नहीं हूँ, काला-गोरा मैं नहीं हूँ। हड्डी-मांस मैं नहीं और इसमें जो ताकत है, सो 'मैं' नहीं, उसमें जो संकल्प है, सो 'मैं' नहीं, जो विचार है, सो मैं नहीं; इसमें जो आनन्द है, सो मैं नहीं और उसमें जो अभिमानी है सो मैं नहीं। तो इसमें-से अपने आपको उठानेके लिए यह विवेक है। और 'मैं' परमात्मासे एक हूँ—यह ज्ञान है और परमात्मासे एक होनेपर जगत्‌की कोई भी मुझसे भिन्न नहीं है—यह सर्वात्मभावका जो अनुभव है, यह जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है।

कभी-कभी हम संकोच कर जाते हैं कि फक्कड़ी बात हम तुम लोगोंको न सुनावें। लेकिन कभी सुननेको मिलती नहीं और बहकानेवाले दुनियामें बहुत ज्यादा हैं। इसलिए, यह बात सुनानी ही पड़ती है कि नारायण, आप रास्तेमें जहाँ अटक रहे हैं, जहाँ भटक रहे हैं, जहाँ लटक रहे हैं और जिसके बिना जिन्दगी भर खटकते ही रहेंगे आपके हृदयमें यह राग और द्वेष और यह भलाई और बुराई! सर्वात्मभाव होगा ही नहीं, जबतक यह ज्ञान न हो कि सब अपना आत्मा है!

योगीको सर्वात्मभाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि, इसने तो संसारको छोड़कर समाधि लगायी है। सांख्यको सर्वात्मभाव नहीं हो सकता। उसने तो विवेक करके प्रकृतिके दृश्योंसे अपनेको अलग किया है। भक्तको सर्वात्मभाव हो सकता है। पर, कब हो सकता है? जब वह अपनी

बुद्धिको ईश्वरमें लीन कर देगा। ईश्वरमें लीन कर देनेके बाद ईश्वरका जो सर्वात्मभाव है, उसके साथ तादात्म्यापन्न होकर सर्वात्मभावका अनुभव करेगा और जब बुद्धि जगेगी, तब कहेगा कि हाय-हाय, हमारा वह ईश्वर कहाँ गया? तो उसको संयोग और वियोग दोनों ही स्थिति होगी। और, वेदान्त जो है—वह संयोग और वियोग दोनोंका झगड़ा ही खतमकर देता है। वह ईश्वर और यह संसार—यह भेद नहीं रहता है। अपने आत्मामें आत्मरूपसे सब प्रतीत हो रहा है!

तो केवल विवेकमें परमात्माको माननेवालेको भी सर्वात्मभाव नहीं होगा और केवल गुफामें छिपे हुए परमात्माको जानने-माननेवालेको भी सर्वात्मभाव नहीं होगा। सर्वात्मभाव तब होगा जब—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ गी. 13.14

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। गी. 9.4

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। गी. 6.29

जब यह बोध होगा।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ गी. 6.30

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ गी. 6.31

अतः जबतक यह सर्वात्मभाव उपलब्ध नहीं होता, तब तुम्हारा द्रष्टापना भी झूठा है और तुम्हारा स्रष्टापना भी झूठा है। जहाँ तक द्रष्टापना और स्रष्टापना—दोनों अलग-अलग रहेंगे, तबतक दुःखकी आत्यन्तिक-निवृत्ति नहीं होगी। इसलिए, 'मुक्त एवासि सर्वदा'। अधिष्ठानका ज्ञान होकर स्वयं प्रकाश सर्वावभासक जो आत्मतत्त्व है, यही सर्वाधिष्ठान ब्रह्म है, जब यह ज्ञान होगा तब तो सच्चे अकर्ता, सच्चे अभोक्ता, सच्चे मुक्त हो जाओगे!

निर्द्वन्द्व होनेकी दवा !

'मुक्त एवासि सर्वदा' पर फिर एक बार थोड़ा ध्यान दे दो! क्या? 'एव सर्वदा'—दोनों पर ध्यान दो। तुम कर्मबन्धनसे मुक्त हो, तुम भोग-बन्धनसे मुक्त हो। माने कर्मगत धर्माधर्म और भोगगत सुख-दुःख—इन दोनोंके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। वह बेवकूफी है जहाँ आदमी अन्यसे अपनेको सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा स्वीकार कर रहा है। तो 'मुक्त एव'का अर्थ हुआ कि तुम मुक्त ही हो। हो जाओ नहीं। 'असि'का अर्थ है 'हो' और 'एव'का अर्थ है 'ही'। मुक्त ही हो अर्थात् तुम जो अपनेको बद्ध मानते हो, वह भ्रम है!

बोले कि अच्छा, अब तो हम महाराज आपकी कृपासे मुक्त हो गये! आपका उपदेश श्रवण करके मुक्त हो गये। इससे पहले तो बद्ध थे न? बोले कि नहीं, वृत्ति सारूप्यकालमें भी जब तुम मनके साथ मिलकर अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी मान रहे थे, तब भी मुक्त ही थे और अविवेककालमें भी तुम मुक्त ही थे, अज्ञान-कालमें भी तुम मुक्त ही थे। मुक्त होने पर भी तुमने अपनेको बद्ध माना! इसलिए, अष्टावक्रजी कहते हैं, 'मुक्त एवासि सर्वदा'।

देखो, क्या मजेदार बात है! इसके बिना आप निर्द्वन्द्व नहीं हो सकते! दुनियाका कोई बड़े-से-बड़ा शहंशाह इसके बिना निर्द्वन्द्व नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता! बड़े-से-बड़ा विद्वान्, बड़े-से-बड़ा साहूकार, बड़े-से-बड़े ब्रह्मा, विष्णु, महेश—यदि उनका यह सिद्धान्त है, तब तो बहुत बढ़िया। और, यदि इस सिद्धान्तसे वे पृथक् हैं तो वे नारायण, वे भी निर्द्वन्द्व नहीं हो सकते! वे भी पाप-पुण्य, कर्तापन, भोक्तापनसे मुक्त नहीं हो सकते—यह सिद्धान्त है। यह तत्त्व है। यह किसी पर लागू हो और किसी पर लागू न हो—सो बात नहीं है! यह वस्तुमूलक है, भावमूलक नहीं है!

द्रष्टाकी अद्वितीयता

एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥ 1.7

द्रष्टा-द्रष्टा करनेवाले लोग इस श्लोक पर ध्यान दें। 'एकोऽसि सर्वस्य द्रष्टाऽऽसि'। यह दृष्टा लोग द्रष्टा बनते भी हैं तो क्या बनते हैं? मैं चिन्मात्र, इन्द्रियोंका द्रष्टा, मनका द्रष्टा, बुद्धिका द्रष्टा, विषयोंका द्रष्टा हूँ। तो यह सर्वस्य कहाँ जायगा? तुम सबके द्रष्टा हो! बोले, महाराज द्रष्टा तो अनेक हैं। अच्छा, सबके द्रष्टा हो तो बताओ तो कलकत्ताके तीन नम्बरके बाजारमें क्या हो रहा है? कलकत्तेके मछली बाजारके बावन नम्बरके मकानमें क्या हो रहा है? बड़े भारी द्रष्टा बनते हो? तो नारायण, इसका नाम द्रष्टापना नहीं है।

एक योगाचार्यसे हमको मिलनेका अवसर हुआ। देश-विदेशके लोग उनके यहाँ योग सीखने आये थे। तो हमको वे अपने यहाँ योगाभ्यासशाला दिखाने ले गये थे। महाराज, उनको यह मालूम नहीं था कि वृत्ति-निरोध और चित्त-निरोध इसमें क्या फर्क होता है? माने योग-दर्शनके दूसरे सूत्रका अर्थ उनको बिलकुल ही मालूम नहीं था और 'तदाद्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं' इस सूत्रका भी अर्थ उनको मालूम नहीं था। यह नहीं कि संस्कृतमें मालूम न हो। सो तो हम माफ करते हैं। संस्कृतमें मालूम न हो तो अंग्रेजीमें मालूम हो, हिन्दीमें मालूम हो! पर, अर्थ तो मालूम होना चाहिए न! द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है—यह उनको मालूम नहीं। समाधि ही सब कुछ है, यही उनको मालूम है। समाधिका द्रष्टा होता है, यह उनको मालूम नहीं था। और, वृत्ति-निरोध क्या चीज है? चित्तका निरोध तो कभी होता ही नहीं है। वह तो केवल ब्रह्मज्ञानसे चित्तका बाध ही हो सकता है। वृत्तिका ही निरोध हो सकता है। चित्त तो बीजरूपसे हमेशा बना ही रहेगा! हे भगवान्! वे योगाचार्य और ढ़ेर सारे विदेशी लोग उनके शिष्य! जो न जानें योग, न जानें ईश्वर, न जानें धर्म, न जानें शास्त्र, न जानें अध्यात्म। अब उनको कह दिया कि

अपने सिरको जरा पीछेको झुकाकर और आँख थोड़ी-सी ऊँची करके देखो तो ईश्वरका दर्शन कर लो! यह दिखायी पड़ रहा है ईश्वर! तो नारायण, योगाचार्यकी तो यह स्थिति है, जो अनजान लोगोंके बीचमें अपनेको योगाचार्य बनाकर बैठे हैं, पुजवाते हैं।

तो यहाँ दो शब्दों पर ध्यान दो—'एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य'। एक तो तुम 'सर्व'के द्रष्टा हो और दूसरे एक हो। 'एकोऽसि' कहनेका अर्थ यह है कि जीव अनेक नहीं है। यह द्रष्टा भी अनेक नहीं होता। यह युक्ति-विरुद्ध है। जैसे हम कहें कि एक द्रष्टा तो मैं हूँ और एक द्रष्टा यह है और एक द्रष्टा वह है। तो दूसरा द्रष्टा जो मालूम पड़ेगा, वह हमारे सामने दृश्य होकर मालूम पड़ेगा कि बिना दृश्य हुए ही मालूम पड़ेगा। तो यदि दृश्य होकर मालूम पड़ता है, तब तो द्रष्टा ही नहीं है। वह तो दृश्य हो गया। और यदि दृश्य नहीं होता है, हम केवल कल्पना करते हैं तो कल्पना भी दृश्य ही है और यदि हम कहते हैं कि 'अहं' है तो दूसरा द्रष्टा सही, लेकिन न हम उसको देखते हैं, न हम उसकी कल्पना करते हैं। वह तो कोई है!

तो देखो, असलमें किसी भी हालतमें दूसरा द्रष्टा है, इस प्रकारका अनुभव नहीं हो सकता। हम ऐसे बोलते हैं कि संसारमें कभी आजसे पहले और आज और आजके बाद और किसीको भी, यहाँ तक कि ईश्वरको भी यह अनुभव नहीं हो सकता कि दूसरा द्रष्टा है। क्योंकि, ईश्वर भी जिसको दूसरे द्रष्टाके रूपमें देखेगा, वह ईश्वरका दृश्य होगा! तो सिद्ध द्रष्टा एक होता है।

अब कहो कि वह मछली बाजार और तीन नम्बरके बाजारकी बात क्यों नहीं मालूम पड़ती? बोले कि यह जो द्रष्टा है, वह यदि इन्द्रिय-वृत्तिके द्वारा ज्ञाता होता, तब तो जहाँ तक इन्द्रियोंकी पहुँच है—उसको बताता। इन्द्रियोंकी शक्तिको जाग्रत् करके ऐसा भी हो सकता है कि दूर-दर्शन हो जाय। अच्छा, एक ऐसा है कि अपने मनको सूक्ष्म कर लें तो मन-ही-मन दूसरेसे बात कर लें, मन-ही-मन, मन-ही-मन दूसरेकी सुन लें, मन-ही-मन दूसरेके दिलकी जान लें। अब तो द्रष्टा हुए न! यह द्रष्टा

नहीं हुए, विक्षिप्त हुए। विक्षिप्त द्रष्टा नहीं, विक्षिप्त ज्ञाता हुए। अरे, आज हमने एक भूत देखा है। जरूर अब द्रष्टा हो गये। कहे कि आज तो हमने ईश्वरको देख लिया। हम द्रष्टा हो गये! वह ईश्वरको नहीं देखा। आपने अपनी नजरके बच्चेको देखा है! 'ईश्वर' वह है जो आँखके पीछेसे झाँकता है, अन्तःकरणके पीछेसे झाँकता है, ईश्वरको भी अगर कुछ देखना होगा तो तुमसे एक होकर देखेगा!

एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा। 1.7

'मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा'का अर्थ है कि जैसे आप जाग्रत्‌में बादशाह हों—अब बादशाह तो बेचारे मर गये! अब ऐसे कहें कि आप मिनिस्टर हों, किसी देशके राष्ट्रपति हों, प्राइम-मिनिस्टर हों! वह भी मर गया बेचारा। तीन-तीन, पाँच-पाँच वर्षके भीतर ही उनके मरनेकी सम्भावना रहती है। ब्रह्माजीकी तो एक कल्पके भीतर मरनेकी सम्भावना रहती है और यहाँ तो तीन वर्ष पाँच वर्ष क्या रातो-रातमें तख्ता पलट जाता है। तो आपका जो बड़प्पन है, वह तो खेल है! नारायण, तो यदि कोई शहंशाह स्वप्नमें गरीब हो जाय और फिर स्वप्न टूटनेके बाद शहंशाह हो जाय तो क्या स्वप्नमें गरीबीका भान होनेसे वह गरीब हो गया? वह उस समय भी शहंशाह ही है। इसी तरहसे यह आत्मा, नित्य शुद्ध, नित्य मुक्त, अखण्ड अद्वय ब्रह्म है।

तो देखो, एक तो अधिष्ठानज्ञानके बिना कर्तापन, भोक्तापनकी असली निवृत्ति नहीं हो सकती। अधिष्ठानज्ञान माने आत्माको अद्वितीय ब्रह्मरूपसे जानना। और, दूसरी बात यह कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानके बिना सर्वात्मभावरूप जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। चाहे आप जो बनकर बैठ जाओ।

प्रश्न उठा कि पहले कहा, 'मुक्तोएवासि' और अब बोलते हो 'मुक्त प्रायोऽसि'। तो, यह 'मुक्त प्रायोऽसि' क्यों बोलते हो? 'मुक्त प्रायोऽसि' माने प्रायः तुम मुक्त हो! अर्थात् जिस अवस्थामें तुम अपनेको बद्ध अनुभव करते हो, उस अवस्थामें भी मुक्त हो! यह कहनेका अभिप्राय तो यह है!

हे भगवान्! आपको बन्धनका स्वरूप बताते हैं। हम बचपनमें गीता पढ़ते थे। उसमें परमात्माका वर्णन आता है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्।

आत्माका ही तो वर्णन है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। गी. 13.14

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ गी. 13.17

तो; हम समझते थे कि ऐसा कोई परमात्मा होगा! मैं तो नहीं हूँ। मेरा तो जन्म हुआ, मेरा बापकी तरह मरण होगा। मैं साढ़े तीन हाथका हूँ। मैं ब्राह्मण हूँ। यह सब अभिमान अपने मनमें था। तब मैं परमात्माका वर्णन पढ़ता था, समझता था। गीताका पाठ करना मैंने तबसे शुरू किया है, जब गीताकी शुद्ध हिन्दी टीका अभी छपी नहीं थी।

तो बन्धन क्या है? यह जो गीतामें, रामायणमें, भागवतमें, उपनिषद्में, वेदान्तमें परमात्माका वर्णन है, इसको यह समझ बैठना कि यह किसी दूसरे परमात्मा वर्णन है, वह आत्मदेवका वर्णन नहीं है—'अयमेव हि ते बन्धः' 'द्रष्टारं पश्यसीतरम्'। इतरं द्रष्टारं पश्यसी! मुझे देखनेवाला कोई दूसरा है! मुझे देख रही है चिड़िया। मुझे देख रही है चींटी। मच्छर देखता है तो लाल-लाल खून ही उसको दिखता है! कुत्ता देखता है तो मांस दिखता है उसको! यही तो वे लोग देख रहे हैं। अरे, हमको दुनियाके लोग देख रहे हैं। अरे नहीं, हमको देवता, दानव देख रहे हैं। हमको तो दूसरा ईश्वर, परमेश्वर दिख रहा है। द्रष्टारं इतरं पश्यसि—जो तुम अपना भी किसी दूसरेको द्रष्टा देख रहे हो। आपको बतावें, इसमें क्या वज्र मारा है। किसको मारा है? दूसरे द्रष्टाको वह कैसे मारा हुआ है? यह 'पश्यसि' जो क्रिया-पद है, यह दूसरे द्रष्टाको वज्र मारता है। इतरं द्रष्टारं पश्यसि—*यदि कश्चित् इतरो द्रष्टा भवति तरहि तमसि त्वमेव पश्यसि*—यदि कोई दूसरा द्रष्टा है, तो उसको भी तू ही देख रहा है। माने असली द्रष्टा तू ही है, वह नकली है। दूसरे द्रष्टाको बिलकुल बम मार दिया। अरे, द्रष्टाका द्रष्टा तू! दूसरेको अपना द्रष्टा काहेको मानता है?

●

प्रवचन : 9

मैं कौन हूँ, नहीं, मैं क्या हूँ?

एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥ 1.7

हम कहाँसे आये हैं या कहाँ जायेंगे—इसका नाम वेदान्त-विचार नहीं है। क्योंकि, मनुष्यके पास ऐसा कोई यन्त्र नहीं है, कोई मशीन नहीं है—जिसके द्वारा वह अनादिभूत और अनन्त-भविष्यका साक्षात्कार कर ले! जैसे आपका रेडियो इस समय जो बोला जा रहा है, उसीको ग्रहण करता है। अबसे पाँच वर्ष पहले क्या बोला गया, उसको ग्रहण करनेका सामर्थ्य आपके रेडियोमें नहीं है। कलके बोले गये को भी ग्रहण नहीं कर सकता। ऐसे ही संसारके आदिमें क्या था और अन्तमें क्या रहेगा—यह कल्पना करनेके लिए आप पहुँच जायें तो देवीवाला कहेगा कि देवी थी और गणेशवाला कहेगा कि गणेश था। विष्णुवाला कहेगा कि विष्णु था और शिववाला कहेगा कि शिव था। निराकारवाला कहेगा कि निराकार था और जड़तावाला कहेगा कि जड़ता थी। किसीसे कहो कि अच्छा, तुम अपनी चीज दिखा दो तो वह दिखा नहीं सकेगा!

अच्छा, हम क्यासे क्या हो गये और आगे हमको क्या होना है? यह विचार भी वेदान्तका विचार नहीं है। 'होना' कर्मसे होता है। कोई चीज बदलती है तो वह कर्म करनेसे बदलती है, उपासना करनेसे बदलती है, योगाभ्याससे बदलती है। बस, हमारा कर्त्तव्य क्या है? यह आपको

सोचना है तो हम बिलकुल वेदान्तकी भूमिकाको छोड़कर बतावें कि क्या आपका कर्त्तव्य है ? वेदान्तको छोड़ दें। और, उसमें भी फिर यह बतावेंगे कि स्त्रीका कर्त्तव्य क्या है, पुरुषका कर्त्तव्य क्या है, ब्राह्मणका कर्त्तव्य क्या है, संन्यासीका कर्त्तव्य क्या है ? तो यह भी वेदान्तका प्रश्न नहीं है। ये सब अलग चीज हैं ! हमको आप यह कहो कि सब खिचड़ी करके बोलो। तो जब विवेक नहीं होगा, अलगाव नहीं होगा तो बोलनेका कोई मतलब नहीं होगा। किस देवताकी उपासना करें, तब हमारा कल्याण होगा ? यह भी वेदान्तका प्रश्न नहीं है। और, हम किस स्थितिमें बैठ जायें, तो वेदान्त हो जायेगा ? बोले कि नहीं, यह भी वेदान्तका प्रश्न नहीं है ! तुम किस स्थितिमें बैठोगे तो वेदान्त होगा और कहाँ बैठोगे, तब वेदान्त होगा। तो यह सब भी कुछ नहीं ! आप पूछोगे कि मैं कौन हूँ, महाराज ?' आप भूलमें मत पड़ना ! इसका नाम भी वेदान्त नहीं है ! आप पूछो, 'मैं कौन हूँ ?' मैं कहता हूँ, 'आप मनुष्य हैं।' लो काटो इसको।

तो वेदान्त कोई बच्चोंके लिए, बच्चोंका खेल नहीं है। वह एक गम्भीर वस्तु है और पहले लोग उसके लिए बड़ा त्याग, बड़ा वैराग्य करते थे, महात्माओंकी शरण ग्रहण करते थे। 'मैं कौन हूँ' नहीं. 'मैं क्या हूँ ?' आप देखो, दोनोंमें फर्क है कि नहीं है ? 'मैं कौन हूँ ?' आप एक आदमी हैं, आप औरत हैं, आप मर्द हैं। असलमें आप कौन है ? इसका उत्तर है कि आप अपनेको जो मानते हैं, सो हैं। आप अपनेको ब्राह्मण मानते हैं तो ब्राह्मण हैं, संन्यासी मानते हैं तो संन्यासी हैं।

पुराणोंमें एक कथा आती है कि एक दिन एक देवताने एक अप्सरासे कहा कि आज तुम हमारे साथ रहो। तो अप्सराने कहा कि क्षमा कीजिये स्वामी ! आज मैंने अमुक मनुष्यके साथ समझौता कर लिया है। आज मैं रातभर उसकी पत्नी हूँ। मैं बन्धनमें हूँ, मर्यादामें हूँ। कल जब मैं उसके बन्धनसे मुक्त हो जाऊँगी, तब आप मुझे आज्ञा करना ! मैं आपकी सेवामें आऊँगी !

संसारमें 'मैं कौन हूँ'—का यही उत्तर है। उसने कहा कि आजके

लिए मैं दूसरेकी पत्नी हूँ। आज तो आप जानते ही हैं कि एक-एक रातके लिए ब्याह होता है। एक-एक महीनेके लिए, पन्द्रह-पन्द्रह दिनके लिए लोग संन्यासी भी होते हैं। तो, बहुत बढ़िया है! परन्तु, वह संन्यासी, जिसकी दृष्टि प्रज्ज्वलित है, जिसकी ज्ञानाग्निमें सम्पूर्ण द्वैत भस्म हो जाता है, वह संन्यासी केवल एक बार होता है, दो बार नहीं होता!

तो 'आप कौन हैं' नहीं, आप क्या हैं? प्रश्न धातुगत है। प्रश्न आकृतिगत होता तब 'मैं कौन हूँ' होता। 'आकृति' माने शकल-सूरत। औरतकी शकल-सूरत मर्दकी शकल-सूरत। मैं औरत हूँ, मैं मर्द हूँ! ठीक है। मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं जन्मवाला हूँ, मैं मौतवाला हूँ! प्रश्न तो यह है कि यह धातु कौन-सी है, मसाला क्या है, वह मैटर क्या है—जो 'मैं' हूँ? प्रश्न धातुगत है, आकृतिगत नहीं है।

संस्कारसे ब्राह्मण होता है, जन्मसे मनुष्य होता है। विवाह करनेपर गृहस्थ होता है और त्याग करनेपर संन्यासी होता है। वह सब होता और जाता है। आप पीतल हैं कि सोना हैं कि माटी हैं कि जड़ हैं कि चेतन है? सवाल यह है। यह वेदान्तका प्रश्न है। इसके उत्तरमें बोलते हैं 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि'।

दिल्लीमें एक वेदान्ती थे, उनका नाम पहले नारायणदास था। तो जब उन्होंने विचार सागर पढ़ लिया तो उन्होंने सोचा कि मैं अपना नाम नारायणदास कैसे रख सकता हूँ? अब मेरा नाम ब्रह्मदास रहेगा। तो इसका नाम वेदान्त नहीं होता है कि नारायणदासकी जगह, ब्रह्मदास बन गये। वह तो जो नारायण है, सो ही ब्रह्म है।

तो नारायण, यहाँ तो प्रश्न यह है कि आत्मा कौन है नहीं, क्या है? जड़ है कि चेतन है? पापी है, पुण्यात्मा है, सुखी है, दुःखी है, जन्म-मरणमें आने-जानेवाला है, स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाला है या शुद्ध होकर एक इकाईके रूपमें जगमग ज्योति जगानेवाला है कि सिद्ध है? यह आखिर है क्या? इसका उत्तर, इसका विचार वेदान्त शास्त्रमें है।

एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।

उच्छृंखलताका नाम वेदान्त नहीं!

हम पाँच-छः वर्षके थे, तब शंकरजीके बड़े भक्त थे। हमारे घरमें शंकरजीकी पूजा वैसे तो रोज होती थी। पर, श्रावण-महीनेमें पार्थिव-पूजा भी होती थी। सवा लाख बेल-पत्र शंकरजी पर चढ़ाया जाता था। तो जो पूजा होनेके बाद आरतीकी घंटी बजती और हम दौड़कर पहुँच जाते! लोग तारीफ करते कि देखो, कितना बढ़िया बच्चा है! अभीसे शंकरजीका भक्त है। पर, हम शंकरजीके भक्त इसलिए थे—हमको वहाँ जाने पर बढ़िया-सा प्रसाद मिलता था। तो घंटीकी आवाज सुनते ही समझ जाते कि अब यहाँ प्रसाद मिलनेवाला है। तो प्रसादके प्रेमी दूसरे होते हैं और शंकरजीके प्रेमी दूसरे होते हैं। हम तो प्रसादके प्रेमी थे।

तो यह जो वेदान्तकी चर्चा है, इसमें कई लोगोंका ऐसा ख्याल है कि जब हमने विचार सागरकी पोथी या पंचदशीकी पोथी हाथमें उठा ली तो वेदान्ती हो गये और वेदान्तीको तो पाप-पुण्य लगता नहीं! तो अब हम चाहे जो करें, इसके लिए स्वतन्त्र हो गये। तो नारायण, जैसे हम शंकरजीके भक्त नहीं, प्रसादके भक्त थे, ऐसे ही ये लोग महाराज वेदान्तके भक्त नहीं हैं, उच्छृंखलताके भक्त हैं। बस, हमको छुट्टी मिल जाय, चाहे जो खायें, चाहे जो पीयें, चाहे जो करें, चाहे नंगा हो जाँय। इसके लिए जो वेदान्तकी पोथी हाथमें लेते हैं, वेदान्त श्रवण करते हैं—वे वेदान्ती नहीं हैं।

दुःखका कारण : विभिन्नमत

देखो, जितनी बुराई होती है, वह सारी-की-सारी बुराई इस देहमें 'मैं' करनेसे होती है। असलमें दुनियामें जो बारम्बार फल-व्याप्ति हो रही है, वही दुःख देती है। वृत्ति व्याप्ति दुःखका हेतु नहीं है। वृत्ति-व्याप्ति और फल-व्याप्तिमें क्या फर्क है? देखो, यह फूल है—इतना जानना दुःख नहीं है। यह फूल मेरा है और मैं फूलवाला हूँ—यह देहके रूपमें रहा 'मैं' और यह फूल है मेरा। तो फूलवाला 'मैं', धनवाला मैं, बेटावाला 'मैं'-यह जो अपने साथ एक झूठा अभिमान जोड़ लिया गया है, यह दुःख देता है।

इसको सांख्यवादी दूसरी रीतिसे बोलते हैं। पर बात यही कहते हैं। वे कहते हैं कि प्रकृतिसे बनी हुई जो सृष्टि है—स्त्री है, पुरुष है, सोना-चाँदी है—यह सब प्रकृतिका ही तो खेल है न! यह किसीको दुःख नहीं देता है। परन्तु, जब तुम यह मानोगे कि यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुरुष, यह मेरा मकान, यह मेरा नोटका बण्डल, यह मेरा सोना, यह मेरा चाँदी और यह वाला 'मैं'—तब यह अविवेकके कारण जब तुम देहको 'मैं' और बाहरकी वस्तुओंको मेरी मानोगे, तभी तुमको दुःख होगा। तुम्हारे दुःखका हेतु यह नहीं है कि दुनिया है और दिख रही है। इसीलिए सांख्यवादी कहते हैं कि दुनिया चाहे जैसी दिखे, दीखने दो। इसके मैं-पने और मेरे-पनेमें मत फँसो! इसीसे वे ज्ञान मानते हैं, विवेक मानते हैं! द्रष्टाने अपनेको जान लिया कि 'मैं' न 'मेरा'—*'एवं सत्य विवेकात् नाहं न मे इत्यपरिशेषम् अविपर्ययात् विशुद्धं केवल उत्पद्यते ज्ञानं।'*

भक्त लोग कहते हैं कि नहीं, यह सृष्टि प्रकृति है—यह बात बिलकुल गलत है। असलमें यह ईश्वर ही सृष्टिके रूपमें प्रकट हो रहा है। 'जहाँ देखता हूँ, वहाँ तू-ही-तू है'। इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर है। जैसे, सोनेका एक-एक कण सोना है, कंगन सोना है, हार सोना है, कुण्डल सोना है, ऐसे ही दुनियाका एक-एक कण परमेश्वरकी लीला है। मच्छर भी, मक्खी भी, मछली भी, कछुआ भी, औरत भी, मर्द भी, सोना भी, चाँदी भी—सब परमेश्वरकी महामाया है। है परमेश्वर और दीख रहा है, दूसरे-दूसरे रूपमें! आ-हा, अपने हृदयको बिलकुल कोमल रखो। इतने रूप धारणकरके तुम्हारे सामने प्रकट हुआ जो ईश्वर है, उसको तकलीफ मत पहुँचाओ!

घूँघट के पट खोल रे तोहे पीय मिलेगा।

यह जो तुम्हारी आँख पर पर्दा पड़ा है, हटा दो! यह जो तुम काला, गोरा, औरत, मर्द, दोस्त, दुश्मन, देख रहे हो, उसके भीतर परमेश्वर है। यह तुम्हारा कुछ नहीं है। तुम्हारा तो एक परमेश्वर है और यही सब है तो सब तुम्हारा है और सबके रूपमें ईश्वर प्रकट हुआ है।

जैन लोग ईश्वरको नहीं मानते। तो, कहते हैं कि किसीको दुःख मत पहुँचाओ! सब जीव-ही-जीव, छोटा भी जीव, बड़ा भी जीव—किसीको दुःख मत पहुँचाओ। यह परम धर्म है। बौद्ध कहते हैं कि संसारमें जितने दुःखी हैं, सबके ऊपर करुणा करो। भक्त कहते हैं कि सबके भीतर ईश्वर देखो और सबकी सेवा करो।

वेदान्तियोंका कहना यह है कि कभी-कभी स्वामी और सेवकमें भी झगड़ा हो जाता है। और-तो-और, अपने सुखके लिए महाराज, सब छोड़ देंगे। तिब्बतमें, रातके समय चाँदनी रातमें एकने देखा कि नदीके किनारे एक बुड्ढा आदमी आया—उसके सिर और शरीर पर भी बाल थे, नंगा था और आकर किनारे पर बैठ गया और वहाँ जो मेंढक उछल रहे थे, उनको पटापट बीन-बीन कर खाने लगा! वहाँ कुछ और खानेको था नहीं। सो मेंढक ही खाने लगा।

हमारे एक मित्र हैं। उनके कुछ चीनी दोस्त थे। तो वहाँसे उन्होंने बड़े प्रेमसे उनके लिए तोहफा भेजा। अब उन्होंने खोला तो मेंढकका अचार था। वे लोग मक्खी और चींटीकी सब्जी बनाते हैं। आप लोग जितने अण्डा, मांस खानेवाले हैं, उनके घरमें अभी मक्खीकी सब्जी नहीं बनती होगी! चींटी नहीं छौंकी जाती होंगी। अभी आप लोग क्या जानते हैं इसका स्वाद!! और, अगर इसी तरह आगे बढ़ते गये, प्रगति होती गयी तो पता नहीं महाराज कहाँ पहुँचे?

हम सीधी बात बोलते हैं। आपको नाराज होना हो, सो हो लो! ये हमारे आजकलके विद्यार्थी हैं, वे कहते हैं कि हम प्रगतिशील हैं। हम ईश्वर नहीं मानेंगे, धर्म नहीं मानेंगे, वेद-शास्त्र नहीं मानेंगे। ठीक है, पुरानी चीजोंको माननेमें पिछड़ापन तो है ही। नहीं मानते हो तो हम भी तुम्हारे साथ हैं। लेकिन एक बात तो करो कि यह बाप-दादोंका जो धन है, इसको भी मत लो! बोलेंगे कि नहीं महाराज, इसके लिए प्रगति-शील थोड़े ही हैं। ईश्वरके लिए प्रगतिशील हैं, धर्मके लिए प्रगति-शील हैं, वेद-पुराण-शास्त्रके लिए प्रगतिशील हैं। परन्तु, अपने घरका

जो धर्म है, जो संस्कार है, वह अपने घरकी मर्यादा है, उसे क्यों छोड़ना?

तो देखो, जैन कहते हैं कि किसीकी हिंसा मत करो। क्या बढ़िया धर्म है! बौद्ध कहते हैं कि दुःखी प्राणीको देखकर तुम्हारा हृदय कलेजेके भीतर नहीं रहे! तो अपने हृदयमें संसारके दुःखियोंके प्रति ऐसी करुणा आवे कि केवल जेब या तिजोरीमें-से पैसा निकाल कर नहीं देना! उसको भोजन, कपड़ा, अन्न दो! स्वयं बुद्ध हाथ उठाकर बैठा है—अपना सर्वस्व दे दिया। यह बुद्धकी करुणा है। भक्त हो तो प्रह्लाद जैसा। सबमें हमारा परमेश्वर है और जैसे कोई सेवक अपने स्वामीकी सेवा करता है, जैसे पत्नी पतिकी सेवा करती है, जैसे शिष्य गुरुकी सेवा करता है, अपने तन-मन-धनसे वैसे ही सर्वरूप जो ईश्वर है, उसकी सेवा करना—यह भक्ति-सिद्धान्त है। सर्वमें भगवद्भावके बिना भक्ति पूर्ण नहीं होती! मन्दिरमें गये और एक नया पैसा निकाला और निशाना लगाकर वह देवताकी आँख पर मारा कि पता तो लग जाय कि हमने एक नया पैसा चढ़ाया है। मूर्तिकी आँख फूट जाय तो फूट जाय!

'भक्ति' माने केवल वाह-वाही लूटना नहीं। 'भक्ति' माने सर्वरूपमें विराजमान जो परमेश्वर है, उसकी सेवा।

वेदान्तका व्यावहारिक रूप

अब वेदान्त देखो, क्या कहता है? वेदान्तका व्यावहारिक रूप यह है कि असलमें आत्महितके प्रति मनुष्यकी निष्ठा है, अपनी भलाईके प्रति मनुष्यका सहज स्वाभाविक झुकाव है—अपनी औरत, अपना घर, अपना पैसा, अपना कपड़ा, अपना शरीर-जिसको आप अपना-अपना बोलते हैं! कभी महाराज संकट आ जाता है तो दूसरेको मारकर भी अपना बचाव करना पड़ता है। उस समय अहिंसा काम नहीं देती है। और, जब अपने ऊपर संकट आता है तो दूसरेके ऊपर करुणा नहीं कर पाते हैं। शिष्य अपने स्वार्थके लिए गुरुके स्वार्थकी हानि कर सकता है। सेवक अपने

स्वार्थके लिए स्वामीकी हानि कर सकता है। पत्नी अपने स्वार्थके लिए पतिकी हानि कर सकती है। ऐसी पत्नियोंको हम जानते हैं वे अपने पतिसे पूछ लेती हैं कि तुम तो बुड्ढे हो गये हो, कोई ठिकाना नहीं और मैं जवान हूँ, सो तुम्हारे बाद हमारी क्या दशा होगी? तो मेरे लिए कुछ करके तो जाओ! हम ऐसी पत्नियोंको जानते हैं।

तो शिष्य अपने स्वार्थके लिए गुरुको हानि पहुँचा सकता है, पत्नी अपने स्वार्थके लिए पतिको हानि पहुँचा सकती है, सेवक अपने स्वार्थके लिए स्वामीको हानि पहुँचा सकता है! यहाँ हमारे और भगवान्‌के बीचमें दो-दो हाथ होगी, वहाँ क्या होगा? तो वेदान्ती लोग कहते हैं कि सबसे प्यारा अपना आत्मा होता है। हम यह सिद्धान्तकी बात आपको सुनाते हैं। आप इसको हँसी-खेलकी बात मत समझना। अपनी सत्ता पहले होगी, तब दूसरेकी सत्ता सिद्ध होगी। माने 'मैं' हूँ—यह पहले रहेगा और तब 'दूसरा है'-यह मालूम पड़ेगा। अगर मैं नहीं होगा तो दूसरा मालूम कहाँसे पड़ेगा?

ईश्वर है, यह कब मालूम पड़ेगा? अरे, ईश्वरको मालूम करनेवाला रहेगा, तब न! गुरुजी हैं, मालिकजी हैं, धनजी हैं—यह सबको जी-जी बोलनेवाला रहेगा, तब न जी-जी रहेंगे! नहीं तो जीजी-जीजा सब मर जायेंगे। 'मैं'के बिना कोई नहीं रहेगा। पहले आत्मसत्ता होगी, तब अन्य सत्ताकी सिद्धि होगी! और, पहले हम जानते होंगे, तब दूसरोंको जानेंगे। दूसरा कब जाना जायेगा? जब पहले जाननेवाला होगा। जाननेवालेके बिना जानी जानेवाली वस्तु कहाँसे आये? तो आत्मसत्ता जो है, वह पूर्वसिद्ध है और आत्मचित्ता पूर्वसिद्ध है माने आत्मचैतन्य पहलेसे सिद्ध है। इसी तरहसे आत्मप्रियता जो है, वह पूर्वसिद्ध है। सबसे पहले 'है' कौन? बोले कि 'मैं'। सबसे पहले जाननेवाला कौन? बोले कि 'मैं'। सबसे ज्यादा प्यारा कौन? बोले कि 'मैं'।

लेकिन वेदान्त केवल यह नहीं कहता है कि हाँ, सबसे प्यारा 'मैं', सबका जाननेवाला 'मैं', सबसे पहले 'मैं'। तो आओ, हृदयके एक कोनेमें

एक बिन्दु बनकर बैठ जायें—यह वेदान्त नहीं कहता। यह जो तुम अपनेको जड़ बिन्दु, शून्य बिन्दु मान चाहे नाखूनसे लेकर शिखा तक शरीरके भीतर बैठ जाते हो। तो यह गलत है। यदि तुमने ईश्वरको उठाकर केवल वैकुण्ठमें बैठा दिया तो तुम्हारी दुनिया सूखी हो गयी और तुम सूखे हो गये और यदि ईश्वरको लेकर अपने कलेजेके भीतरके बीचके माये बैठा दिया तो सारी दुनिया तुम्हारे लिए सूनी हो गयी और वैकुण्ठ भी सूना हो गया! बोले कि अच्छा महाराज, न यहाँ, न वहाँ! हम तो बिलकुल बाहर-ही-बाहर रखते हैं। तब तुम बाबू विषयी हो जाओगे!

तो असलमें यहाँ, वहाँ, यह, वह-सब जिससे भरा हुआ होता है, जिसमें कारणकी परिसमाप्ति है, इसलिए सत् है! जिसमें कारणकी परिसमाप्ति नहीं होगी, वह 'सत्' नहीं होगा। और, जिसमें आधारकी परिसमाप्ति है। जिसमें आधारकी परिसमाप्ति नहीं होगी, वह अधिष्ठान नहीं होगा। इसीसे बोलते हैं, *'सदेव सौम्य इदमग्रे आसीत्। ब्रह्म वा इदमग्रे आसीत्'।* यह श्रुति कहती है।

तो एकका कारण दूसरा, दूसरेका कारण तीसरा, तीसरेका कारण चौथा और सबका कारण कौन? सबकी मूलसत्ता जो है, वह आत्मरूप है और केवल मूलसत्ता होनेपर बीज बिन्दु हो जायेगा। इसलिए सबकी आधार सत्ता कौन? यह अधिष्ठानरूप आत्मा! अतः कारणताकी परिसमाप्ति सत् है और आधारताकी परिसमाप्ति अधिष्ठान है और वस्तुज्ञानकी जहाँ परिसमाप्ति है, वह चिन्मात्र है और प्रियताकी जहाँ परिसमाप्ति है, वह परमानन्द है। आपको यह वेदान्तकी प्रक्रिया बिना पोथीका नाम लिए मैं सुना रहा हूँ!

कारण उधर नहीं होता, इधर होता है। सृष्टिका प्रारम्भ उधर नहीं होता इधर होता है। जो अन्तःकरणका धारक है, वही समग्र सृष्टिका धारक है। जो अन्तःकरणका प्रकाशक है, वही समग्रसृष्टिका प्रकाशक है। जिसमें अन्तःकरणकी कारणता है, वही सबका कारण है। अब देखो, वेदान्तका कहना यह है कि जितना प्यारा तुम्हारा अपने 'मैं'से है, जितना

हित तुम्हारा अपने 'मैं'से है, जितना हित तुम्हारा अपने 'मैं'से है—उतना ही प्यार और उतना ही हित सबसे होना चाहिए। और यह कब होगा? बनानेसे नहीं होगा! सोचनेसे नहीं होगा। जब तुम यह जानोगे कि एक कीड़ेका 'मैं' भी वही है, एक मकौड़ेका 'मैं' भी वही है। ब्रह्मा, विष्णु, महेशका 'मैं' भी वही है। पेड़ पौधेका 'मैं' भी वही है। कण-कणका 'मैं' भी वही है। जब यह जानोगे कि बिलकुल एक 'मैं' है।

देखो, आपको एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्राप्त करनेके लिए मैं यह वेदान्तका स्वरूप आपको सुनाता हूँ। आप किसीको दुःख मत पहुँचाये। ठीक है। आप सब दुःखियों पर करुणा कीजिये, यह ठीक है। आप सबको ईश्वररूप मानकर प्रणाम कीजिये—यह ठीक है। लेकिन फलको कहींसे खींचकर कहीं मत पहुँचाइये। क्योंकि, असलमें आपका ही आत्मा सर्वका आत्मा है।

तुम सच्चिदानन्द, अद्वय ब्रह्म हो!

एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्त प्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धः द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥ 1.7

'एको द्रष्टाऽऽसि'—एकका अर्थ यही है कि भिन्न-भिन्न प्रतीयमान सत्ताओंमें अनुगत सत्ता। जैसे घड़े हजार और उनमें माटी एक। जैसे सपनेमें हजार आदमी और देखनेवाला एक! लेकिन वही सब दीखनेवालेकी आत्मा! जाग्रत्में दृष्टान्त है मिट्टी और घड़ा, सोना और जेवर, लोहा और औजार, प्लास्टिक और उसके खिलौने और सपनेमें दृष्टान्त है कि वहाँ जो जाननेवाला है, वही जाना जानेवाला भी है और सुषुप्तिमें दृष्टान्त है कि जितना भेद है, उसकी उत्पत्ति और लय दोनों आत्मामें है। सपनेमें भेद प्रतीत होता है और सब अपना आपा है। क्यों? बोले कि सुषुप्तिमें अपने आपमें वह सारा भेद लीन होता है और सुषुप्तिमें-से सारा भेद निकलता है। इसलिए, अपनेसे बाहर कुछ नहीं है।

'एको द्रष्टाऽऽसि'—अरे, तुम एक हो! ऐसे मत समझो कि हमारे समान और अनेक पुरुष हैं। अजी, हमारे अन्दर, क्या रखा है? हमारे सरीखे और कई पुरुष हैं, कई लड़कियाँ हैं। ऐसे मत समझो! तुम एक हो, एक! तुम्हारी बराबरीका तो दुनियामें कोई है ही नहीं, बड़ा तो हो ही कहाँसे सकता है? असलमें दूसरा कोई है ही नहीं! तुम्हीं हो!! एक हिजड़ेमें भी तुम्हीं हो! एक अन्धेमें भी तुम्हीं हो। ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें भी तुम्हीं हो। वह तो आकृति है। असलमें तो तुम सबकी आँखोंकी पुतली हो। सबमें जो सुन्दरता है, वह तुम्हारी सुन्दरता है। सबमें जो मधुरता है, वह तुम्हारी मधुरता है। सबमें जो ज्ञान है, वह तुम्हारा ज्ञान है। सबमें जो 'है-पना' वह तुम्हारा 'है-पना' है। सबमें जो प्रकाश है, वह तुम्हारा प्रकाश है। सबमें जो आनन्द है, वह तुम्हारा आनन्द है। असलमें सब और तुम दोनों दो नहीं है! तुम्हीं हो!!

तुम एक प्रेम हो, जिसमें प्रेमी और प्रियतमका भेद नहीं है। तुम एक ज्ञान हो, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं है। तुम वह आनन्द हो, जिसमें भोक्ता और भोग्यका भेद नहीं है। तुम वह ब्रह्म हो, जिसमें आधार और आधेयका भेद नहीं है। तुम वह परमेश्वर हो, जिसमें जीव और जगत्‌की सत्ता ही नहीं है। वेदान्त यह नहीं बताता कि तुम कौन हो? वेदान्त यह बताता है कि तुम क्या हो?

तुम्हारी नाक बहुत बढ़िया है! क्या ऊँची उठी हुई है और थोड़ी नुकीली भी है! तुम्हारी आँख क्या बढ़िया है! बड़ी-बड़ी रतनारी, खंजनकी तरह चलनेवाली क्या सुन्दर तुम्हारी आँखें हैं! अजी, सब ठीक है! लेकिन तुम आँख नहीं हो! तुम वह ज्योति हो, जो आँखके पीछेसे झाँकती है। तुम वह प्यार हो, जो आँखोंके रास्तेसे बरसते हो! तुम वह हो, जिसके होनेपर सब मालूम पड़ता है! भोजनमें जो मिठास है, वह तुम हो! सुगन्धमें जो मादकता है, वह तुम हो। सुन्दरतामें जो आकर्षण है, वह तुम हो। स्पर्शमें जो कोमलता है, वह तुम हो। स्पर्शमें जो कोमलता है, वह तुम हो। शब्दमें जो संगीतकी माधुरी है, वह तुम हो। मनमें जो प्यार है, वह

तुम हो। बुद्धिमें जो ज्ञान है, वह तुम हो। समाधिमें जो शान्ति है, वह तुम हो और द्वैतमें जो अद्वैत है, सो तुम हो। अनेकमें एक तुम हो और तुम्हारे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अब सोलहों धान बाईस पसेरी करोगे भाई, तो कैसे काम चलेगा? तुम तो तुम्हीं हो!

'एको द्रष्टाऽऽसि'—यह मत समझना कि मैं देहमें बैठकर ऐसा हूँ। 'सर्वस्य'। 'एक' माने चेतनमें अनेकता नहीं है, सत्तामें अनेकता नहीं है, आनन्दमें अनेकता नहीं है। इसलिए, गाली जब देते हो तो जिसको देते हो, उसको लगेगी कि नहीं—इसमें शंका है। पर देनेवालेके मनमें तो जरूर आयी। सो उसको तो जरूर लगी। गाली देनेवालेको पहले लग लेती है तब दूसरेकी ओर उसका धुआँ उठकर जाता है। यह जो तुम्हारी हिंसा है, वह पहले तुमको दुःख पहुँचाती है। यह तुम्हारी ठगी, तुमको पहले दुःख पहुँचाती है। वह तो सहते-सहते महाराज ऐसी आदत पड़ गयी है कि मालूम नहीं पड़ता है।

एक सज्जन थे। सोचने लगे कि यहाँ जाँय कि वहाँ जाँय? अब महात्माने सुना और बोले कि क्या बोझ ढोते हो? जहाँ जाना हो, वहाँ चले जाओ! सोचनेकी क्या जरूरत है? अरे महाराज, शायद वहाँ हमारा इष्ट न मिले? अरे मारो ऐसे इष्टको गोली, जो वहाँ न मिले। वह इष्ट ही किस कामका, जो सब जगह नहीं है! 'इष्ट' माने इच्छित-वस्तु। माने जिसको हम चाहते हैं। दिमाग पर बोझ रखना चाहते हो! बोझ ढोना तुमको पसन्द है। इधर-से-उधर संशयसे ग्रस्त हो रहे हो! विकल्पसे ग्रस्त हो रहे हो! '**एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य**'।

हम जहाँ होंगे, उसका नाम वैकुण्ठ है। हम जिस समय होते हैं, उसका नाम सत्युग है। हम जिस समयको छू देते हैं, उसका नाम सत्युग है और हम जिस स्थानको छू देते हैं, उसका नाम वैकुण्ठ है। हम जिसको देखते हैं, उसका नाम भगवान् है और हम जैसे हँसते बोलते रहते हैं, उसका नाम समाधि है और जिस चीजके साथ हम व्यवहार करते हैं, उसका नाम दिव्य है दिव्य! जिस पुस्तकको हमने हाथ लगाया, वह दिव्य

है। क्योंकि, हमारा आत्मा सचमुच सत्-चित्-आनन्द अद्वय परब्रह्म परमात्मा है! तुम दुःखी क्यों हो? तुम अज्ञानी क्यों हो? तुम मरनेवाले क्यों? इसलिए कि तुम अपनेको मरनेवाला मानते हो, तुम अपनेको अज्ञानी मानते हो, तुम अपनेको दुःखी मानते हो! यह तुम कर तो रहे हो नाटक! परन्तु यह भूल गये कि यह हमारा नाटक है। तुम हो तो अद्वय! लेकिन दोस्त और दुश्मनोंने तुम्हें फाँस लिया!

अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्। 1.7

बन्धन क्या है? अरे, यही है, यही है। 'अयमेव'में जो 'एव' है, उसका अर्थ है ही। 'अयं' माने यह और एव माने 'ही'। 'अयमेव' माने यह ही। अब इसको यह ही न बोला जायगा, 'यही' बोला जायगा। यही है बन्धन तुम्हारा! क्या? तुम क्या समझते हो कि सामनेवाला तुमको देख रहा है? अरे, तुम्हारी आँख तो तुमको देख ही नहीं रही है! अच्छा, यह आँखमें जो तिकोनापन है, जो तुम्हारी पलकें हैं, तुम्हारी बरौनियाँ हैं, तुम्हारी पुतलियाँ हैं—वे तुमको देख रही हैं, क्या? जैसे आकृतियाँ चक्षुको नहीं देख पातीं, वैसे देखनेवालेको देखी जानेवाली कोई चीज देख नहीं पाती। न तुम्हारा द्रष्टा कोई दूसरा ईश्वर ही है। द्रष्टाका द्रष्टा परमेश्वर तुम्हीं हो! अगर तुम्हारे दिलके मन्दिरमें परमेश्वर नहीं है तो बाहरके किसी मन्दिरमें परमेश्वर नहीं मिल सकता! अगर तुम्हारे दिलमें परमेश्वर है तो सब जगह मिलेगा! तब वह मन्दिरमें भी है, मस्जिदमें भी है, चर्चमें भी है। अगर तुम्हारे दिलमें नहीं है तो ढूँढते-ढूँढते मर जाओ, नहीं मिलेगा! यह तुम क्या समझते हो कि द्रष्टा कोई दूसरा है, तुमको देखनेवाला कोई दूसरा है? जगत्के द्रष्टा तुम हो, जीवके द्रष्टा तुम हो, ईश्वरके द्रष्टा तुम हो! जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और समाधिके द्रष्टा तुम हो। अन्यके द्रष्टा तुम हो। स्व, अन्यके भेदके द्रष्टा तुम हो और द्रष्टामें जो दृश्यकी अपेक्षासे द्रष्टापन है, उस द्रष्टापनके भी द्रष्टा तुम हो! ऐसे दृङ्मात्र वस्तु हो तुम!

देखो, क्या मायाकी लीला है कि जो चीज दुःख देती है, उसको भी तो हम नहीं छोड़ पाते हैं! दिन-रात दुःख भोगते हैं। देखो,

डायबटीजका रोगी जानता है कि हम शक्कर खायेंगे तो हमारा रोग बढ़ जायगा। फिर भी तो वह शक्कर खाता है। बस, यही बात है। कुल-की-कुल बात इतनी है! तो नारायण, तुम अपनी असलियतको पहचानो और निर्द्वन्द्व हो जाओ!

मिथ्याभिमानसे बचो!

अहं कर्त्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वासुखी भव॥ 1.8

'अहं कर्त्ता इति'—मैं करनेवाला हूँ। 'अहंमान महाकृष्णाहि दंशितः'।'अहं मानो' नहीं है। अहं मान ही है, महाकृष्ण अहि। यह अहं मान क्या है? कहते हैं कि काले साँपने काट दिया है।

गंगा किनारे एक विरक्त साधु रहते थे! बड़े ही ज्ञानी महापुरुष थे और एक ब्राह्मण जिज्ञासु भी वहाँ रहते थे। पर, वे कहते थे कि मैं ब्राह्मण होकर उस छोटी जातिवाले साधुके पास सत्संगके लिए जाऊँ? अपमान हो गया न उनका! उन ब्राह्मणको अपने कुलीन होनेका बड़ा अभिमान था। मनुजीने साफ लिखा है कि, 'अन्त्यादपि परम धर्मं'—कोई अन्त्यज भी हो और पूर्व जन्ममें साधन, भजन करके किसी कारण योग-भ्रष्ट हो गया हो और इस समय तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न है, तो उससे भी यदि अपनी जिज्ञासा पूरी होती हो तो उसके पास जाकर पूरी करनी चाहिए। अपनी जातिका अभिमान नहीं करना चाहिए।

एक राजासे एक बार बात हुई। मैंने पूछा कि भाई, तुम्हारे राज्यमें इतने बड़े महात्मा रहते हैं। तुमने कभी उनका सत्संग किया है क्या? बोले, 'महाराज! हम तो छत्र-चँवर लगाते हैं और सिंहासन पर बैठते हैं। हम तो केवल उसी महात्माके पास जा सकते हैं, जो सिंहासन पर बैठता हो और छत्र-चँवर लगाता हो!' हे भगवान्। हम तो कई ऐसे आचार्योंको जानते हैं, जो अपने-अपने सम्प्रदायके आचार्य हैं। परन्तु, हमारे आदि आचार्यने कितने ग्रन्थ लिखे हैं, यह उनको मालूम नहीं है। उनके सिद्धान्तको नहीं

जानते हैं, उनकी प्रक्रियाको नहीं जानते हैं! अब छत्र-चँवरमें-से ज्ञान थोड़े ही निकलेगा! वह राजापनेका अभिमान खा गया उस राजाको भला! बोले कि हम इतने बड़े सेठ महाराज, हम सत्संग करने जायेंगे? अरे, पकड़ लाओ महात्माको! बैठाओ हमारे सामने! इसीको बोलते हैं— 'ऐश्वर्यका मद'!

एक बार क्या हुआ कि महात्माजीसे कहा गया कि महाराज आपका सत्संग करना चाहते हैं। तो महात्मा तो बड़े भोले-भाले थे। बोले कि अच्छा चलो, चलते हैं। अब वे पहुँच गये। अब प्रश्न आया कि महात्माजीको नीचे बैठाकर सत्संग किया जायेगा कि ऊपर बैठाकर? तो राजाने कहा कि नहीं, कोई बात नहीं। हमारे बराबर सिंहासन लगवा दिया जाय। बैठ गये! अब यह हुआ कि प्रश्न कौन करेगा? महात्माजी राजासे प्रश्न करेंगे कि राजा, महात्मासे प्रश्न करेगा? ये बेवकूफ महाराज! तो यह हुआ कि प्रश्न तो राजा साहबको करना चाहिए। तो उन्होंने कहा कि अगर मैंने कोई प्रश्न किया और उन्होंने मेरे प्रश्नको काट दिया, उसमें कोई गलती बता दी या वाद-विवादमें मैं उनसे हार गया तो बड़ी भारी बेइज्जती होगी! तब यह निश्चय हुआ कि अच्छा, राजा साहबको जो-जो बात पूछनी हो, वह सब दीवानको लिखवा दी जाय और दीवान साहब, महाराजके प्रश्न करेंगे!

हे नारायण! यह राजापनेका अभिमान है।

काशीमें कितने ऐसे पण्डित हैं जो महात्माओंके पास सत्संगके लिए नहीं जाते हैं। बोले कि हम जितने विद्वान् हैं, उतना यह मूर्ख क्या जानें? अब वह मूर्ख तो है, लेकिन दुःख मिटानेवाली विद्या तो तुम्हारे पास नहीं है। एक पण्डितजी हमारे बहुत बड़े मित्र हैं। काशीके एक नम्बरके विद्वान् हैं। उनका जामाता मर गया था। हमारे पास आकर बोले कि स्वामीजी, वेदान्तकी ऐसी कोई पंक्ति नहीं है, जिसको मैं लगा नहीं सकता और ऐसी कोई शंका नहीं है, जिसका मैं समाधान नहीं कर सकता। लेकिन आज हमारा हृदय शोकसे ग्रस्त है। *'तं मा*

भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु।' (छांदोग्य. 7.1.3) आप हमको शोकके परले पार पहुँचा दीजिये!

तो भाई, सेठके पास दुःखसे बचनेकी विद्या है कि नहीं? राजाके पास दुःखसे बचनेकी विद्या है कि नहीं? जब शराब ही पीकर गम गलत करना है बाबू और बादमें फिर रोना है कि हाय-हाय, ज्यादा पी गयी, बुरा किया। बेहोश हो गया, यह काम बिगड़ गया। तो बादमें रोना ही है तो दुःख मिटानेकी विद्या तुम्हारे पास कहाँ है? राजाके पास दुःख मिटानेकी विद्या नहीं है। सेठके पास दुःख मिटानेकी विद्या नहीं, पण्डितके पास दुःख मिटानेकी विद्या नहीं, कुलीनके पास दुःख मिटानेकी विद्या नहीं। यह दुःख मिटानेकी विद्या तो महाराज यह उपनिषद्विद्या, ब्रह्मविद्या है और यह संतोंकी विद्या है। इसके बिना कैसे काम चलेगा? चाहे कोई राज्य हो। हम लोग डरते थोड़े ही हैं। मान लो कम्युनिजम हो जाये तो उसमें दुःखी लोग रहेंगे कि नहीं? जो दुःखी होगा और वह अपना दुःख मिटाना चाहेगा तो उसको हमारे पास आना पड़ेगा। हमको क्या डर है कम्युनिजमका? हमारे पास नहीं तो हमारे भाईके पास आना पड़ेगा? अरे, कम्युनिजमसे डरें पैसेवाले। हम दुःख मिटानेकी विद्यावाले लोग कैसे डरेंगे? और, यदि मार-मारकर कहेंगे कि विद्याका प्रयोग करो तो बिलकुल ऐसी उलटी विद्या फूँकेंगे कि और दुःखी हो जायेंगे।

तो यह सारा-का-सारा जो दुःख है, यह अहंभाव रूप 'मैं' पाप-पुण्यका कर्त्ता हूँ—यह कर्त्तृत्वाभिमानरूप महाकाले साँपके डँसनेसे है और विषको उतारनेका एक मन्त्र है, एक यन्त्र है। *'मेरी भक्ति गुरुकी शक्ति। फुरो मंत्र ईश्वरो वाचा।'* एक क्षणमें दुःखको मिटा देनेवाली जो विद्या है, वह वेदान्त-विद्या है।

●

प्रवचन : 10

अहंभाव

अहं कर्त्तेत्यहं मान महाकृष्णाहि दंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥ 1.8

ईश्वरकृपासे आओ, अहंभावपर विचार करें।

सचमुच मनुष्यके मनमें देहमें 'मैं'-पना इतना ज्यादा आ गया है कि वह चाहे अपनेको द्रष्टा सुने, साक्षी सुने, ईश्वर सुने, चाहे ब्रह्म सुने—घूम-फिरकर वह देह पर ही गिरता है! देखो, एक प्रश्नोत्तर सुनाता हूँ!

यह प्रश्न हुआ कि जैसे इस शरीरमें अहंभाव होता है, वैसे सामनेवाले शरीरमें अहंभाव क्यों नहीं होता? तो सुनकर आदमी घबरा जाय कि हे राम, कैसा द्रष्टा जो एक शरीरमें तो अहंभाव करता है और दूसरे शरीरमें अहंभाव नहीं करता। देखो असलमें यह चामकी पुड़ियामें बँधा हुआ जो देह है, उसको मान लिया 'मैं' और फिर सोचते हैं कि मैंने द्रष्टाको जान लिया, मैंने ब्रह्मको जान लिया। तो, नारायण! यह जो आरण्यकविद्या है, वह तो हम जंगली-पहाड़ी लोगोंकी विद्या है। यह तो ललचाई नजरसे लोग देखते हैं तो पैसेके मालिक भी हम और ब्रह्मज्ञानके मालिक भी हम!

आप यह विचार कर देखो कि आपका जो अहंभाव है, वह किसी वजहसे है कि बिना किसी वजहसे है? एक आदमीके पास लाख रुपया था तो वह अपनेको लखपति मानता था और लाख रुपया नहीं रहा तो लखपतिका अभिमान उसका छूट गया। तो लखपतिपना बाहरसे आयी हुई एक चीजने पैदा किया था तुम्हारे हृदयमें और बाहरकी आयी हुई चीज जब चली गयी तो वह अभिमान छूट गया। तो यह सनिमित्तक था।

'निमित्तापाये नैमित्तिकस्यास्यापाया'। जब निमित्त गया तो निमित्तसे आनेवाला अभिमान भी चला गया। एक आदमीको अभिमान था कि हमारे दाँत बड़े सुन्दर हैं। मैं सुन्दर दाँतों वाला हूँ। टूट गये महाराज! अब केवल लोगोंको बता सकते हैं। जैसे वृद्धस्त्रियाँ बताती हैं न कि एक जमाना हमारा भी था। तो वही तो बात हुई न! अपने गोरेपनेका अभिमान, अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंका अभिमान!

एक दिन चार जने बैठे थे तो कोई स्त्री जातिकी निन्दाका प्रसंग आगया! अब स्त्रीको बड़ा भारी अभिमान था कि मैं स्त्री हूँ। वह तो बिलकुल आग बबूला हो गयी कि नारी जातिका अपमान करते हैं। इसको 'लिंगाभिमान' बोलते हैं। माने एक तरहकी शकल-सूरत बनी हुई है, आकृति बनी हुई है—एक स्त्रीकी आकृति और एक पुरुषकी आकृति! अब मान लो कि यदि पुरुष, स्त्री हो जाय और स्त्री, पुरुष हो जाय तो फिर पुरुषको पुरुषपनेका और स्त्रीको स्त्रीपनेका अभिमान नहीं रहेगा! विलायतमें तो 7 प्रतिशत ऐसा होने लगा है। सौ-में सात आदमी स्त्रीसे पुरुष और पुरुषसे स्त्री होने लगे हैं! लो, अब इसका अभिमान क्या करेगा? बिलकुल झूठा हो गया न!

अच्छा, मैं ब्राह्मण हूँ! मैं संन्यासी हूँ। तो; जो अभिमान किसी कारणसे आता है—हमारे सरीखे बाल किसके हैं? हमारे सरीखा रंग किसका है? यह बाहरी अभिमान है। इसी तरहसे यह जो अहंभाव हमारे शरीरके भीतर है, यह देहाकार परिणत जो पंचभूत हैं माने मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश—माता-पिताके रज, वीर्यके संयोगसे देहाकार परिणामको प्राप्त हो गये हैं। माने देहरूप हो गये हैं। तो संघातजन्य कई चीजोंके मिलनेसे जो अभिमान है, वह देहाकार परिणत पंचभूतमें देहमें 'मैं' है—ऐसा अभिमान है। तो जो एक देहमें होगा, वह दूसरेमें जायगा कैसे? आँख बन्द करके सोचो कि मैं यह नहीं हूँ, मैं यह है! यह तुम्हारी कल्पना कोई काम नहीं देगी। लाल साड़ीका अभिमान जो लाल साड़ी पहने होगा, उसीको होगा। जो काली साड़ी पहने हुए होगा, उसीको

काली साड़ीका अभिमान होगा! अब पहने हो काली साड़ी और अभिमान करे लाल साड़ीका, तो होगा कैसे? वह तो झूठा हो गया न! इसलिए, बैठे तो हैं एक देहमें और अभिमान करेंगे दूसरे देहका, तो वह नहीं बन सकता है! वह तो झूठी कल्पना है।

अब इसमें देखो—जैसे देहाकार परिणत पंचभूतका अभिमान हैं, उसीमें मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं मनुष्य हूँ—ऐसा अभिमान होता है। मनुष्यत्व-साम्यसे जातिका अभिमान होता है। संस्कार-साम्यसे द्विजत्वका अभिमान होता है। लिंग-साम्यसे पुरुषत्वका अभिमान होता है, स्त्रीत्वका अभिमान होता है। आचार्य-साम्यसे सम्प्रदायका अभिमान होता है। भूगोलके साम्यसे राष्ट्रीयताका अभिमान होता है। इतिहास साम्यसे संस्कृतिका अभिमान होता है। ये सारे-के-सारे अभिमान अपने ऊपर जोड़े जाते हैं माने जोड़े हुए अभिमान हैं। औरतका अभिमान, मर्दका अभिमान, ब्राह्मणका अभिमान, संन्यासीका अभिमान, उदासी-संन्यासीका अभिमान, वैष्णव-शैवका अभिमान, धनी-गरीबका अभिमान—ये सब ऊपरसे आकर जोड़े हुए हैं। इनका तो अपने आत्माके साथ कहीं कोई सम्बन्ध है ही नहीं। अब वह ज्यादा दिनका होनेसे, बचपनसे आया है, इसलिए यह मालूम पड़ता है सच्चा! और, हम जो बताते हैं, वह मालूम पड़ता है झूठा।

अब देखो, आपके मनमें यह अभिमान है कि नहीं, मैं जीव हूँ! आपने साइन्सके द्वारा पहले किसी लेबोरेटरीमें जाँचकी होगी कि मैं जीव हूँ और उसके बाद माना होगा? जिसने लेबोरेटरीमें जाँच करके अपनेको जीव माना हो, वह हाथ उठा दे! अरे बाबा, आपने कहीं सुना, किसीसे सुना, बड़े-बुजुर्गोंसे सुना, शास्त्रसे सुना और सुनकर यह विश्वासकर लिया कि मैं जीव हूँ! भई, मैं जिन्दा हूँ, मैं जागता हूँ सो मैं जीव हूँ—इसमें विश्वास करनेमें क्या हानि है? नहीं-नहीं, हम तो उस विश्वासको बोलते हैं कि आप स्वर्गमें-से सीधे यहाँ आये हैं और शरीर छूटनेके बाद सीधे ब्रह्मलोकमें जायेंगे। यह विश्वास है कि नहीं है?

तो देहाकार परिणत पंचभूतमें जो संघातजन्य चेतनामें अहंभाव है, वह झूठा है और ब्राह्मणत्व, मनुष्यत्व, शैवत्व, वैष्णवत्व, स्त्रीत्व, पुंसत्व, धनीत्व, दरिद्रत्व—यह सब-का-सब बाहरसे आरोपित है। और, अन्तःकरणाकार परिणत भूत सूक्ष्ममें माने भूत-सूक्ष्मका जो भास हमारे अन्तःकरणके बीचमें परिणामको प्राप्त हुआ है, उसमें जो अहंभाव है, उससे क्या है? उससे मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ—ये कर्ममूलक अहंभाव और मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—ये फलमूलक हैं। विश्वासमूलक अहंभावमें मैं पिछले जन्मवाला और अगले जन्मवाला हूँ और मैं मर्त्यलोकमें हूँ, मैं स्वर्गमें जाऊँगा। यह भी संस्कृति है। जैसा संस्कार डाल दिया।

तो नारायण, आपका अहंभाव कहाँ है? नैमित्तिक है कि निर्निमित्त है? ऊपरसे आया हुआ ऊपर-ऊपर ही रहता है। असलमें 'मैं' यह देह हूँ—इसमें बैठकर जब आप अपने आपको द्रष्टा जानते हैं, तब भावनामात्र हो जाता है। बैठे तो हैं देहमें और मानते हैं अपनेको द्रष्टा। बैठते हैं देहमें और मानते हैं अपनेको ब्रह्म!! पहनते हैं लाल कपड़ा और मानते हैं कि मैं नंगा हूँ। पहनते हैं काला कपड़ा और मानते हैं कि मैं नंगा हूँ। तो नंगापन कहाँसे आवेगा? अनुभव ही नहीं होगा!

देहभाव स्थायी है और ब्रह्मभाव आगन्तुक है। देहाभिमान स्थायी है और द्रष्टापना आगन्तुक है। मेहमानकी तरह आया और चला गया। ब्रह्मपना आया और चला गया। कहाँसे टिकेगा? तो नारायण, एक आदमीने एक दिन कह दिया कि ये रसोइया लोग आजकल बहुत बुरे होते हैं! अब रसोइया महाराज लेकर डंडा अपने मालिकके ही सामने खड़ा हो गया। वे बोले कि अरे भाई, मैंने सब रसोइयोंके लिए कहा है। पर, तुम्हारे लिए थोड़े ही कहा है। वह बोला कि नहीं-नहीं, मैं क्या रसोइया नहीं हूँ? हमारे वर्ग पर आक्षेप किया है!

एक दिन किसीने कहा कि ड्राइवर लोग अच्छे नहीं होते हैं। अब ड्राइवर महाराज झगड़ा करनेको उतारूँ। तो यह क्या हुआ? यह जो

नैमित्तिक अहंभाव पैदा हुआ है, उसमें कुछ तो बाह्य-निमित्तसे पैदा हुआ है और इस बाह्य-निमित्तके साथ आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। और, कुछ विश्वाससे पैदा हुआ है और विश्वासवाले भी कम नहीं हैं। एक दिन फिलासफीसे एम. ए. करके एक सज्जन आये। बोले कि स्वामीजी, यह जो राम-कृष्णकी जो कथा है—यह इतिहास है कि कोई नॉवेल है? तो मैंने कहा कि देखोजी, हमारे पास ऐसी कोई मशीन तो नहीं है कि जिससे हम तुमको भूतका साक्षात्कार करा दें। कितने हजार वर्ष पहले कृष्ण और राम हुए—इसको देखनेका कोई साधन नहीं है। क्या बहस करें तुम्हारे साथ? लेकिन तुमको मालूम है कि तुम्हारे बाप कौन हैं? अच्छा, तुम बापकी तो बात जाने दो! तुम्हारी माँ कौन है, इसका भी प्रत्यक्ष नहीं कराया जा सकता। बोले कि नहीं, नर्सने माँके पेटसे पैदा होते देखा है। नहीं भाई, खास तुम्हारे ही बारेमें तुम्हें गवाही चाहिए? गवाहीको तुमने माना! बोले कि नहीं, हॉस्पिटलके रजिस्टरमें लिखा हुआ है। हे भगवान्! अब कोई हॉस्पिटलका रजिस्टर प्रमाण है और वह नर्सकी गवाही प्रमाण है? और, हमारे वेद-शास्त्रमें जो लिखा है, वह हॉस्पिटलके रजिस्टरसे भी गया बीता है क्या? हम लोगोंकी जो गवाही है, वह नर्सकी गवाहीसे भी गयी बीती है?

तो, अपनी-अपनी रुचि होती है। जो जिस स्तरका आदमी होता है, वह तो लोकैलिटीका असर पड़ता है कि नहीं पड़ता है? लोग मकान लेते हैं तो देख लेते हैं कि लोकैलिटी कैसी है? चौराहे पर बैठकर गप्प हाँकनेवाले दूसरे होते हैं और पार्कमें बैठकर गप्प हाँकनेवाले दूसरे होते हैं और क्लबमें बैठकर गप्प हाँकनेवाले दूसरे होते हैं। उनकी प्रकृति अलग-अलग होती है।

तो, चाहे जो खाएँ, चाहे जो पीएँ, चाहे जैसे रहें—उनकी लोकैलिटी दूसरी है। हमारे यह साधन-भजनकी लोकैलिटी नहीं है। अब जिसकी जहाँ रुचि होगी। अब एक छोकरा अपने बापके पास बैठना पसन्द करेगा कि अपनी चहेतीके पास बैठना पसन्द करेगा? तो हम कहाँ

बैठते हैं? '*या दृशां सन्निविशते*'! हम क्या सुनते हैं? कहाँ बैठते हैं? यह अहंभाव वैसा-वैसा ही हो जाता है।

ड्राइवर होनेका भी अहंभाव होता है। रसोइया होनेका भी अहंभाव होता है। क्लर्क होनेका भी अहंभाव होता है। मोटर मालिक होनेका भी अहंभाव होता है। मकान-मालिक होनेका भी अहंभाव होता है। यह काला- गोरा शरीर होनेका अहंभाव होता है। हमारी मेमसाहब दुनियामें एक है—इसका भी अहंभाव होता है। उत्तमांगनापरिश्वंगजन्याभिमान! और, ये सब हैं काले साँप! इन्होंने ऐसा काटा कि बेहोश हो गये, बेहोश हो गये। बेहोश हो गये माने अपने असली स्वरूपको भूल गये।

तो, बिना किसी वजहके अपनेमें जो 'मैं-पना' है, उसका स्वरूप क्या है? यदि तुम विश्वास करके, किसी वजहसे अपने आपको सुखी मानते हो, तब तो उसको दुनियादारीमें विचार करके छोड़ दो। यह पैसा तुम्हारे साथ जानेवाला नहीं है। शकल-सूरत साथ जानेवाली नहीं है। यह औरत, मर्द तुम्हारे साथ जानेवाला नहीं है। यह विद्या, यह तपस्या तुम्हारे साथ लगी हुई नहीं है। काहेका अभिमान है? विद्वान् होनेका? काहेका अभिमान है? तपस्वी होनेका? काहेका अभिमान है? यह जो शास्त्रमें आता है न कि बड़े-बड़े तपस्वी, ऋषि अन्तमें च्युत हो गये—वह यही है कि आप कहीं तपस्याके अभिमानमें अपनेको न डाल दें!

अच्छा तो, यदि आपके जीवनमें विश्वास काम कर रहा है तो आओ, विश्वास लो! 'महाकृष्णाहि दंशितः।' एक बड़े काले-कलूटे नागने आपको डँस लिया है। नाग क्या है? अहंभावका नाग है। असलमें आपका अहंभाव स्वप्न-पुरुषमें है, स्वप्न-द्रष्टामें नहीं है। इसको आप ऐसे समझो कि आप पलंग पर सो रहे, आँख बन्द हो गयी और आपका मनोराज्य हुआ या सपना हुआ कि हम सड़क पर चल रहे हैं। तो जो सपना देख रहा है, वह आप हैं कि जो सड़क पर चल रहा है—सो आप हैं! जो सपना देख रहा है, सो आप हैं! जो सड़क पर चल रहा है, सो तो आप है-ही नहीं। लेकिन सपनेमें यह ही तो मालूम पड़ता है

कि मैं सड़क पर चल रहा हूँ। तो मैं सड़क पर चल रहा हूँ—यह अभिमान है और जो सड़कको भी देख रहा है और दस बजे दिनको भी देख रहा है और पोशाक सहित आपको भी देख रहा है और सड़क पर जो हजारों आदमी चल रहे हैं, उनको भी देख रहा है—वह है सपनेको देखनेवाला!

तो यह जो देह है, यह क्या है? यह सपना देखनेवाला है कि सड़कपर चलनेवाला है? यह देह, सड़क पर चलनेवाला है। यह सपना देखनेवाला नहीं है। इस देहमें-से आपको अहंभाव निकालना है। विवेक करके निकालो, तो मालूम पड़े!

पहली बात तो यह है कि स्वप्न-पुरुषमें-से अहंभाव निकालो। कहो कि हम नहीं निकालते! तो मत निकालो। नहीं निकालोगे, तब भी हम तुमको हिन्दू ही मानेंगे। माने अच्छा ही तो मानेंगे न! नहीं निकालोगे तो क्या हर्ज है? जैसे हम चाण्डालको भी हिन्दू मानते हैं, ब्राह्मणको भी हिन्दू मानते हैं और संन्यासी महात्माको भी हिन्दू मानते हैं और व्यभिचारीको भी हिन्दू मानते हैं। गरीब और धनी दोनोंको हिन्दू मानते हैं। एक हिन्दू मान लो कम्युनिस्ट हो जाये तो वह हिन्दू रहेगा कि नहीं रहेगा? कम्युनिस्ट होनेपर भी ईश्वरको न मानने पर भी, धर्मको न मानने पर भी वेदको न मानने पर भी उसकी संज्ञा तो हिन्दू ही रहेगी न! हे भगवान्! जाओ, आप क्या अपनेको मानते हो, अगर विवेक पूर्वक आप अपनेको, अपनी मान्यतासे ऊपर उठानेके लिए तैयार नहीं हो!!

अच्छा, आपने कहाँ लेबोरेटरीमें अपने आपको मशीन पर चढ़ाकर अपनेको जीव निश्चय किया है? यह कर्त्तापन आपको बड़ा भारी दुःख दे रहा है। माँको भी यह पता नहीं होता है कि यह हमारा बेटा है। देखो, यह मान्यताकी दुनिया है। कब लगा कि नर्सने बदल दिया कि कब लोगोंने धोखा दे दिया? तो क्या मालूम पड़े? तो यह मान्यताकी दुनियामें जो आप फँसे हुए हो, या तो एक अच्छी मान्यता हम आपको बताते हैं—उसे स्वीकार करो और या तो जाँचकरके, विवेक करके देख लो कि जो

मान्यता तुमने अबतक स्वीकार कर रखी है, वह गलत है। मानो या जानो! तो जहाँ तक तुम्हारी मानी हुई बातें हैं, वह तो हमारी बतायी हुई मान्यतासे निवृत्त हो जायेंगी। लेकिन, जहाँ अज्ञानके कारण जो चीज है, वह तो बिना अज्ञान-निवृत्त हुए निवृत्त नहीं होगी।

संसारका हेतु : विभिन्नमत

योगी लोगोंका कहना है कि चित्तका चांचल्य ही संसारका हेतु है। क्योंकि, चांचल्यमें वृत्तिका सारूप्य हो जाता है। हम वृत्तिके साथ मिल जाते हैं। तो अविवेकका प्राधान्य होता ही उस समय है। जब वृत्ति चंचल होती है। और, जब वृत्तिशान्त हुई, समाहित हुई तो उस शान्तवृत्तिका द्रष्टा मैं शान्तवृत्तिसे अलग हूँ, विविक्त हूँ। तो चांचल्य वृत्ति-सारूप्यमें अविविक्त हूँ और शान्तवृत्तिमें विविक्त हूँ, द्रष्टा हूँ।

भक्तलोग कहते हैं कि मैं नहीं। केवल चित्तकी चंचलता ही संसारका हेतु नहीं है। ईश्वरकी अभक्ति, संसारका हेतु है। यह जो परिपूर्णतम तत्त्व है, इससे विमुख होकर, अन्तर्यामीसे विमुख होकर, परमेश्वरसे विमुख होकर संसारकी छोटी-छोटी चीजोंमें लग रहे हो! विलायतसे क्या परमार्थ आता है पार्सल होकर? हमारे भारतीय ऋषियोंने जो परमार्थका साक्षात्कार किया है, वह अद्भुत है। द्रष्टा विभु होता है— यह योगीका मत है। जब विभु हो जायगा, तब देहमें जो अहंभाव है-वह अपने आप ही छूट जायगा और अन्तर्यामी परमेश्वरका चिन्तन करते-करते प्रेमसे, भक्तिसे बुद्धि जब परमेश्वरमें लीन हो जायगी तो देहमें जो अहंभाव है, वह बिलकुल छूट जायगा। वेदान्तियोंका कहना है कि न तो संकल्पात् और न तो अभक्तिसे संसार है। असलमें तुम स्वयंमें ब्रह्म हो। न जाननेके कारण तुम अहंभावमें फँस गये हो। अतः अज्ञान ही हेतु है। तो नारायण, ईश्वरकी अभक्ति है—यह भक्तोंका कहना है। चित्तकी चंचलता ही हेतु है—यह योगियोंका कहना है और विपरीत कर्म कर-करके तुम फँस गये हो—यह धर्मात्माओंका कहना है। असलमें कुछ तो कहते हैं कि अबतक

तुम हमारे मजहबमें भर्ती नहीं हुए बस यही तुम्हारे संसारका कारण है। आओ हमारे मजहबमें। तो यह सब बात फालतू है।

आओ, कहाँ तक आपने विश्वास किया है? आप संसारके भक्त हो कि भगवान्‌के भक्त हो? यह जीव जो है—यह संसारका अंश है कि भगवान्‌का अंश है? तो यदि देहाभिमान तुमने देहमें-से लेकर अहंभाव किया है तो तुम संसारके अंश हो। यह संघातजन्य जो अहंभाव है, अगर वही तुम्हारा स्वरूप है तो तुम संसारके हिस्से हो! जाओ, विषयभोगमें लगो! बोले कि बाबाजी, आप ऐसे क्यों शाप देते हैं? शाप नहीं देते हैं, तुम्हारे भाग्यकी सूचना देते हैं। जब इस देहमें तुम्हारा अहंभाव होगा तो तुमको भोग चाहियेगा, कर्म चाहियेगा, तुमको भोग और कर्मके लिए उपयोगी साधन चाहियेगा। तो जाओ, संसारके साथ जाकर मिलो। संसारमें हजारों लोग लगे हुए हैं। एक तुम भी लग जाओगे! आजतक हमने मच्छरोंको कभी उपदेश नहीं किया कि तुम काटना छोड़ो, बिच्छुओंको कभी उपदेश नहीं किया कि तुम डंक मारना छोड़ो। जैसे मच्छर हैं, बिच्छू हैं—ऐसे देहमें अहंभाव करके तुम संसारमें लगे हुए हो और भोग-रागमें लगे हुए हो। सो हम कहाँ तुमको छुड़ाने जाते हैं? बोले कि नहीं-नहीं, महाराज! हम तो ईश्वरके अंश हैं। बहुत बढ़िया!!

जिस सर का है यह बाल, उसी सर पे जोड़ दे।

आओ, अपनेको परमेश्वरके साथ जोड़ दो। परमेश्वरके साथ जुड़ते ही देहमें तुम्हारा जो अहंभाव है, वह चेतनोन्मुख हो जायेगा। तब? परमेश्वरमें लीन होनेसे तुमको सायुज्यकी प्राप्ति हो जायगी। अन्तःकरणाकार परिणत जो तुम्हारा भूत सूक्ष्म है, वह भगवदाकार परिणामको प्राप्त हो जायगा। तो इसमें जो भगवदांश है, वह स्वयंप्रकाश है और जो उसमें जड़ता है, वह प्रकाश्य है, दृश्य है, नियम्य है। लेकिन आपको मालूम नहीं है कि आपने अपनेको इस परिच्छिन्न शरीरके साथ मिलाकर क्या अपराध किया है। यही नहीं मालूम है भला! आपका परमप्रियतम, परम आत्मा परमेश्वर, आपका परमस्वरूप, आपका स्वयं

प्रकाश, परम प्रकाश, परमज्ञान, आपका परमानन्द—जिसको आपने दूर फेंक दिया है, वह आपके बिना बेहोश पड़ा हुआ है। कोई काम नहीं करता है! बिलकुल क्रियाशील नहीं है और आप उससे अलग होकर कटे-कटे छटपटा रहे हैं।

हमने देखा है, गाँवमें ग्राम देवताकी पूजा होती थी। तो गाँवका चमार सूअरका बच्चा लेकर आता था और वहाँ वह सूअरका बच्चा काटा जाता। हमने देखा कि कटनेके बाद भी उसके दोनों टुकड़े अलग-अलग थोड़ी देर तक छटपटाते रहते। तो नारायण, ईश्वरसे अपने आपको जो आपने अलग कर लिया है, सूअरके बच्चेकी तरह यह छटपटा रहा है। बिना ईश्वरसे मिले, जुड़े—

बिनु देखे रघुबीर पद, जियकी जरनि न जाय।

बिना परमात्मासे मिले, तुम्हारे दुःखकी निवृत्ति नहीं हो सकती। परमेश्वरसे अलग रहकर तुम सुखी नहीं हो सकते। वह तुम्हारा परमानन्द है। वह तुम्हारा परम प्रियतम है। वही तुम्हारी आँख है। वही तुम्हारा हृदय है। वही तुम्हारा मस्तिष्क है। उसके बिना तुम सुखी नहीं रह सकते। बिना जाँच-बूझके तुमने अपनेको चेतनका एक अलग टुकड़ा मान लिया। हे भगवान्! चेतनका कहीं टुकड़ा होता है? चेतनका टुकड़ा ही नहीं होता है। क्योंकि, चेतन टुकड़ेका साक्षी होता है।

पूर्णताका स्वरूप :

देखो, एक बड़ा बल्ब यहाँ जलाया तो उसकी रोशनी सारे हॉलमें व्याप्त हो गयी। तो हॉल भरमें फैल जाना। एक रोशनी-शीशेके भीतर रखी थी, ज्यादा नहीं चमकती थी, शीशा हटा दिया तो सारे घरमें फैल गयी। ऐसे कोई चेतना ऐसी है, जो देहमें रखी हुई है और देहभावको जरा फाड़ दिया तो सारी दुनियामें फैल गयी। तो देशमें व्याप्तका नाम परिपूर्ण नहीं है। बाधित देशका जो अधिष्ठान है, जो न देशावच्छिन्न है और न देशाभावावच्छिन्न है। अवच्छिन्न और अनवच्छिन्नमें अभेद है। यह ब्रह्मकी पूर्णता है।

अच्छा, बोले कि हम रातको भी थे, अब दिनमें भी हैं और फिर रातको भी रहेंगे। सो हम नित्य हैं। इसका नाम 'नित्यता' नहीं है। कल थी, आज है, आगे रहेगी—इसका नाम 'नित्यता' नहीं है। यह जो काल है, जिसमें पहले-पीछे होता है, इसमें यह कालमें व्यापकता है, परिपूर्णता नहीं। अच्छा, बोले कि कालाभावमें भी विद्यमान। तों वह भी नहीं। कालकी बाधित-दशा और कालकी अबाधित दशा दोनोंका अधिष्ठान जो प्रकाशक है, वह अविनाशी होता है। यह नहीं कि कालमें परिपूर्णका नाम अविनाशी होता है। देशमें परिपूर्णका नाम अद्वय नहीं है। दृश्यको देखनेवालेका नाम द्रष्टा नहीं है। जो दृश्य और दृश्यके अत्यन्ताभाव दोनोंका द्रष्टा है और चूँकि दृश्य और दृश्याभाव, दोनों एक ही अधिष्ठानमें हैं—इसलिए, दृश्य मिथ्या है। जो बाधित दृश्यका द्रष्टा है, वही वास्तवमें ब्रह्म है, वही द्रष्टा है। क्या पूर्णता, पूर्णता, पूर्णता बोलते हैं। वैष्णवोंकी पूर्णता दूसरे ढंगकी होती है, शैवोंकी पूर्णता दूसरे ढंगकी होती है। यह मुसलमानों, ईसाइयोंका जो निराकार ईश्वर है, उसकी पूर्णता दूसरी है और, वेदान्तियोंके ब्रह्मकी पूर्णता दूसरी है। आप विवेक करके देख लो! आपकी कल्पनामें जो पूर्णता है, वह दूसरी है और कल्पनाके अभावमें जो पूर्णता है, वह दूसरी है और भावाभाव दोनोंमें जो एक पूर्णता है, वह दूसरी है और बाधित भावाभावकी जो पूर्णता है, वह दूसरी है। अद्भुत यह लीला है!

परिच्छिन्न अहंसे छूटनेकी प्रक्रिया

तो आप क्या मानकर अपनेको बैठे हो? बोले कि हम देहमें जीवन्मुक्त ज्ञानी बनकर बैठेंगे और जगत्‌को स्वप्नवत् देखेंगे! यह ज्ञानी हो गया कि बेवकूफ हो गया! यह ज्ञानी नहीं हुआ, अज्ञानी हो गया। खुद तो रहेंगे साढ़े तीन हाथके और जगत्‌को देखेंगे स्वप्नवत्। अरे, पहले अपने इस देहको तो स्वप्नवत् देख लो! तब जगत्‌को स्वप्नवत् देखना। माने सत्-सम्प्रदाय, सत्-शास्त्रसे रहित वेदान्त यही है! तो नारायण, पहले

देहमें-से अहंभावको उठाओ-स्थूल, सूक्ष्म देहमें-से अहंभावको पहले निकाल लो। तब अहंमें-से भाव निकल जायेगा। स्थूल व्यष्टिमें अहंभाव रहना या स्थूल-समष्टिमें—वह तो विश्व विराट् है और सूक्ष्म व्यष्टि या सूक्ष्म समष्टिमें अहंभाव—यह तैजस, हिरण्यगर्भ है और व्यष्टिशान्ति अथवा समष्टि शान्तिमें अहंभावका रहना-प्राज्ञ, ईश्वर है। यहाँसे अपने अहंभावको उठाना पड़ता है। तब भाव नहीं रहता, अहं रह जाता है। और, जब भावरहित 'अहं' रहता है, काररहित जो अहं है, कृति-रहित जो अहं है, क्रियारहित जो अहं है, स्थिति रहित जो अहं है, उस अहंको कहते हैं कि क्योंजी, तुम जिस वस्तुमें जोड़कर अपनेको छोटा समझते थे—उस वस्तुसे तो तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है! जिस देशमें स्थापित करके तुम अपनेको लम्बा-चौड़ा समझते थे, उससे तो तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है। तो जिस कालसे सम्बन्ध रखकर तुम अपनेको उम्रवाला समझते थे, उससे तो तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है।

तो नारायण, ब्रह्मदृष्टिसे जगत् स्वप्नवत् है। देहमें बैठे हुए आत्माकी दृष्टिसे, परिच्छिन्नकी दृष्टिसे यह जगत् स्वप्नवत् नहीं है। यह तो जो देहमें अहंभाव है, वही स्वप्नका अहंभाव है। यह स्वप्नसे आया हुआ है। सीताराम! वेदान्तीजी, ब्रह्मको देहका आभूषण बनाना चाहते हो? ब्रह्मको व्यक्तित्वका आभूषण बनाना चाहते हो? हम जानते हैं कि दुनियामें ज्यादा लोग व्यक्तिको सजानेवाले हैं। कपड़ेसे सजाते हैं, तेल-फुलेलसे सजाते हैं, स्नो-पावडरसे सजाते हैं, दवा-दारूसे सजाते हैं। अधिकांश लोग संसारमें देहको ही सजानेवाले हैं। यह धर्मवाले भी देहको सजाते हैं, भक्तिवाले भी देहको सजाते हैं, वेदवाले भी देहको सजाते हैं, विचारवाले भी देहको सजाते हैं, समाधिवाले भी देहको सजाते हैं। हमको मालूम है कि ये सारे ज्ञान-विज्ञानके द्वारा अपने देहको अलंकृत करते हैं। और यहाँ तो वेदान्त शुरू होता है तब, जब परिच्छिन्न स्थूल-देह, परिच्छिन्न सूक्ष्मदेह और परिच्छिन्न कारणभेदके अहंभावसे मुक्त जो अहं है, उसकी दृष्टिमें यह सृष्टि स्वप्नवत् है। फिर

जो दृश्य है, वह द्रष्टासे अभिन्न ही है, ब्रह्म है। नहीं-नहीं जी ब्रह्म ही जगत् है।

तो देखो, स्वप्नवत् माने मिथ्यात्व दृष्टि हुई और जगत् ब्रह्म है माने कार्यमें कारणदृष्टि हुई और ब्रह्म ही जगत् है माने कारणसे अभिन्न हो गया कार्य और अहं ब्रह्म—अपना जो अहं है, वह शुद्ध ब्रह्म है। चौथी भूमिकामें स्वप्नवत्, पाँचवीं भूमिकामें जगत् ब्रह्म, छठी भूमिकामें ब्रह्म जगत् और सातवीं भूमिकामें अहं ब्रह्म। तीन भूमिका तो साधन की है— शुभेच्छ, विचारणा और तनुमानसा।

अच्छा, स्वप्नवत् जगत्में यही देखना है कि यह देह, अन्तःकरण और अहंभाव—ये तीनों स्वप्नवत् हैं कि नहीं हैं? यदि ये तीनों स्वप्नवत् हैं, तब वेदान्तकी सफल भूमिका! अपने देह सहित समग्र मन और अपनी सुषुप्ति और समाधि सहित समग्र जगत्का महाप्रलय। महाप्रलय भी स्वप्नमें होता है, वस्तुमें नहीं होता। सृष्टिकी उत्पत्ति स्वप्नमें होती है। और, खाली सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय स्वप्नमें और उसमें जो यह सबका देह है, वह अलग खड़े होकर तमाशा देखता है।

एक सज्जन थे। उन्होंने कहा कि हमको ईश्वरका दर्शन कराओ। अच्छा, देखो यह इधर रहता है ईश्वर! वे बोले कि हम ऐसे थोड़े-ही मान लेंगे। तुमने बता दिया कि यह रहता है ईश्वर और हम मान लें कि यहाँ ईश्वर रहता है? हम माननेवाले नहीं हैं। तब कैसे मानोगे? वे बोले कि हम ईश्वर उसको जानते हैं, जो दुनिया बनाता है और दुनियाका नाश करता है। तो यदि तुम ईश्वर हो तो हमारे सामने पहले बनी बनायी दुनियाका तो नाशकर दो और फिरसे दुनिया हमारे सामने बना दो, तब हम तुमको ईश्वर मान लेंगे! बाबूजी, जब हम दुनिया बनावेंगे और बिगाड़ेंगे, तब हमारा शरीर भी बिगड़ जायगा और तुम्हारा शरीर भी बिगड़ जायेगा। तब फिर दुनियाको बिगड़ते हुए कैसे देखोगे? अच्छा, जब हम बनावेंगे तो यह शरीर भी बनावेंगे और वह शरीर भी बनावेंगे। तो तुम बन जाने पर ही देखोगे, बनते हुए भला कैसे देखोगे?

तो आपके ध्यानमें यह बात आनी चाहिए। आप यदि अपने देहको सच्चा समझकर, अपने अहंभावको सच्चा समझकर दुनियाको यदि मिथ्या बनाते हैं तो आपका यह मिथ्या बनाना केवल ख्याली पुलाव है, केवल मानसिक कल्पना है। जब आपका देह भी और देहमें जो अहंभाव है—वह भी स्वप्नवत् होगा, तब जगत् मिथ्या है। आपको मालूम होना चाहिए कि दृष्टि सृष्टिका प्रकाशक ही नहीं है, अधिष्ठान भी है। दृष्टि सृष्टिका कारण ही नहीं है, उपादान है। तो दृष्टि सृष्टिका प्रकाशक है एक, सृष्टिका अधिष्ठान है दो और सृष्टिका उपादान है तीन। प्रकाशक होनेसे तो चेतन है और अधिष्ठान होनेसे सृष्टिसे अत्यन्त विशाल है और उपादान होनेसे दृष्टिसे, सृष्टि जुदा नहीं है। दृष्टिमें सृष्टि है। लेकिन मेरे बापजी, आप यह ध्यान दो कि दृष्टि यदि किसीका उपादान बनेगी तो क्या परिणामिनी होकर उपादान बनेगी? दृष्टिमें यदि परिणाम होगा तो दृष्टिका द्रष्टा कौन रहेगा? परिणामका दृष्टा कौन रहेगा? तो देखो, यह दृष्टि सृष्टिका प्रकाशक है—एक। और, यह नहीं कि घट और घट-द्रष्टाके समान प्रकाशक है। आधार भी है। माने यह सृष्टि दृष्टिमें ही है। परन्तु दृष्टिमें सृष्टि है-इसका यह मतलब नहीं है कि अध्यस्त और अधिष्ठान दो चीज है। दृष्टि उपादान भी है और अपादान भी है-इसका यह अर्थ नहीं है कि दृष्टि, उपादानके रूपमें परिणामिनी है। वह विवर्तिनी है। नारायण, जहाँ सृष्टि विवर्त है, वहाँ दृष्टि-ही-दृष्टि है। वहाँ सृष्टि कहाँ है? तो दृष्टि अद्वय है। अतः वस्तुतः न तो दृष्टि, दृश्य हैं और न तो आधार है और न तो उपादान है और न तो दृष्टिमें अनेकता है। दृष्टि बिलकुल अखण्ड है और इसी दृष्टिमें यह समग्र सृष्टि भास रही है। यह दृष्टि कौन है? यह दृष्टि आप हो! आपका ही नाम दृष्टि है। आपमें ही दृष्टि नामका अध्यारोप करके यह हम आपको वेदान्त सुना रहे हैं। आपका दृष्टि नाम भी सृष्टि-सम्बन्धको, सृष्टि-वस्तुको काटनेके लिए अध्यारोपित है।

तो नारायण, आपको राजा बननेकी वासना हो तो बनिये! आपको आचार्य बनना हो, कोई पंथ चलाना हो तो मजेसे चलाइये। स्वर्गके राज्य

और ब्रह्मलोकके राज्यको भी राख बना देनेके लिए यह ब्रह्मज्ञान प्रवृत्त होता है। आचार्यकी स्थापना करनेके लिए यह ब्रह्मज्ञान नहीं होता है। पंथ चलानेके लिए ब्रह्मज्ञान नहीं होता है! यह ब्रह्मज्ञान, ज्ञान-ब्रह्मके सिवाय दूसरी वस्तुकी कोई सत्ता नहीं है।

वेदान्तमें भी विश्वासकी आवश्यकता

तो देखो, एक होती है ज्ञानकी आग और एक होता है विश्वासका अमृत। तो जहाँ तक आपके चित्तमें विश्वासके बीज है—पुनर्जन्म पर विश्वास है, परलोक पर विश्वास है, पाप-पुण्य पर विश्वास है, भविष्य जीवन पर विश्वास है—वहाँ तक आप एक नये विश्वासकी दया लीजिये। '*विश्वासामृतं पीत्वा*'। यह विश्वास लो कि न तो वस्तुका अहंभाव है आपमें किसी क्रियाका अहंभाव नहीं है, किसी वृत्तिका अहंभाव नहीं है, किसी स्थितिका अहंभाव नहीं है। आप अहंभावसे विनिर्मुक्त आत्मचैतन्य हैं। सारे विश्वासोंको काटनेवाला यह लीजिये 'विश्वासामृत'! और, सुखी हो जाइये।

असलमें विश्वासकी भी जरूरत है। इसको कच्चे लोग नहीं जानते हैं, पक्के लोग जानते हैं। जब ज्ञान बढ़ता है, अनुभव बढ़ता है, उम्र बढ़ती है तब यह बात समझमें आती है। जब तुम विश्वासके द्वारा संचालित हो रहे हो तो गलत विश्वासको काटनेके लिए एक सही विश्वास चाहिए।

मैं अष्टावक्रगीताका अनुवाद लिखा रहा था।* बहुत पुरानी बात है। आजकल हमारे वृन्दावनमें बड़े नामी संत हैं, बाबा हितदासजी महाराज! वे उन दिनों हमारे साथ रहते थे और उनको मैं अनुवाद लिखा रहा था। तब यह श्लोक आया कि 'विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव' तो वे बोले कि महाराज, वेदान्तमें भी विश्वास। बस-बस, तब हम जिस विश्वासमें हैं, उसीमें ठीक हैं। अब हम नया विश्वास नहीं करेंगे! उन्होंने तो

** सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा यह अनुवाद पुस्तक रूपमें उपलब्ध है।*

अनुवाद ही लिखना छोड़ दिया! लेकिन; विश्वासकी बड़ी भारी जरूरत है। क्योंकि, विश्वासके चलाये तो आप चल रहे हो।

आप पत्नीके साथ रहो और पत्नीसे कह दो कि हमारे ऊपर विश्वास मत करो! आपका घर रहेगा कि आग लग जायेगी? अच्छा, आप पत्नीके साथ रहो और पत्नीका विश्वास मत करो। आप सुखी रह सकते हो? नहीं रह सकते हो। तो महाराज, आप जैसे जीवत्वका विश्वास करके बैठे हो, ऐसे ब्रह्मत्वका विश्वास करके थोड़ी देर बैठो तो? आप पाँच मिनटके लिए इस बातका विश्वास छोड़ दो कि मैं किसी वस्तुका अभिमानी हूँ। मैं जीव हूँ—इस विश्वासको छोड़कर मैं परमात्माका अंश हूँ, स्वरूप हूँ, परमात्मा हूँ—इस विश्वासमें आप पाँच मिनट बैठिये! आप झूठमूठ ही मान लो! आप झूठमूठ बहुत बात मानते हैं। बिना देखे-सुने बहुत बात मानते हैं। जरा पाँच मिनटके लिए मान लो कि आप सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्र अद्वय ब्रह्म हो। तो आपमें माया कहाँ है? आपमें प्रपंच कहाँ हैं? आपमें नरक-स्वर्ग कहाँ है? आपमें पुनर्जन्म कहाँ है? आपका देह और दैहिक सम्बन्ध कहाँ?

आप केवल पाँच मिनट यह मान लो कि मैं ब्रह्म हूँ। आपको कौन-सा दुःख है? आपका कौन सम्बन्धी मर गया है? अच्छा, आपका कौन सम्बन्धी बिछुड़ गया है? आपका कौन-सा पैसा कहाँ चला गया है? आप किस नरकमें गये हो? किस स्वर्गमें जाना चाहते हो? आप पाँच मिनटके लिए यह मान करके फैसला कर लो। जैसे बच्चेको गणित सिखाते हैं कि कल्पना करो तुम्हारी जेबमें पाँच हजार रुपया नहीं है, पर उसको गणित तो आता है न! तो आप उस गणितको सीखनेके लिए केवल कल्पना कीजिये कि मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ। मेरे अन्दर कोई आकार, विकार, प्रकार, संस्कार नहीं है। न मेरे अन्दर कोई आधि, व्याधि, उपाधि, समाधि है। न मेरे अन्दर कार्यकारण है। न मेरे अन्दर जीव, ईश्वर, जगत्का नानात्व है। अब देखो आपको दुःख किस बातका है? आप पाँच मिनटकी कल्पना कर लो कि मैं ब्रह्म हूँ—झूठी कल्पना कर लो, बिना

समझे ही कल्पना कर लो, विश्वास करके कल्पना कर लो! आप देखो कि कोई देवता आपको दुःख दे सकता है? कोई ईश्वर आपका नियन्त्रण कर सकता है? क्या धर्म, कर्म आपको लग सकते हैं? क्या सुख-दुःख आपको छू सकता है?

यह महाराज झोंकनेवाली जो विद्या है, वह दूसरी है। हमारे जो उपदेशक, प्रचारक लोग होते हैं, उनको केवल आपका कल्याण ही नहीं चाहिए। आप पचास वर्ष तक उनकी सेवा करते रहें, इसकी भी उनको जरूरत होती है। यह बड़े-बड़े मठ, मन्दिर, बड़े-बड़े सम्प्रदाय, बड़े-बड़े आचार्यत्व—यह सब नहीं चल सकते। आप पाँच मिनटके लिए झूठी कल्पनाकरके अपनी कल्पनामें अपनेको ब्रह्म मानकर और जीव, जगत्, ईश्वरका गणित तो लगाइये! कुछ नहीं टिकेगा। अब यह बात दूसरी है कि जिसका स्वभाव दुःखनेका है, वह जहाँ जायेगा वहाँ दुःख ही बनावेगा। जिसकी कल्पना संसारमें फँसे रहनेकी है, वह जहाँ जायेगा वहाँ कोई-न-कोई फँसाव ही पैदा करेगा!

●

प्रवचन : 11

आप काहेके कर्त्ता हो बाबू?

अहं कर्त्तेत्यहं मान महाकृष्णाहि दंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥ 1.8

नारायण! मनुष्य अपनेको कर्त्ता मानता है और कर्त्ता न माने तो लोक-व्यवहारमें उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी? परन्तु, विचार करके देखो कि तुम्हारा कर्त्तापन कहाँ है? क्या तुम वस्तुको एक रूप रख सकते हो? जैसे बहुत पैदावार जिसमें हो, ऐसी देखकर जमीन लेते हैं। पर चार, छः वर्ष खेती करनेके बाद वह जमीन उपजाऊ नहीं रह जाती। पैदावार कम हो जाती है। फिर खाद-वाद डालना पड़ता है। अच्छा, घरमें पानी रख दो तो क्या वह एक सरीखा रहेगा! क्या आग जलती रहेगी? तो अगर तुम उनके कर्त्ता हो, तुम मालिक हो तो उनको एक सरीखा क्यों नहीं रखते हो? अच्छा, आपके पास एक आमका फल है। आप चाहें कि वह कच्चा रहे कि पक्का-ही-पक्का रहे, बना रहे, सड़े नहीं—उसमें आपका कोई सामर्थ्य है? अच्छा, इसको भी छोड़ दो! क्या विवाह करनेमें अपना कर्त्तापन है? कितने लोग चाहते रहते हैं। बेचारे विवाहके कर्त्ता होते ही नहीं हैं! तो क्या बच्चा पैदा करनेमें अपना कर्त्तापन है? क्या उसको जिन्दा रखनेमें अपना कर्त्तापन है? अच्छा, क्या शरीरको ठीक रखनेमें अपना कर्त्तापन है? माने, विचार करनेपर आप देखोगे कि थोड़ी-थोड़ी सी बातोंको पकड़कर हम अपनेको कर्त्ता मान बैठते हैं।

तो, नारायण! न तो संसारकी कोई वस्तु हमारे अधीन है, न कोई व्यक्ति हमारे अधीन है, न हमारा शरीर हमारे अधीन है, न करण हमारे अधीन है (अन्तःकरण और बर्हिकरण दोनों) अच्छा, कहो कि कर्त्तापन

ही हमारे अधीन हो तो बड़े-बड़े काम करनेवाले, कल-कारखाने बनानेवाले जब सोते हैं तो निकम्मेमें और करनेवालेमें क्या फर्क होता है? यहाँ कर्त्तापनका अहंभाव कहाँ चला जाता है? जैसे जाग्रत्‌में नियन्त्रित कर्त्तापन मालूम पड़ता है, स्वप्नमें अनियन्त्रित कर्त्तापन मालूम पड़ता है और सुषुप्तिमें कर्त्तापन नहीं मालूम पड़ता है! तो तीनोंमें-से कौन-सा सच्चा है? प्रकृतिके अधीन है तुम्हारा कर्त्तापन कि ईश्वरके अधीन है तुम्हारा कर्त्तापन कि अपने अधीन है तुम्हारा कर्त्तापन?

बोले कि देखो कल हम घंटे भर अपने कर्त्तापनको छोड़कर अकर्त्तापनमें बैठे रहे! क्या ख्याल है आपका? कल आप घंटेभर द्रष्टा रहे थे न! आप तो बड़ा साधन, भजन करते हैं। बड़े साधक हैं। अच्छा, जो कल घंटे भरका द्रष्टापना था और आज उसको आप याद कर रहे हैं, तो आज स्मर्त्तापन आ गया। तो इस समय द्रष्टा हैं कि स्मर्त्ता है? आप देखनेवाले हैं कि याद करनेवाले हैं? तो कलके जिस द्रष्टापनेकी याद आपको आती है, वह आपका असली द्रष्टापन ऐसा है कि वहाँ तो वृत्तिको खींच कर कि मैं द्रष्टा हूँ—ऐसे भावमें बैठे हुए थे और वह भी अहंभाव था। यह अहंभाव ऐसा-ऐसा रूप ग्रहण करता है। वह जो आपने अपनेको सहजभावसे छोड़ दिया या कड़े होकर बैठ गये या थोड़ी देरके लिए बोले कि हम अपने मनको देख रहे हैं। तो वह जो आपका मनको देखना था, वह क्या द्रष्टापन था? वह तो स्मृतिका विषय है, वह तो दृश्य था। उसको आपने देखा और अब उसे याद कर रहे हैं। वह भी अहंभाव था भला! वहाँ भी वृत्तियोंको, दृष्टियोंको एक रकमसे चलने दिया और एक रकमसे देखते रहे।

माने आपने अपनेको दो हिस्सेमें बाँट दिया—एक हिस्सेमें वृत्तियाँ चल रही हैं और हिस्सेमें आप सावधान रह रहे हैं और नारायण! असलमें यदि सच्चे सावधान हो जायें तो वृत्तियोंका चलना भी रुक जायगा। लेकिन यह जो वृत्तियोंका चलना रुका हुआ है, उसको देखनेवाला जो है, वह सच्चा द्रष्टा नहीं है, झूठा ही है।

अच्छाजी, अभी आप द्रष्टा नहीं हैं और आगे हो जायेंगे? और पहले आप द्रष्टा थे, अब द्रष्टा नहीं हैं? यह जो आपके द्रष्टापनमें चढ़ाव और उतार है, यह रोग है। कल हम एक सज्जनके घर गये थे। उन्होंने गुरुग्रन्थ साहिबका एक शब्द पढ़ कर सुनाया। उसका मतलब यह था कि जब तक 'हाऊमें'का परित्याग नहीं करेंगे, तबतक संतसे मिलन नहीं होगा।

क्या आप अपने प्यारेसे मिलना चाहते हैं? अपने प्यारेसे मिलना चाहते हैं तो 'हाऊमा' माने अहंभावका परित्याग करना पड़ेगा। अब यह अहंभाव कहाँ है? आप अपने अहंभावको देखो!

परिच्छिन्नतामात्र दृश्य होती है। चाहे एक मिनटकी चीज हो तो दिखायी पड़ेगी, एक इंचकी चीज हो तो दिखायी पड़ेगी, एक चीजसे अलग कोई चीज हो तो दिखायी पड़ेगी। तो यदि इदंसे अलग है आपका अहं, तो यह दृश्य होगा। यहसे जो अलग होगा, वह अलगत्वेन दृश्य होगा। जैसे देखो, अंगुलीमें दृश्यता है। परन्तु अंगुलियोंके बीचमें जो अवकाश है, उसमें दृश्यता नहीं है। चूँकि वह दोनों अंगुलियोंके बीचमें आगया, इसलिए वह अंगुलीसे विलक्षण है—इस प्रकारकी दृश्यता उसमें आगयी। तो अंगुली भी दृश्य है और जहाँ अंगुली नहीं है, वहाँ भी दृश्य है। चिड़िया भी दृश्य है और जिस आसमानमें उड़ती है, वह भी दृश्य है।

हे भगवान्! अब आप यह जो द्रष्टा बनकर बैठते हो, कितनी देर तक बैठते हो और कितनी दूरीमें बैठते हो और द्रष्टा बनकर आप क्या देखते हो? ये तीन सवाल आपके सामने हैं। आप द्रष्टा बनकर क्या कुछ देखते हो? तो कुछसे आप अलग हो और कुछ और आपके बीचमें कोई-न-कोई चीज है, जिसको आप नहीं देख रहे हो! दो अंगुली जब मालूम होती हैं, वहाँ दो अंगुलीका अभाव बीचमें होता है। जहाँ दृश्य और द्रष्टा-दो चीज होती हैं, वहाँ दृश्यसे द्रष्टाको अलग करनेवाली कोई चीज होती है। तो सांख्य योगियोंने इसको प्रकृति कहा है। दृश्यका कारणरूप

एक प्रकृति है, जो द्रष्टा और दृश्यके बीचमें है और सम्बन्ध जो है कि यह मेरा दृश्य है और मैं इसका द्रष्टा हूँ—इस सम्बन्धके बीचमें अविवेक है। माने दो चीज है—एक तो प्रकृति है और दूसरा अविवेक है। तो सांख्य लोग प्रकृतिका होना बुरा नहीं मानते हैं, अविवेकका होना बुरा मानते हैं। क्योंकि, सांख्य और योगके मतमें केवल सम्बन्धकी निवृत्ति होती है। उसमें भी योगमें यदि समाधि लग गयी और अविवेक दूर हुआ तो ईश्वर-कृपासे प्रतीति और अविवेक दोनोंकी निवृत्ति हो जाती है। परन्तु, अपनी अपरिच्छिन्नताका ज्ञान न होनेके कारण अद्वैतबोध वहाँ भी नहीं होता है। यह द्रष्टा और दृश्यकी प्रक्रिया है।

विश्वास क्यों?

अब आओ, जरा विश्वासकी बात करें।

अपने लक्ष्य पर विश्वास करके उसकी प्राप्तिके लिए साधन किया जाता है। जहाँ तक लक्ष्यका साक्षात्कार नहीं हो गया है, वहाँ तक इसपर विश्वास नहीं करोगे तो साधन नहीं होगा। कहो कि अजी, हम उसपर विश्वास नहीं करते, उसकी खोज करते हैं। तो खोज करनेपर असलियतके बारेमें अगर कोई आइडिया आपके मनमें नहीं होगा तो खोज मिलने पर क्या मिलेगा जो आपकी खोज पूरी होगी? ब्रह्मका साक्षात्कार होगा? आत्माका साक्षात्कार होगा कि संशयवादमें ही रहेंगे कि ईश्वर मिलेगा कि जड़ मिलेगा? रास्तेमें कुछ भी मिल जाये और अपनी खोज पूरी कर लें तो? समझ जायें कि हमारी खोज पूरी हो गयी! हमारी समाधि लग गयी, सो खोज पूरी हो गयी! ईश्वर मिल गया, खोज पूरी। हमको आत्म-साक्षात्कार हो गया, खोज पूरी!

अब देखो, लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए यदि लक्ष्यके बारेमें कि यह लक्ष्य है—यह विश्वास नहीं होगा तो आपकी खोज ही डाँवाडोल हो जायगी। अच्छा, खोजमें रास्तेमें कोई चीज मिलेगी तो वहीं रुक जाओगे! कहीं अलक्ष्यको ही लक्ष्य समझ बैठे तो लक्ष्यके बारेमें एक ख्याल अपने मनमें

होना चाहिए। तो उस लक्ष्यको आप उपनिषद्से जानो, संतसे जानो, महात्मासे जानो! अद्वैतात्मबोध जो है, वह आपका लक्ष्य है। तो यह विश्वासकी रूपरेखा लक्ष्यकी प्राप्तिके पूर्व है। लक्ष्य-प्राप्ति हो जानेके बाद यह विश्वास नहीं रहता।

देखो, क्रम बताते हैं! बहिरंग साधनमें श्रद्धा है। अन्तरंग साधनमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन है और लक्ष्य-प्राप्तिमें तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति है। तो बहिरंग साधन, अन्तरंगसाधन और साक्षात् साधन और उसके पहले एक परम्परा साधन होता है।

निराधार कर्त्तापन

अब अहंकर्त्तापनेकी बात लो। यह एक साँप है। साँप कहनेका एक अभिप्राय है। शहरके लोगोंको साँप काटनेका पता कभी हो कि न हो! सुनते होंगे अथवा अखबारमें पढ़ते होंगे। हमने कितने लोगोंको साँप काटनेसे मरते देखा है। साँप काटनेवालेकी दवा भी की है। साँपका जहर मुँहसे निकाला है। साँपका जहर उतारनेका मन्त्र भी हमको आता था। लेकिन अब बिलकुल याद नहीं है। इसमें एक बात आपके ध्यानमें आनी चाहिए! ऐसा प्रसंग भी हमारे जीवनमें आया है कि हमारे एक सम्बन्धी अफीम खाते थे। तो एक दिन वे आगे-आगे चल रहे थे और हम उनके पीछे-पीछे थे। साँपने आकर काटा। उन्होंने जोरसे उसको फेंका और वह धरती पर जाकर गिरा और छटपटा कर मर गया। उनके शरीरमें जो अफीमका जहर था, वह साँपके शरीरमें व्याप्त हो गया। मैंने उनसे पूछा कि आपको डर नहीं लगता है? आपको साँप काट गया है, खून निकल रहा है! वे बोले कि हम पहचानते हैं कि यह जहरीला साँप नहीं है। भविष्यपुराणमें साँपोंकी पहचान बतायी गयी है। एक साँप होता है 'धामिन'। वह बहुत पतला होता है और आठ फुटका होता है। आदमीको देखते ही वह किसी चीजको मुँहमें पकड़ता है और बड़ी तेजीसे घूमने लगता है और वह जब अपने शरीरको मनुष्यको मारता है तो जहाँ-जहाँ

उसकी चोट लगती है, वहाँ-वहाँ विष व्याप्त हो जाता है। एक ऐसा साँप होता है, जिसके दोनों ओर मुँह होता है। ऐसी-ऐसी बात हमको मालूम है साँपके बारेमें! हमारे एक परिचित हैं, उनके खानदानको साँपका वरदान था कि तुम्हारे वंशके किसी भी आदमीका नाम लेकर अगर गाँठ लगा दी जायेगी तो जहर नहीं बढ़ेगा।

हमारे गाँवमें हमारे भाई-बन्धुको साँप काट गया। तो वह साँप जहरीला नहीं था। लेकिन उन्होंने देखा कि हमको साँप काट गया है। थोड़ा खून भी निकला। अब थोड़ी देरमें उनकी आँख लाल-लाल हो गयी और वे बेहोश हो गया। तो देखो, साँपने काटा तो था, पर वह जहरीला नहीं था। घर भरके लोग रोएँ! जानकार लोग बुलाये गये। नीमकी पत्ती उनको खिलायी गयी। नीमकी पत्ती खानेसे क्या होता है—यह शायद आपको न मालूम हो! यदि साँप काट गया हो तो नीमकी पत्ती मुँहमें कड़वी नहीं लगती है। अब उनको तो वह बड़ी कड़वी लगी। उन्होंने उसे थूक दिया। तो जानकार लोग समझ गये कि उनको जो साँप काट गया है, वह जहरीला नहीं है। अब उनको यह कह दें कि जहरीला साँप नहीं था, सो विश्वास न होता! अतः उनको लिटा दिया गया अब महाराज कुछ झूठ-मूठकी दवा दी, फिर झूठ-मूठ मन्त्र पढ़ा और बोले कि जहर भाग गया, जहर उतर गया। थोड़ी देरके बाद वह ठीक हो गये। तो साँपके न काटने पर भी जब भ्रम हो जाता है कि साँप काट गया है, वहाँ भी जहर चढ़ता है, बेहोशी आती है। वहाँ आदमी छटपटाता है।

एक आदमी गाँवमें रातको शौचके लिए बाहर गया। जहाँ शौचके लिए बैठा, जब उठने लगा तो पाँवमें एक साँप लगा। डरकर साँपको तो फेंक दिया; लेकिन उसको यह ख्याल हो गया कि हमको साँप काट गया है। अब वह तो महाराज खूब चिल्लाये। बड़ी-बड़ी दवा हुई, बड़ा-बड़ा झाड़-फूँक किया; लेकिन जहर उतरे ही नहीं। सबेरा हुआ। दिनमें लोग देखनेके लिए आने लगे। एक आदमी जब उधरसे आया तो देखा कि साँप पड़ा है। उसने उठा लिया और आकर दिखाने लगा कि देखो, तुम्हारे

किसी बच्चेका रबड़का साँप नीचे गिर गया था। मैं उठाकर ले आया हूँ। उसने पूछा कि कहाँ मिला था? तब उसने जो स्थान बताया, वहीं वह शौचके लिए गया था। तो हे भगवान्! उसको असली नहीं रबरके साँपने काटा था। तो नारायण, रबरका साँप काटने पर भी भ्रम हो जाता है।

अब देखो, यह जो कर्त्तापना है, यह किसी भी दृष्टिसे कर्त्तापना नहीं है। न ब्रह्म दृष्टिसे कर्त्तापना है। वह तो अनन्त है। एक शरीरमें बैठकर कर्त्ता कैसे होगा? न ईश्वर दृष्टिसे कर्त्तापना है, न माया-दृष्टिसे कर्त्तापना है, न साक्षी-दृष्टिसे कर्त्तापना है, न प्रकृति-दृष्टिसे कर्त्तापना है, न गुण दृष्टिसे कर्त्तापना है। असलमें यह जो परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति है, भ्रमके सिवाय अपने कर्त्तापनका दूसरा कोई आश्रय नहीं है।

तो, सच पूछो तो वह सारे सिद्धान्त कर्त्तापनके अभिमानको छोड़नेमें अपना-अपना पार्ट अदा करते हैं। कर्म-सिद्धान्त कहता हैं कि बहुतसे काम तुम्हारे जीवनमे ऐसे होते हैं, जो प्रारब्धसे अथवा संस्कारसे प्रेरित होते हैं। उनका कर्त्ता अपने आपको मानकर तुम झूठ-मूठ दुःखी होते हो। एक अंशमें आपके कर्त्तापनेके भ्रमको मिटाता है कि इस समय आपने कर्म नहीं किया है, जब कर्म किया था तब और प्रारब्धके रूपमें उसका फल अथवा संस्कारके रूपमें आपके मनमें उदय हुआ और उससे यह काम हो गया और आपने अपनेको कर्त्ता मान लिया झूठ-मूठ! कर्म-सिद्धान्त भी अनेक कर्मोंके कर्त्तापनका आपका अभिमान तोड़ता है।

प्रारब्ध भोग और कर्मका संधि-स्थल कहाँ है? वह कौन-सी विभाजक-रेखा है, जहाँ हम कह दें कि इतना कर्म है और इतना भोग है। आपने कभी इसपर विचार किया है? अच्छा, मान लो, स्त्री-पुरुषका सहवास है। तो वह तो सुखात्मक है। प्रारब्धका फल है। तभी तो सुख हुआ न! ठीक है, सुख तो है। परन्तु, यदि वह अनुचित हो तो उससे पापकी उत्पत्ति होती है। तो कर्म हुआ न! जिससे पापकी उत्पत्ति होती है, वह कर्म हुआ और जिससे सुखकी प्राप्ति होती है, वह भोग हुआ। तो उसमें कितना भोग है और कितना कर्म है? आप विचार करके बताओ!

अभ्यास करके समाधि लगायी जाती है। तो समाधि भी सुखात्मक है, अभ्यासात्मक है—ये दो विभाग इसके हैं। योगांग रूप समाधि कर्म है और उसमें जो दु:खकी निवृत्ति है, वह प्रारब्ध है। उसमें कितना भोग है और कितना कर्म है—इसका विवेक आपने कभी किया?

अब नारायण, और देखो आपको सुनाते हैं! कितने काम ईश्वर कराता है और कितने आप करते हैं? जरा इसका विभाग करके बताइये तो? तो देखो, भक्ति भी आपके कर्त्तापनेको बिलकुल परतन्त्र बना देगी। भक्ति कहेगी कि तुम स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं हो। जैसी मशीन तुमने बना, बिगाड़कर रखी है, उसके हिसाबसे ईश्वरका सम्बन्ध होनेसे वह मशीन चलने लगती है। आप देखिये, यह पंखा चल रहा है—इसमें कितना बिजलीका कर्त्तापन है? जरा विवेक करके देखो! मशीनके बिना बिजली कैसे पंखेको हिलावेगी, हवा फेंकेगी? और, मान लो कि बिजली ही न होती तो पंखा बेचारा क्या करता? तो इसमें पंखा कर्ता है कि बिजली कर्त्ता है? कभी आप विचार करके देखो! यह आपका शरीर एक मशीन है और इसमें एक समष्टिकी बिजली प्रविष्ट होती है और वह इसको घुमाती है। इसमें कितना बिजलीका काम है और कितना मशीनका काम है और कितना उसमें जो चुम्बक रहता है, उसका काम है? आप यदि विवेक करके इस सम्बन्धमें नहीं समझते हैं तो शरीरमें जो कर्म हो रहा है, उसको भला कैसे समझेंगे?

हमारा कहनेका अभिप्राय है कि यह जो कर्मका और भोगका अभिमान है, यह विवेककी अपेक्षा रखता है। आप विवेक तो करेंगे कि घरमें आमदनी कैसे हो, बच्चेके लिए करेंगे, रोगको दूर करनेके लिए करेंगे। कभी अपने सुख-दु:ख पर भी आपकी नजर गयी है कि यह जो मशीन है, इसमें कैसे सुख-दु:ख पैदा होता है और उसको हम कैसे भोगते हैं और उनके लिए हम कैसे कर्म करते हैं। धन्य हैं महाराज आप, जो अपने सुख-दु:खके बारेमें ख्याल किये बिना ही 'सौ-सौ धक्के खायँ, तमाशा घुसके देखे' माने दुनियामें दौड़ लगा रहे हैं। धन्य हैं, धन्य हैं

आप। इतना बड़ा त्याग आपका कि अपने आपको छोड़ दिया! हाय रे परोपकारी जीवन!!

तो; मेरे बाप! आप अधिष्ठान स्वरूप जो आत्मा है, उसको जानो। आत्मा कहनेसे स्वयं प्रकाशता प्रकट होती है और उसको ब्रह्म कहनेसे उसकी अपरिच्छिन्नता प्रकट होती है। आत्मा क्या है? स्वयं प्रकाश है और सर्वावभासक है, चेतन है। वही सबको जानता है। जो जाना जाता है, सो आत्मा नहीं है; जो जानता है, सो आत्मा है। जिसको ज्ञानस्वरूप होनेके लिए किसी दूसरेकी जरूरत नहीं है, उसको कहते हैं स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक आत्मा! अधिष्ठान-ब्रह्म उसको कहते हैं, जिसमें देश, काल और वस्तुका कोई झगड़ा नहीं है। जैसे सीढ़ी परसे उतरते हैं—खट-खट-खट! जैसे सीढ़ी पर चढ़ते हैं पहली सीढ़ी पर पाँव, फिर दूसरी सीढ़ी पर पाँव—यह क्रम होता है न! ऐसे महाराज, ज्ञानमें कोई क्रम नहीं होता। वह क्रमका प्रकाशक है। अभी घड़ीको जाना, पुस्तकको जाना, लाउडस्पीकरको जाना—यह ज्ञान आँखकी अपेक्षासे है, अन्त:करणकी उपेक्षासे है। इनकी अपेक्षाको छोड़कर ज्ञानस्वरूप जो आपका आत्मा है, उसमें यह क्रमकी उपाधि नहीं है। इसलिए आपके स्वयंप्रकाश आत्माको काल नहीं छू सकता। जहाँ क्रम नहीं है, वहाँ काल नहीं है। और, यह पूर्व, यह पश्चिम, यह उत्तर, यह ऊपर, यह नीचे—जहाँ लम्बाई-चौड़ाई नहीं है। इस लम्बाई-चौड़ाईका प्रकाशक है, उसको ये लम्बाई-चौड़ाई नहीं छू सकतीं। और, यह घड़ी, यह लाउडस्पीकर और यह किताब—ये चीजें जहाँ नहीं है, उसको ये चीजें नहीं छू सकतीं।

तो हे भगवान्! यह आत्मा बहता हुआ नहीं है, यह आत्मा फैलता हुआ, सिमटता हुआ नहीं है। यह आत्मा भिन्न-भिन्न चीजें होता हुआ नहीं है। तो जब अपने आत्माको ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक जानोगे और फिर उस ज्ञानस्वरूप आत्माको ब्रह्म जानोगे तो न देह कर्त्ता है, न अन्त:करणकर्त्ता है, न जीव कर्त्ता है, न प्रकृति कर्त्ता है, न ईश्वर कर्त्ता है, न ब्रह्म कर्त्ता है। यह कर्त्तापन एक भ्रान्ति है। एक जीव है, जिसने

अपने स्वरूपको न जानकर अपने कर्त्तापनेकी कल्पना कर रखी है। तो 'विश्वासामृतं पीत्वा'।

विश्वासामृतं पीत्वा

यदि अधिकारी श्रद्धालु होता है तो चाहे कितनी भी काटो बात; वह विचलित नहीं होता है। हम लोगोंने देखा है, अनुभव किया है। हरिबाबाके बाँधपर एक व्यक्ति थे, वे उनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। उसको बिच्छू डंक मार गया, साँप काट गया। दवा करायी गयी। क्या हुआ कि हरिबाबाने कहा कि देखो, कहीं जानेकी जरूरत नहीं। हमको विष उतारनेका मन्त्र आता है और उठाई बाँसकी मिट्टी और डाल दी और मन्त्र बोल दिया। वह तो अच्छा हो गया। कैसे अच्छा हुआ? उन्होंने क्या मन्त्र बोला? उन्होंने हमको बताया कि हम यह मन्त्र बोलते हैं—'आदेश हरिको'—हरि भगवान्‌का आदेश, अरे जहर तू उतर जा। अरे साँपके विष तू उतर जा! *'मेरी भक्ति गुरुकी शक्ति फुरो मंत्र ईश्वरोवाचा।'* अब वह महाराज जिसको जहर चढ़ा, उसके मनमें हरिबाबाके प्रति बड़ी श्रद्धा! तो, नारायण! श्रद्धासे जहर उतारनेका अर्थ यह है।

एक आदमी आया कि हमसे हत्या हो गयी। मीमांसाशास्त्रमें बड़ा भारी विचार है इसका! बोले कि अब मरा, अब मरा, अब मरा। एक आदमीने कह दिया कि भाई, भगवान्‌का नाम ले—नारायण! नारायण! नारायण! जा, तेरी हत्या उतर गयी। लेकर गंगाजल उसपर छिड़क दिया। अब वह व्यक्ति खुश-खुश चला गया। और, एक व्यक्ति आया कि महाराज, हमसे हत्या हो गयी है। क्या करें? बोले कि लो, हम नारायण! नारायण!! कहकर उतार देते हैं। वह बोला कि नारायण! नारायण!! कहनेसे भला हत्या उतर जायेगी? अच्छा, तब कैसे उतरेगी? तब उसे धर्मशास्त्रके अनुसार पूरी विधि बता दी कि यह-यह व्रत करो, उपवास करो, तीर्थयात्रा आदि करो।

तो, नारायण! कोई-कोई ऐसे होते हैं कि वे बड़ा काम करके अपने

अन्दर अभिमान पैदा करेंगे कि अब मैं शुद्ध हो गया और कोई-कोई भगवान्‌की महिमाको देखते हैं। अपने आप करना होगा तो बड़ा काम करनेपर बड़ा अभिमान होगा और भगवान्‌की कृपा पर विश्वास करोगे तो भगवान्‌का छोटा-सा नाम बड़ा काम कर देगा। क्योंकि, भगवान्‌के छोटेसे नाममें बड़ी भारी ताकत है।

मंत्र परम लघु जासु गत, विधि हरि हर सुर सर्व।
महामत्त गजराज कहँ, बक पर अंकुश खर्ब॥

छोटेसे अंकुशसे हाथी वशमें हो जाता है। तो आदमीकी दो तरहकी प्रकृतियाँ होती है। जो नारायण पर विश्वास करता है तो थोड़ेमें शुद्ध और जो अपने धर्म, कर्म पर विश्वास करता है तो बहुत करने पर शुद्ध। और, जो अपने आपको द्रष्टा जानता है—साँप जैसे अपना केंचुल छोड़ देता है, वैसे ही वह कर्म, कर्मफल, करण और कर्त्तापन सबको छोड़ देता है। यह भी एक केंचुल है। अब जिसने अधिष्ठान ब्रह्मको जान लिया, उसके लिए तो चारों बाधित हो गये। चारों मुर्दा! मुर्दा क्या करेंगे? यह लीला है इसकी!

तो, 'नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव'—मैं कर्त्ता नहीं हूँ, इस विश्वासामृतको पीओ! यह विश्वासरूप अमृत अपने आप नहीं आयेगा। जैसे ईश्वरके अनुग्रहसे ईश्वरका जरा-सा नाम बड़ा काम करता है। एक आदमीको एक रोग हुआ। वह हकीमजीके पास गया। उन्होंने बड़ा-सा नुस्खा लिखकर दे दिया। उसने बाजारसे दवा मँगाई और एक लोटा जुशांदा पकाया गया और पीआ। अब महाराज दस दिन पीआ तो रोग दूर हुआ। अब एक अन्य व्यक्तिको वही रोग हुआ और वैद्यजीने एक सरसोंके दानेके बराबर दवा दी और वह रोग दूर हो गया। हे भगवान्! जब सरसोंके दानेके बराबर दवासे रोग अच्छा हो जाता है तो लोटे भरका जुशांदा क्यों? बोले कि भाई, हकीमजीको सरसोंके दाने भरकी दवा मालूम नहीं है। तो यह एक ही पाप पर एक सालका इतना बड़ा प्रायश्चित और दूसरी ओर वह भगवान्‌का छोटा-सा नाम!

देखो, विश्वासमें फर्क होता है और औषधिके गुणमें फर्क होता है। अपने पुरुषार्थकी प्रधानता होती है और भगवद्-गुणानुवादकी प्रधानता होती है। और, तत्त्वज्ञान तो विलक्षण होता है महाराज! पाप पैदा होकर मिटना दूसरी चीज है—धर्म-सिद्धान्तमें पाप पैदा होकर फिर मिटता है। उसमें भी दो मत हैं। कोई कहते हैं कि मिट जाता है और कोई कहते हैं कि वह दब जाता है। योगाभ्यासका मत है कि योगाभ्यास करनेसे प्रत्यवायकी निवृत्ति हो जाती है। ईश्वर-भक्ति हुए-हुए पापको मिटा देती है। द्रष्टा हुए-हुए पापसे असंग हो जाता है और, वेदान्त मत यह है कि जिसमें पाप पैदा ही नहीं होता। आपको विश्लेषण करके यह बात सुनाते हैं कि वेदान्त वह है, जहाँ पाप पैदा नहीं होता। पाप लगता नहीं। पापको मिटाना नहीं पड़ता। न पापका 'पापोऽहं' अभिमान होता है और न ही पापका अभिमान मिटने पर 'शुद्धोऽहं' अभिमान होता है। क्यों? वह अपनेको अद्वैत ब्रह्मके रूपमें जान गया है।

'विश्वासामृतं पीत्वा'। यदि आप सचमुच कर्त्ता होते तो विश्वासामृत पानसे वह कर्त्तापन दूर नहीं होता। चूँकि आप केवल गलत विश्वासके कारण कर्त्ता हैं, इसलिए सही विश्वासके कारण आपका रोग दूर हो जायेगा। गलत विश्वासके कारण आप रोगी हैं तो सही विश्वासके कारण रोग निवृत्त हो जायेगा। माने विश्वास दो तरहका होता है—एक असत्यानुयायी विश्वास और एक सत्यानुयायी विश्वास। इसको वेदान्तमें संवादी भ्रम और विसंवादी भ्रम बोलते हैं। पंचदशीमें ध्यानदीप प्रकरणमें यह प्रसंग आया है।

दो आदमियोंने एक जगह पर दो रोशनी देखी। दोनोंके मनमें यह ख्याल हुआ कि वह मणि पड़ी है, चमक रही है। अब महाराज, दोनों दौड़े। तो एकने दीयेकी ज्योतिको मणि समझ लिया था। वह वहाँ गया तो मणि नहीं मिली, दीयेकी ज्योति मिली। अब एकने मणिकी ज्योतिको ही मणि समझ लिया था। सो वहाँ गया तो उसको ज्योतिके स्थान पर मणि ही मिली। तो सही विश्वास और गलत विश्वासमें फर्क होता है। गलत विश्वास

यह है कि 'मैं कर्त्ता हूँ' और सही विश्वास यह है कि 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ'। अभी विश्वासकी बातकर रहे हैं। अनुभवकी बात बादमें!

तो; एकने सज्जनमें सज्जन होनेका विश्वास किया और उसका विश्वास फल गया और एकने दुर्जन पर सज्जन होनेका विश्वास किया तो उसका विश्वास नहीं फला। तो; मैं कर्त्ता हूँ—यह गलत विश्वास है। इसलिए वह फलता नहीं है। और, मैं अकर्त्ता हूँ—यह सत्यानुरोधी विश्वास है, इसलिए यह विश्वास फल देता है। क्या फल देता है? हमारा दुःख ही मिटा देता है।

एको विशुद्ध बोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्राज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखीभव॥ 1.9

यह अज्ञानरूपी काननको भस्म करके माने यह विश्वासामृत ज्ञानोत्पादन द्वारा हमारे शोकको निवृत्त कर देता है और हम सुखी हो जाते हैं। हम लोग पहले जब स्वतन्त्रता आन्दोलन हो रहा था, तब विदेशी वस्त्र जलानेका काम करते थे। ऐसे जलाते थे कि किसीको कोई शंका ही नहीं हो सकती थी कि ऐसे जलाते हैं। पोटेशियम (लाल दवा) पर थोड़ी-सी रूई ले लेते थे और उसके एक कोने पर थोड़ी-सी ग्लीसरीन डाल लेते थे। जब वह ग्लीसरीन रूईमें व्याप्त होकर पोटाश पर पहुँचती थी तो भकरे वह जल जाता था। तो नारायण! यह जो विश्वासामृत है, वह तो बिलकुल ग्लीसरीन सरीखा है भला! द्रव्य सरीखा है। लेकिन ज्ञानकी ऐसी आग पैदा करता है कि अज्ञानके जंगलको जला दे। विश्वास नहीं जलाता। ग्लीसरीन किसी चीजपर डाली जाय तो वह किसीको जलाती थोड़े-ही है। लेकिन; महाराज पोटाशके साथ सम्बन्ध हो जाय तो बस! इसी प्रकार यह जो विश्वासामृत है, सत्यके साथ जब इसका सम्बन्ध जुड़ता है, तब ज्ञानाग्नि उत्पन्न कर देता है। अन्तःकरण रूई है और विश्वासामृत है ग्लीसरीन और उसका जहाँ सत्यज्ञान रूप पोटाशसे सम्बन्ध हुआ कि ऐसा जलता है कि अज्ञानके जंगलको भस्म कर दे।

तो, ज्ञानाग्निके प्रज्वालन द्वारा विश्वासामृत अज्ञानको निवृत्त करता

है। माने विश्वासामृत बहिरंग साधन है और तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य जो वृत्ति हैं, वह अन्तरंग साधन है और जहाँ ब्रह्मके साथ साक्षात् सम्बन्ध हुआ, वहाँ अज्ञान भस्म!

आपको यह मालूम है कि नहीं मालूम है कि बिच्छूके पेटमें जब बच्चा आता है तो पैदा कैसे होता है? माँ मर जाती है और बच्चा निकल आता है। देखो, प्रकृतिकी यह कुदरत। माँका शरीर नष्ट हो जाता है और उसमें-से बच्चा निकल आता है। एक नहीं अनेक निकलते हैं। लेकिन माँको मारकर निकलते हैं। अपने भीतर जो गर्भ-धारण करती है, वह गर्भ ही उसकी मृत्युका हेतु होता है। तो यह वृत्ति-गर्भिणी तत्त्वमस्यादि महावाक्यके संयोगसे जब ब्रह्मको अपने गर्भमें धारण करती है तो वृत्ति स्वयं मर जाती है और ब्रह्म जिन्दा हो जाता है। ब्रह्म तो जिन्दा ही है। यह वृत्तिमें आया हुआ जो ब्रह्माकार है, यह वृत्तिको मार देता है और स्वयं भी मर जाता है। यह इसकी माया है।

एक निश्चयकी आग जलाओ!

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना। 1.9

यह निश्चयकी आग कैसे जलेगी? 'मैं विशुद्ध बोध हूँ'—यह चिन्तन हो। विशुद्ध-बोध क्या? बोध भी अशुद्ध होता है क्या? कैसे अशुद्ध होता है? कोई भी चीज अशुद्ध तब होती है, जब उसमें दूसरी चीज मिला देते हैं। जब आप कहेंगे कि शुद्ध जल चाहिए तो उसका मतलब होता है कि उसमें संतरेका रस मत मिलाओ, उसमें शक्कर मत मिलाओ। तो शुद्ध ज्ञानका मत क्या होता है? आप उसमें 'इदं' और 'अहं' ये दो चीज मत जोड़ो। 'मैं ज्ञाता हूँ'—यह मत जोड़ो और 'यह गुणी है'—यह मत जोड़ो। *इदं ज्ञेयं अहं ज्ञाता*—इस द्वैतसे मुक्त जो ज्ञान है, वह शुद्ध ज्ञान है। कौन है? वह तुम हो। ऐसे ही सब होंगे? ऐसे-ही सब नहीं होंगे! 'सब' जो है, वह इदं है। वह ज्ञान थोड़े-ही है। बोले कि ऐसा ही ज्ञान उनको भी हुआ, उनको भी हुआ, उनको भी हुआ। नहीं-

नहीं, उनको, उनको, उनको—यह तो 'इदं' को तुम मिला रहे हो और अपनेको मिला रहे हो तो 'अहं'को मिला रहे हो। 'अहं' और 'इदं'से विनिर्मुक्त जो ज्ञान है, वह शुद्धज्ञान है और वह एक अखण्ड, अद्वितीय है। यह निश्चयकी आग जहाँ प्रज्वलित हुई, वहाँ अज्ञानका जंगल जला; सारे शोक मिटे और केवल सुख-ही-सुख!

तो तुम्हारे जीवनको सुखी बनानेकी यह विद्या है। शोक मिटानेकी यह विद्या है।

परमार्थ-विद्या

देखो, एक विद्या तो वह है कि आप खूब मजदूरी करो और मजदूरी पाओ और खाओ! कर्म करो, उसका फल लो और सुखी हो जाओ। एक विद्या यह है कि किसी मालिकके पास पहुँच जाओ, उसका पाँव दबाओ, उसकी तारीफ करो, उसकी हाँ-में-हाँ मिलाओ और वह तुमको भोजन दे दिया करे। वह तुम्हारी रक्षा भी करे। और, एक विद्या ऐसी है कि भगो, भगो! और, सात दरवाजेके भीतर जाकर बैठ जाओ! समाधिकी गुहामें बैठ जाओ तो वहाँ कोई डर नहीं है।

तो एक है भीतर भाग करके अपनेको बचाना और एक है दूसरेकी शरणमें जाकर अपनेको बचाना और एक है, अपनी मजदूरीके बलपर आगे बढ़ना और एक है महाराज जो सत्य है, जो यथार्थ है, परमार्थ है। वहाँ किसी प्रकारका दु:ख नहीं है। यह दु:ख मिटानेकी विद्या, राग-द्वेष मिटानेकी विद्या है!

●

प्रवचन : 12

आत्माका स्वरूप : विभिन्नमत

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयबह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञान गहनं, वीतशोकः सुखी भव॥ 1.9

वहाँ कैसा है, इससे वेदान्त प्रारम्भ नहीं है। वह कैसा है, इससे भी प्रारम्भ नहीं है। तब कैसा था और तब कैसा रहेगा, वहाँ कैसा था और कैसा रहेगा—यह वेदान्तका विचार नहीं है। वेदान्तका विचार तत्त्वका विचार है। जहाँ हम हैं, जो हैं, वह अनुभव कर रहे हैं, उस अनुभवका विश्लेषण करें!

आपको क्या बतावें! कोई ऐसी मशीन न थी, न है और न हो सकती है, ऐसा होना सम्भव ही नहीं है कि जो अनादि भूतका प्रत्यक्ष कर सके। उससे पहले, उससे पहले, उससे पहले—इसका ऐसा ताँता लगा हुआ है कि जहाँ आप पहुँचेंगे, वहाँ फिर प्रश्न उठेगा कि इससे पहले क्या? चाहे आप चिड़ियाकी तरह विमान बनकर उड़ें, चाहे भगवान्को बैठाकर उड़ें! उस अनादिको पा नहीं सकते। जो अनादि है, वह अनादि ही रहेगा! जहाँ तक आप पहुँचेंगे, उसके आगे भी वह होगा। चाहे योगी, महायोगी, परमयोगी हो जाओ। जो अनादि है, उसकी अनादिताको मिटा नहीं सकते।

इसी प्रकार किसीको अनन्त भविष्यका अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता। उसके बाद, उसके बाद, उसके बाद। जहाँ कहोगे कि यह रहा! प्रश्न होगा कि उसके बाद? इस सवालका कहीं अन्त नहीं है। तब तो यह

हुआ कि जो कहेगा कि सृष्टि पहले-पहल ऐसी थी, वह केवल अपनी कल्पना जोड़ेगा और जो कहेगा कि अन्तमें सृष्टिका यह हाल होगा, वह भी केवल अपनी कल्पना ही जोड़ेगा। क्योंकि, उससे पहले भी सृष्टि रहेगी। तो सृष्टिका आदि-अन्त पाकर यदि कोई चाहे कि हम सत्यको ठीक-ठीक समझ जाएँ, तो उस सत्यका नाम चाहे कोई देवी रखे, और चाहे भगवान्, चाहे निराकार रखे और चाहे साकार—यह मामला बिलकुल गड़बड़ा जायेगा। 'बिना मुद्दै बिना मुद्दालय' का मुकदमा हो जायेगा। जज साहब मुकदमा तो देख रहे हैं, परन्तु किस विषय मुकदमा है—वह मालूम ही नहीं पड़ेगा। क्या फैसला होगा उसका?

तो वेदान्त प्रारम्भ यहाँसे होता है—जहाँ हम हैं, जो हम हैं, जब हम हैं और जो कुछ हमारे अनुभवका विषय हो रहा है। माने अनुभूतिको आप पहले दो हिस्सेमें बाँटिये—एक ज्ञेय और ज्ञाता। इसके सिवाय और कोई चारा नहीं है। एक वह दुनिया, जो मालूम पड़ती है। तो जिसको मालूम पड़ती है, उसका अन्त अपना आपा है। क्योंकि कोई भी चीज अगर किसीको मालूम पड़ रही है तो वह किसी भी 'मैं'को ही मालूम पड़ रही है। माने अनुभवका अन्तिमरूप अपना आपा है। देखो, सपनेमें जितने जीव दिखायी देंगे, सब शरीरधारी होकर ही मालूम पड़ेंगे। बिना शरीरका तो कोई दिखायी नहीं पड़ेगा। यह कल्पना ही कर सकते हो कि हर शरीरमें जीवात्मा होता है। जीवात्मा दिखायी नहीं पड़ता। ऐसे ही जाग्रत्में है। शरीर दिखायी पड़ता है जैसे स्वप्नमें! उसमें जीवात्माके होनेकी कल्पना ही करते हो। स्वप्न पर विचार करने पर जैसे स्वप्नके हजारों शरीरमें जीव नहीं मिलेंगे, वे जीवाभास हैं, इसी प्रकार जाग्रत्के हजारों शरीरोंमें जो जीव मालूम पड़ते हैं—वे सब-के-सब जीवाभास हैं और अपने शरीरमें भी यह जीवभास ही है।

तो, नारायण! केवल अपने सम्प्रदायके संस्कारसे संस्कृत अन्त:करणके द्वारा इसकी आप कल्पना ही कर सकते हो कि आदिमें बैल है कि बकरा है कि हाथी है कि घोड़ा है। केवल कल्पना ही कर सकते

हो। लेकिन; विचारमें अपने संस्कारका परित्याग करना पड़ता है। यह इसलिए कि आपके विचारका आधार पक्का हो जाय।

अनुभवकी जो अन्तिम भूमि है, वह अपना आत्मा है। 'ब्रह्म' यदि 'वह' है तो 'वह ब्रह्म है' यह प्रतीति और ब्रह्मकी सत्ता और ब्रह्मकी स्फूर्ति-दोनों अपने आपसे मिलेगी। हम नहीं होंगे तो ब्रह्म प्रतीत किसको होगा? 'ब्रह्म है'-ऐसी वृत्ति किसको धारण होगी? तो कोई भी अनुभव, चाहे उसका ब्रह्म नाम रखो, ईश्वर रखो, माया रखो, प्रकृति रखो, जीव रखो, परमाणु रखो—यदि किसी भी वस्तुको अन्यके रूपमें तुम प्रतीत करते हो, तुम कल्पना करते हो तो उसकी सत्ता और उसकी प्रतीति दोनोंका आधार अपना आपा है।

अब प्रश्न यही है कि यह अपना आपा क्या है? दूसरा प्रश्न यह है कि जो मालूम पड़ता है, सो क्या है? क्यों है, नहीं! क्यों है, यह तो मतलबी लोगोंका सवाल है। आखिर यह हमारे किस काम आवेगा? और कैसे है—यह विज्ञानका प्रश्न है। यह चीज कैसे बनी! यह कौन है? हमारा दोस्त कि दुश्मन? यह व्यवहारके लिए जानना आवश्यक होता है। धातु क्या है? यह निष्काम जिज्ञासुका प्रश्न है। दोस्त है कि दुश्मन है—यह अलग बात है। प्यारा है कि प्यारी है—यह अलग चीज है। और, कैसे-कैसे इसका जन्म, कर्म बना है—यह दूसरा सवाल है और यह क्यों इस वेशमें आया है, यह दूसरा सवाल है। सवाल तो यह है कि यह है क्या? सोना है कि पीतल है? यह जो तसवीर दिख रही है, यह औरत है कि मर्द है—यह सवाल दूसरा है। हमारे मनोरंजनके लिए है कि हमको डरानेके लिए है—यह बात दूसरी है। कैसे बनी? सूतसे बनी कि लकड़ीसे बनी कि पत्थरसे बनी—यह सवाल दूसरा है। वेदान्तका प्रश्न धातुगत, तत्त्वगत प्रश्न है।

तो देखो, ज्ञेय और ज्ञाता—यह दो चीज बिलकुल व्यवहारमें सिद्ध हैं। ज्ञेयमें तीन हिस्सा है—एक तो चीजका वजन-द्रव्य, और एक उसमें लम्बाई-चौड़ाई और एक उसकी उम्र। तो, चार्वाकका कहना है कि यह

जो गुणी व्यक्ति है, इसीमें-से ज्ञान पैदा हुआ है। माने जड़से चेतनकी उत्पत्ति हुई है। जैनका कहना है कि द्रव्यसे चेतनकी उत्पत्ति तो नहीं हुई है। चेतन और जड़ दोनों सत्य हैं। परन्तु, स्थानमें चेतनकी स्थिति, गति होती है। वह स्वभावसे ऊर्ध्वगतिशील है। द्रव्यके साथ सम्बद्ध होकर यहाँ रहता है और जहाँ द्रव्यभावसे मुक्त हुआ, वह ऊर्ध्वाकाशमें ऊपरको चलता है। परन्तु, देशमें ही देशकी गोदमें वह कभी द्रव्यसे मिलकर रहता है और कभी द्रव्योंको छोड़कर बिलकुल निर्मल उज्ज्वल इकाईके रूपमें रहता है। देखो, हम यह केवल विवरण कर रहे हैं। उनके मतका खण्डन नहीं कर रहे हैं। कम-से-कम आप स्वयं विवेक करो कि क्या सत्य है और क्या झूठ है? विज्ञानवादी बौद्धोंका कहना है कि यह जो अनुभव स्वरूप आत्मा है, यह कालमें है। क्षण-क्षणपर नवीन विज्ञानकी उत्पत्ति होती है और संस्कार धारा चलती रहती है। जब अपनेको शून्य रूपसे जानते हैं, जब शून्य तत्त्वका साक्षात्कार होता है, असलमें तत्त्व शून्य ही है—तो यह विज्ञानधाराका उच्छेद हो जाता है।

न्याय-वैशेषिक कहते हैं कि ज्ञान और ज्ञाता-यह दो चीज हैं। दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता है। परन्तु, आत्मा ज्ञानका आश्रय है। वह ज्ञान स्वरूप नहीं है। तो इसमें स्वप्रकाश, आश्रयप्रकाश, पराधीनसत्ताक, स्वाधीन सत्ताक—ये भेद न्याय-वैशेषिकके दृष्टिकोणसे हैं। इसीसे आत्माको उन लोगोंने द्रव्य माना है और ज्ञानका आश्रय माना है। तो देखो, आत्मा ज्ञाता होगा, आत्मा कर्त्ता होगा और आत्मा भोक्ता होगा और फिर आत्मामें व्यष्टि-समष्टिका भेद होगा। कर्मेन्द्रियोंसे युक्त है आत्मा, इसलिए कर्मका कर्त्ता होगा। ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त है आत्मा, इसलिए ज्ञानका कर्त्ता ज्ञाता होगा और मन आदिसे युक्त है, अतएव यह भोक्ता भी होगा। तो आत्मा कर्त्ता है, भोक्ता है, ज्ञाता है, अनेक है और इस सारी सृष्टिको बनानेवाला परमात्मा कोई दूसरा है।

वैसे वैशेषिक भी दो तरहका है—नास्तिक वैशेषिक और आस्तिक वैशेषिक।

हमारे सांख्ययोगका कहना है कि आत्मा स्वयं प्रकाश है—यह बात बिलकुल ठीक है। परन्तु, इसे प्रकाशित करनेके लिए स्तर चाहिए। तो गुणसत्ता भी मुख्य है और ज्ञातृसत्ता भी मुख्य है। परन्तु स्वयं प्रकाश होने पर भी स्वावभासक होने पर भी यह अनेक है।

हमारे पूर्वमीमांसक कहते हैं कि जब बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदिसे युक्त होता है आत्मा तब तो वह प्रकाशनेका काम करता है और जब इनके सम्बन्धसे मुक्त होता है, तब प्रकाशनेका काम नहीं करता है। इसलिए, जैसे जुगनू प्रकाशरूप है और जब वह पंख समेट लेता है तब चमकता नहीं है और जब पंख फैला देता है तब चमकता है, ऐसे ही यह जो प्रकाश स्वरूप जो आत्मा है उसका द्वैत सम्बन्ध विलय होता है, द्वैतका लोप नहीं होता। जैसे सुषुप्तिमें रहकर भी जाग्रत्के विषयोंको प्रकाशित नहीं करता, वैसे समाधिमें रहकर भी वह विषयोंको प्रकाशित नहीं करता। तो प्रकाशित करना भी उसका स्वभाव है और प्रकाशित न करना भी उसका स्वभाव है। यह प्रकाशाप्रकाश रूप है।

अब वेदान्तियोंकी बात देखो! वेदान्तियोंका कहना है कि कोई भी ज्ञेय जब होगा तो वह अपनी सत्ता और अपने प्रकाशके लिए ज्ञाताकी सत्ताके अधीन होगा। किसी भी दूसरी वस्तुकी प्रतीति अपने ज्ञातासे होगी और किसी भी वस्तुकी सत्ता ज्ञाताकी सत्तासे ही होगी। इसलिए, ज्ञेय जो है, उसकी सत्ता पराधीन है और ज्ञाताकी सत्ता स्वाधीन है। जहाँ मीमांसक लोग कहते हैं कि आत्मा, अपनेको भी प्रकाशता है और दूसरेको भी प्रकाशता है, वहाँ वेदान्तियोंका कहना है कि आत्मा स्वयं प्रकाश है, यह ठीक है। परन्तु, अपने प्रकाशके लिए इतर प्रकाश निरपेक्ष है माने अपनेको प्रकाशित करनेके लिए उसको दूसरे प्रकाशकी जरूरत नहीं है—इतना ही स्वप्रकाशताका अर्थ है। वह अपने आपको प्रकाशित करता है, यह उसका अर्थ नहीं है। और, मीमांसक लोग कहते हैं कि अपनेको भी प्रकाशित करता है और दूसरेको भी प्रकाशित करता है। वेदान्ती लोग कहते हैं कि जो कुछ दूसरा प्रतीत हो रहा है, वह आत्मसत्तासे ही

प्रकाशित हो रहा है। परन्तु, आत्मसत्ता स्वयंप्रकाश होने पर भी अपना भी प्रकाश्य नहीं है। तो अवेद्य होकर अपरोक्ष होना, यह स्वयंप्रकाशता है। अवेद्य होकर माने जैसे घट, पटादि जाने जाते हैं, ऐसे आत्मा जाना नहीं जाता। अपना आपा अपने आपको जानता है—यह बात नहीं। यह तो है, ज्ञानस्वरूप है, अनुभव-स्वरूप है। अपने आपमें द्रष्टा और दृश्यका भेद नहीं है। अपने आपमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं है।

असलमें ज्ञेय मिथ्या है। क्योंकि, जिस द्रष्टाकी दृष्टिमें यह दृश्य भास रहा है, उस दृष्टिमें न ज्ञेय वस्तु है, न ज्ञेयका देश है, न ज्ञेयका काल है। अपने अभावके अधिष्ठानमें ही यह ज्ञेय वस्तु भास रही है। इसलिए, जिस चेतन अधिष्ठानमें, जिस चेतन प्रकाशसे यह प्रकाशित हो रही है, उस चेतन अधिष्ठानमें, उस चेतन स्वयं प्रकाशमें यह ज्ञेय सत्ता बिलकुल बिना हुए ही प्रकाशित हो रही है। तो देशमें पूर्ण होनेसे यह व्यापक नहीं है। बल्कि, देशका बाध होनेके कारण, देश मिथ्या होनेके कारण यह देशसे अपरिच्छिन्न है। यह अपरिच्छिन्नता ही इसकी पूर्णता है। यह कालमें हमेशा रहनेके कारण नित्य नहीं है। बल्कि, काल उसमें बाधित है। काल और कालाभाव दोनोंका यह अधिष्ठान है और जब एक ही वस्तु और उसके अभावका अधिष्ठान होता है माने अपने अभावके अधिष्ठानमें ही जब वस्तु प्रतीत होती है तो वह मिथ्या होती है। इसलिए, ज्ञेय मिथ्या है प्रतीत होता हुआ भी और उस ज्ञेयकी अपेक्षासे जो ज्ञाता-पना है, वह आपेक्षिक ज्ञातापना भी मिथ्या है। इसलिए, अनेक ज्ञाता नहीं है, अनेक द्रष्टा नहीं हैं। इसमें व्यष्टि-समष्टिका भेद नहीं है, कार्य-कारणका भेद नहीं है, ज्ञान-अज्ञानकालका भेद नहीं है। एक ही स्वयंप्रकाश आत्मचैतन्य अद्वितीय ज्यों-का-त्यों प्रकाशित हो रहा है।

तो 'एको विशुद्ध'—'एक' माने अद्वितीय और 'विवेक' माने ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित। तो ज्ञेयको तो आप सम्पूर्ण रूपसे मिथ्या जान सकते हैं; परन्तु ज्ञाताको आप सम्पूर्ण रूपसे मिथ्या नहीं जान सकते। क्यों नहीं जान सकेंगे? ज्ञाताको मिथ्या जाने तो जाने कौन? इसलिए, ज्ञाताका

जो परमार्थरूप है, वह अबाधित अद्वितीय ब्रह्म है और ज्ञेय जो है, वह सर्वथा बिना हुए ही भास रहा है। ज्ञेयका परब्रह्म परमात्मामें बाध सामानाधिकरण्य है और ज्ञाताका ज्ञातृत्व स्वरूपेण बाध सामानाधिकरण्य है और परमार्थ रूपसे वह ब्रह्म है। तो 'विशुद्ध बोध'का अर्थ हुआ कि भेदके संस्पर्शसे रहित, सम्पर्कसे रहित, भेदके अभावका अधिकरण होनेसे भेद जिसमें मिथ्या—ऐसा विशुद्ध बोध!

एक बार, केवल एक बार !

भेदरूप अशुद्धिसे रहित जो बोध है, वह बोध अद्वितीय और वह मैं हूँ—यह निश्चय जहाँ हुआ, आप समझ लो कि देह और देहके सम्बन्धियोंमें जो मैं-पना है सो और जो पूर्व और उत्तरका पुनर्जन्मका सम्बन्ध है सो और जो नरक-स्वर्गका सम्बन्ध है सो और जो पाप-पुण्य, सुख-दुःखका सम्बन्ध है सो और जो परिच्छिन्नता है सो—ये सब अपने स्वरूपके अज्ञानसे है और यह अज्ञान नाती-पोते सहित बढ़कर एक जंगलके रूपमें बन गया है, जिसमें ऐसा लगता है कि हम भटक गये हैं, तो निश्चयकी आगसे इस अज्ञानके जंगलको भस्म कर दो। निश्चयका स्वरूप क्या होगा? निश्चयका स्वरूप यह होगा कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता, दानव, मैं प्रतीयमान किसी भी वस्तुसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं। मैं एक, अद्वितीय शुद्धज्ञान स्वरूप परब्रह्म परमात्मा हूँ। यह निश्चय जहाँ उदय हुआ और ऐसा नहीं है कि हर समय यह निश्चय बना रहे। निश्चय तो एक बार होता है।

अच्छा देखो, 'मैं मनुष्य हूँ'—यह निश्चय आपका कबतक बना रहता है? आप याद करके बताओ कि आप कितनी देर तक आप याद रखते हैं कि मैं मनुष्य हूँ। अच्छा, मनुष्यकी बात छोड़ो। मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ—चौबीस घंटेमें कितनी देर यह याद रखते हैं? याद न रहनेसे क्या कोई असलियत मिट जाती है? अच्छा, आप धनी हैं या गरीब हैं—

यह बात कितनी देर याद रहती है? लेकिन हैं, सो तो हैं ही हैं न! सत्य जो है, वह स्मृति और विस्मृतिके साथ बद्ध नहीं रहता है। यदि विस्मृतिसे सत्यका नाश हो जाता है तो सुषुप्तिमें आपका नाश हो जाना चाहिए। तो, नारायण! मैं मनुष्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ—आपको यह जप करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। क्योंकि, आपका बिलकुल दृढ़ निश्चय है कि मैं मनुष्य हूँ। तो जैसा निश्चय आपका अपनी मनुष्यताके सम्बन्धमें है, वैसा ही निश्चय अपनी ब्रह्मताके सम्बन्धमें हो जाय! एक बार, केवल एक बार!!

कल्पना ही कर लें !

क्या आपने जानबूझकर अपनेको ब्राह्मण माना है, क्षत्रिय माना है? क्या आपने जानबूझकर अपनेको पापी-पुण्यात्मा, कर्त्ता माना है? क्या आपने नरक-स्वर्ग देखकर अपनेको नारकी, स्वर्गी माना है? क्या आपने अपनेको आते-जाते देखकरके आने-जानेवाला माना है? क्या आपने अपनेको परिच्छिन्न देख करके परिच्छिन्न माना है? और यदि आपने अपनेको परिच्छिन्न देखा, तो जिस परिच्छिन्नको आपने देखा-उसको देखनेवाले आप उससे न्यारे हैं। घड़ेको देखनेवाला परिच्छिन्नसे न्यारा। बोले कि नहीं जी, हमने बिना अपनी परिच्छिन्नताको देखे ही अपनेको परिच्छिन्न मान लिया है। तो नारायण, ठीक है! हम कहते हैं कि आप अपनेको ब्रह्म देखे बिना ही थोड़ी देरके लिए ब्रह्म मान लीजिये। इसको ध्यान बोलते हैं, इसको उपासना बोलते हैं। थोड़ा-थोड़ा दोनोंमें अन्तर होता है। तो आप कल्पना भर कर लीजिये कि मैं अद्वितीय परमात्मा हूँ। तो देखो, आपका इस देह और देहके सम्बन्धियोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आपका इसके पाप-पुण्य, सुख-दुःख, जाने-आनेके साथ बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। आपमें न कहीं प्रकृति है, न प्रकृतिपतित्व है, न माया है और न मायापतित्व है। न आपमें व्यष्टि है, न कार्य है, न कारण है। आप देखेंगे कि संसारके जितने दुःख हैं, वह केवल कल्पना करके देख लीजिये कि मैं, अद्वितीय ज्ञान स्वरूप ब्रह्म हूँ। मैं अखण्ड, अद्वितीय

चेतन हूँ। आपने कल्पना करके अपनेको दु:खी किया है और कल्पना करके यह दु:ख मिटा दीजिये। कल्पनाको काटनेके लिए कल्पना भी काफी होती है।

लेकिन, यदि आप केवल कल्पना ही न करें और उसका ज्ञान प्राप्त कर लें कि यह जो आत्मा है, अपना आपा—इसमें तो परिच्छिन्नता देखी हुई है ही नहीं। आप देख लीजिये न! शब्द-प्रमाणसे तत्त्वमस्यादि महावाक्यके द्वारा एक बार अपरिच्छिन्नताका बोध हो जाने दीजिये और फिर दुबारा बोधकी कोई जरूरत नहीं रहती है।

तो; असलमें संसारके सारे दु:ख हैं, उसमें कुछ देहके दु:ख हैं, कुछ रिश्तेदार-नातेदारके दु:ख हैं और कुछ देहको मौजसे रखनेके लिए जो चीजें चाहिए उनका दु:ख है, कुछ उनके पाप-पुण्यका दु:ख है, कुछ मैं-में होनेवाले सुख-दु:खका दु:ख है, कुछ नरक-स्वर्गके डर और लोभका दु:ख है, कुछ अगले जन्मका दु:ख है, तो कुछ पिछले जन्मका दु:ख है। जहाँ आप अपनेको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें जानेंगे, यह अज्ञानके कारण होनेवाले सारे-के-सारे दु:ख मिट जायेंगे। कर्मका सम्बन्ध लेकर, आसक्तिका सम्बन्ध लेकर, विचारका सम्बन्ध लेकर, शान्तिका सम्बन्ध लेकर आप अपने आपको दु:खी बनाये हुए है। **वीतशोकः**—छोड़ दो, इस शोकको छोड़ दो। नहीं है तुम्हारे अन्दर शोक! तुम परमानन्द स्वरूप हो!!

●

प्रवचन : 13

यह विश्व क्या है?

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर॥ 1.10

'इदं विश्वं'—यह विश्व। 'विश्व' माने सर्व। 'विश्व' शब्द सर्वका पर्याय है। हिन्दीमें 'सब' शब्द बोलनेका जो अर्थ निकलता है, वही संस्कृतमें 'विश्व' शब्द बोलनेका अभिप्राय निकलता है। तो यह विश्व क्या है? जो इदंतया भासता है। यह.....यह.....यह। एक तो इन्द्रियोंके द्वारा बोलते हैं 'यह' और एक बुद्धिमें स्थित पदार्थको भी 'इदं' बोलते हैं। जब बुद्धिमें किसी चीजकी कल्पना करके बोलते हैं—*इदं निराकृति तत्त्वं*—यह एक निराकार तत्त्व है, *इदं साकृति तत्त्वं*—यह एक आकार सहित तत्त्व है, तो यह बुद्धिके ही दो रूप होते हैं। बुद्धिमें ही कल्पित निराकार और कल्पित साकार—दोनों बुद्धिस्थ होते हैं। इसलिए, वे भी 'इदं' प्रत्ययके ही विषय हैं। नारायण! चाहे निराकार हो चाहे साकार!

निराकार साकार रूप धरि, आयो कई एक बारा।
सपने ह्वै ह्वै मिट गए, रह्यो सार को सारा॥

बुद्धिमें कभी निराकार आता है, कभी बुद्धिमें साकार आता है। कभी बुद्धिमें अन्धकार आता है, कभी बुद्धिमें प्रकाश आता है। कभी बुद्धि सोती है और कभी बुद्धि जागती है। जो आता है सो जाता है। परन्तु, इदंतया। कौन मोटरमें गया और कौन विक्टोरियामें गया और कौन पैदल गया—यह तो महाराज झरोखेमें बैठे तुम देख रहे हो और सड़क पर

सवारी निकल रही हैं। मनमें कभी निराकार, कभी साकार, कभी मैं, कभी तू, कभी यह, कभी वह, कभी दोस्त और कभी दुश्मन आया और कभी गया। यह कैसा है? यह ऐसा है कि जैसे किसीके मनमें साँप हुए बिना साँपकी कल्पना हो जाय। न साँप रस्सीमें है और न साँप देखनेवालेमें है। द्रष्टामें तो साँप है नहीं और रस्सीमें भी साँप नहीं और सर्पाकारवृत्ति हो रही है। कहाँ है, बताओ! तो यह जो प्रपंच दिख रहा है, यह अपने अद्वितीय अधिष्ठानमें नहीं है। इसकी मुक्ति है। आप इस बातको समझ सकते हैं।

अच्छा, यह जो दुनिया दिखती है, यह अपने अधिष्ठानके पूरे हिस्सेमें दिखती है कि एक हिस्सेमें दिखती है? तो यदि इसका एक हिस्सा होगा तो अद्वितीय होगा ही नहीं। अनन्त होगा ही नहीं। अनन्त अधिष्ठानमें शान्तका दिखना, मिथ्या है। चेतन अधिष्ठानमें जड़का दिखना, मिथ्या है। निराकारमें साकारका दिखना, मिथ्या है। तो यह दुनिया ऐसी जगह दिख रही है, जिसका ओर-छोर नहीं है। अत: उसमें ओर-छोर वालेका दिखना मिथ्या है। अनादिमें सादिका दिखना मिथ्या है। आत्मामें अनात्माका दिखना मिथ्या है। अपने अभावके अधिकरणमें किसी भी वस्तुका दिखना मिथ्या है। तब यह कैसा दिख रहा है? बोले कि **रज्जुसर्पवत्।**

अच्छा देखो, रस्सीमें तो साँप नहीं है और आपमें साँप नहीं है और आपके मनमें साँप दिख रहा है। अच्छा, आपके मनमें जो साँप है, उसमें कोई आत्मा है क्या? वह फन फुफकार कर काटना चाहता है और जैसे आपके मनमें साँप हिलता-डोलता है, तो उस साँपमें आपसे अलग कोई आत्मा है क्या? अच्छा, उसको बनानेवाला कोई दूसरा ईश्वर है क्या? उसको बनानेके लिए कोई अन्य प्रकृति उपादान है क्या? जो आपके मनमें है, उस सर्पका उपादान प्रकृति है क्या? अच्छा, उसका कोई बाप है क्या? उसकी लम्बाई-चौड़ाई है क्या? वह सौ वर्षका पुराना है क्या? वह विषैला है कि निर्विष है? नारायण कहो! जो देखनेवाला है, जिस मनमें

वह साँप दिखायी पड़ रहा है, उस मनकी जो आत्मा है, उस मनका जो द्रष्टा है, उस मनका जो अधिष्ठान है, वही साँपका भी अधिष्ठान है, साँपकी भी आत्मा है और साँपका भी प्रकाशक है। जो वृत्त्यावच्छिन्न चैतन्य है, वही सर्पावच्छिन्न-चैतन्य है।

तो नारायण, यह जो विश्व दिखायी पड़ रहा है, यह कैसा? यही बिना हुए मनमें दीखनेवाले साँपके समान इस विश्वका कर्ता, इस विश्वकी प्रकृति, इस विश्वका बीज, इस विश्वकी आकृति, इस विश्वकी लम्बाई-चौड़ाई, इस विश्वकी उम्र, इस विश्वका आत्मा—कुछ भी हमारे आत्मासे बिलकुल निराला नहीं है। यह तो जब आप अपने देहके घेरेमें बैठकर देखते हैं तो सब अलग मालूम पड़ता है और अपनेको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त चेतनके रूपमें देखें तो कुछ अलग नहीं।

सुखन् चर !

अब? बोले कि 'आनन्द परमानन्दः'। तुम किसी जेलमें कैद नहीं हो। देश न होनेसे आप जेलमें कैद नहीं हो सकते और काल न होनेसे तुम्हारी मृत्यु नहीं। न आपकी जात है, न पात है। न आपमें पाप है, न पुण्य है। न आपमें सुख है, न दुःख है! न आपमें नरक है न स्वर्ग है। केवल अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही यह सारी-की-सारी फँसावट है। तो कैद नहीं आपमें, जाने-आनेका झगड़ा नहीं आपमें, जन्म-मरणका झगड़ा नहीं आपमें, पाप-पुण्यका झगड़ा नहीं आपमें, सुख-दुःखका झगड़ा नहीं आपमें, स्वाधीनता-पराधीनताका झगड़ा नहीं आपमें! आप तो बिलकुल एक अद्वितीय **आनन्द परमानन्दः**—*आनन्दाऽपि परमानन्दः।* दुनियामें कोई भी आनन्द हो सकता है। आप समझ सकते हैं कि इसको यह आनन्द है, यह आनन्द है। परन्तु, यदि दुनियामें आनन्द है, तो आप परमानन्द हैं।

जैसे 'मधुर-मधुर' बोलते हैं, 'ललित-ललित' बोलते हैं यही परम है। आप किसी चीजको देखते हैं तो आँखसे आनन्द उसमें डालते हैं। आप किसी चीजको छूते हैं तो हाथसे आनन्द उसमें डालते हैं। आप

किसीके बारेमें बोलते हैं तो अपनी जीभसे आनन्द उसमें डालते हैं। आप किसीके बारेमें सोचते हैं तो अपने दिल-दिमागसे आनन्द उसमें डालते हैं। रसको रस बनानेवाले आप हैं। आनन्दको आनन्द बनानेवाले आप हैं। चेतनको चेतन बनानेवाले आप हैं। ज्ञानको ज्ञान बनानेवाले आप हैं। सत्यको सत्य बनानेवाले आप हैं।

आनन्द परमानन्दः स बोधस्त्वं सुखन् चर॥ 1.10

केवल आनन्द-ही-आनन्द नहीं। आनन्द बोध स्वरूप आप! इसलिए 'सुखन् चर'—सुखसे विचरो। सुखसे विचरो माने जो तुम्हारा व्यवहार है, वह सुखरूप व्यवहार है। तुम्हारा खाना सुख, तुम्हारा चलना सुख, तुम्हारा बोलना सुख, तुम्हारा सोना सुख। तुम स्वयं दुःख मत बनो और दुःखदायी मत बनो। सुखरूप बनो। जिससे मिलो, उसको निहाल करते चलो। सुख देते चलो, सुख देते चलो! तुम्हारा सुख स्वरूप है। सहज स्वभावसे ही जैसे सूर्यमें-से प्रकाश निकलता है, अग्निमें-से ताप निकलता है, वायुमें-से प्राण निकलता है, जलमें-से रस निकलता है, पृथिवीमें-से स्वाद निलकता है, इस तरहसे तुम्हारे स्वरूपमें यदि व्यवहार है तो वह परमानन्द स्वरूप व्यवहार है, वह ज्ञानस्वरूप व्यवहार है, वह सत् स्वरूप व्यवहार है। 'सुखन् चर'। आनन्दमें मग्न रहो और आनन्दमें विचरण करो।

मनकी करामात

हमको कई चीजें ऐसी दिखायी पड़ती है जो अब नहीं हैं, पहले कभी देखी गयी हैं और अब नहीं दिखायी पड़ती हैं। तो वह मानसिक होती हैं। और, आगे ऐसा हो जायगा—ऐसा सोचते हैं और ऐसा ही दीखने लगता है। तो यहाँ न होय और दीखे, अब न होय और दीखे, यह न होय और दीखे। तो यह जो संसार दिखायी पड़ रहा है, यदि गौरसे देखो तो तुम्हारे मनमें न दुनिया अब है, न भीतर है और न पीछे है। अगर तुम संसार होते तो मन शान्त हो जाने पर संसार दीखता। पर, मन शान्त हो जाने पर तुम तो रहते हो और संसार नहीं रहता। अच्छा, मनमें तुम्हें

कलकत्ता दिखायी पड़ता है, परन्तु जहाँ भीतर कलकत्ता दिखायी पड़ता है उस समय भी नहीं है। तो कहीं-न-कहींसे आपको यह बात मालूम पड़नी चाहिए कि इस समय हृदयके भीतर जिस वस्तुका अनुभव हो रहा है, वह इस समय हृदयके भीतर इस रूपमें नहीं है। प्रत्येक अनुभवका यही स्वरूप है।

जैसे—स्त्री-पुरुष बाहर बैठे हैं। परन्तु, उनका अनुभव कहाँ हो रहा है? उनका अनुभव भीतर हो रहा है। भीतर तो वे नहीं है। आँख बन्दकरके देखो तो इस समय ये भीतर मनमें दिखायी पड़ते हैं। तुम्हारा मन स्त्री-पुरुष नहीं है और स्त्री-पुरुष दिखायी पड़ता है। तो यह मनकी ही खुराफात है। मनने ही यह उपद्रव मचा रखा है कि यह दुनिया दिख रही है। और, संसारका कुछ भी देखो तो उसके साथ दुःख मिला हुआ है। झूठ ही कल्पना करते हैं कि भोजनमें सुख है, माला पहननेमें सुख है, सम्बन्धमें सुख है, स्त्री-पुरुषमें सुख है। यह सब आदत पड़ गयी है उनके भोगकी। इसलिए सुख मालूम पड़ता है। विरक्तको इनमें सुख नहीं दिखता। कहो कि विरक्त पागल होता है। तो वह पागल नहीं, वह तो बड़ा समझदार होता है। वह तो इतना चालाक होता है कि दुनियादार लोग उसके लिए हाय-हाय करके छाती पीटते हैं तो वह उन छाती पीटनेवालोंको देखकर हँसता है। तो नारायण, वह तो बड़ा ही चतुर होता है। जिसको दुनियादार लोग दुःख समझकर रो लेते हैं उसको वह अपने मनोरंजनका साधन समझ लेता है। बच्चेकी जैसे बेवकूफी देखकर बड़े लोग हँस लेते हैं, ऐसे ही संसारी लोगोंकी बेवकूफी देखकर बुद्धिमान विरक्त हँसते हैं।

दुःख क्यों?

तो, दुनियामें पहला दुःख तो यह है कि हम शरीरको 'मैं' और 'मेरा' समझ करके, इसमें अपनेको कैद करके इसीके रिश्तेदार-नातेदार, इसीकी प्राप्ति, इसीके उपयोगमें, भोगमें संलग्न रहते हैं। असलमें दुःख तो

यह देहके साथ बन्धन ही है। दूसरे अठारह दुःखोंकी गिनती एक साथ कर देते हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन—ये दुःख बनाते हैं और पाँच विषयोंमें दुःख बनता है और पाँच इन्द्रियोंमें से जो प्रत्यक्ष होता है, उसमें सुख-दुःख बनता है और मनसे मानस प्रत्यक्ष और मानस विषय—ये सुख-दुःख बनाते हैं।

तो, नारायण! मन, मानस विषय और मानस प्रत्यक्ष—तीन ये हो गये और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच विषय और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके प्रत्यक्ष—ये पन्द्रह हो गये। तो तीन और पन्द्रह, ये अठारह हो गये और शरीर सहित उन्नीस हो गये और संसारमें एक सुख और एक दुःख। ऐसा कोई सुख नहीं है, जिसके पीछे दुःख न हो और ऐसा कोई दुःख नहीं है, जिसके पीछे सुख नहीं आवे। तो ये इक्कीस प्रकारका दुःख संसारमें लगा हुआ है—ऐसा हमारे नैयायिक लोग मानते हैं।

यह दुःख क्यों होता है? जन्मके साथ अपना सम्बन्ध है। जबतक जन्मके साथ सम्बन्ध रहेगा, तबतक कुछ-न-कुछ दुःख रहेगा। जन्म क्यों हुआ है? प्रवृत्तिके कारण हुआ है। पाप और पुण्यमें प्रकृति होती है। प्रवृत्ति क्यों हुई। बोले कि राग-द्वेष आदिके दोष क्यों हुए? बोले कि अविद्याके कारण हुए। 'अविद्या' माने नासमझी। तो सम्पूर्ण दुःखका मूल नासमझी है—यह हमारे न्याय-वैशेषिकका सिद्धान्त है।

अब एक तो महाराज आदमी दुःखी है और दूसरे उसको नासमझ और बता दो! वह तो उसका बड़ा भारी अपमान हुआ। वह तो बेचारा रो रहा है और तुम कहते हो कि नासमझ है। असलमें जो दुःखी है वह नासमझ है और जो नासमझ है, वह अविद्याके कारण है। 'अविद्या' माने नासमझी। तो सम्पूर्ण दुःखका मूल नासमझी है—यह हमारे न्याय वैशेषिकका सिद्धान्त है।

अब एक तो महाराज आदमी दुःखी है और दूसरे उसको नासमझ बता दें तो वह तो उसका बड़ा भारी अपमान हुआ। वह तो बेचारा रो रहा है और आप कहते हो कि नासमझ है, नासमझ है। क्या नासमझ उसको

कहें ? असलमें जो दुःखी है, वह नासमझ है और जो नासमझ है, वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ गया है। सदंशमें जन्म-मरण, चिदंशमें नासमझी और आनन्दांशमें दुःख और अद्वयमें द्वैतकी कल्पना करके ये महाराज दुःखी हो रहे हैं। दुःखी होनेका और कोई कारण ही नहीं है। इसका अन्वय-व्यतिरेक है। जब-जब आप दुःखी हैं, तब-तब आप अविद्यावान् है और जब अविद्यावान् हैं, तभी तक दुःखी हैं। अविद्याके साथ दुःखका अन्वय-व्यतिरेक है। जहाँ दुःख है, वहाँ अविद्याका अन्वय है और जहाँ अविद्या नहीं है, वहाँ दुःख नहीं है। इसलिए, अविद्या और दुःख, अचित् और दुःख, अचित् और असत्—ये एक हैं। सुख-दुःखका जो तात्त्विक विवेक है, वह बड़ा मजेदार है।

जबतक दो-चार व्यक्ति अपने सामने न पड़ें, तबतक अपनी विशेषता भी नहीं मालूम पड़ती है। जब छोटी-छोटी बातके लिए लोगोंको गुस्सा आता है, छोटी-छोटी बातके लिए कामनासे आक्रान्त होते हैं, छोटी-छोटी बातके लिए लोभसे, मोहसे ग्रस्त होते हैं, तब महात्माओंको अपनी ब्रह्मविद्याका जो महत्त्व है, वह स्पष्ट रूपसे स्फुरता है।

अच्छा, आपको दुःख किस बातका है ? आपको जैसा भोग मिल रहा था, वैसा अब नहीं मिल रहा है, यही न ! अच्छा, आगे जैसा चाहते हैं, वैसा नहीं मिल रहा है। महाराज, अब क्या सुख है ? पहले बहुत सुख भोग चुके हैं। यह पहलेका सुख याद आ-आकर आपको दुःखी कर रहा है और जो सुख पैदा ही नहीं हुआ, उसकी याद कर-करके आप दुःखी हो रहे हैं।

हमारे एक सेठ स्टेशन पर मोटर लेकर स्वागत करनेके लिए गये। हमने कहा कि सेठजी, आपकी मोटर बहुत अच्छी है। वे बोले कि महाराज, आप क्या कहते हैं ? हम पहले लाख रुपयेकी मोटर पर चलते थे और अब तो दस हजारकी मोटर पर चलना पड़ रहा है ! यह देखो ! वे लाख रुपयेवाली मोटरको अब याद करके दुःखी हो रहे हैं !

तो, नारायण ! पहले जैसा भोग नहीं मिल रहा है, उसके लिए दुःख

है। सुख जैसा आगे हम चाहते हैं, वैसा नहीं मिल रहा है—इसके लिए दुःख है। बड़ी मोटरका, बड़े मकानका, बड़े पैसेका जो अभिमान था अपनी बड़ी-बड़ी मूँछोंका, चेहरेका, स्वास्थ्यका जो अभिमान था—वह अभिमान करनेवाले जो वस्तुएँ थीं वे अब नहीं हैं—इसलिए दुःख है। किसी चीजकी आदत पड़ गयी है, वह अब नहीं मिलती है—इसका दुःख है। यह सब दुःख क्यों हैं? देखो, आप अपनी ओर नहीं देखते हो, दूसरेकी ओर देखते हो! अच्छी-सी साड़ी पहने हुए एक औरत जब बाजारमें चलती है और अपनेसे अच्छी साड़ी पहने हुए जब किसी दूसरी औरतको देखते हो तो उसको अपनी साड़ी भूल जाती है। ऐसे ही महाराज, यह संसारका जो दुःख है, यह बिलकुल मानसिक है।

आप अपनी महिमाको भूल करके अपने महत्त्वको भूल करके रज्जु-सर्पवत् कल्पित जो प्रपंच है, उसमें भटक रहे हो। जैसे रस्सीमें साँप नहीं है। पर, पीछे कहीं देखा हुआ साँप याद आकरके और सच्चा बनकर भय उत्पन्न कर रहा है। संस्कारजन्य है। अज्ञान-जन्य है। क्योंकि, आप देख रहे हो कि आपके हृदयमें साँप नहीं है और रस्सीको जो देख रहे हो, इसमें भी साँप नहीं है। वह तो आपके मनमें आयी हुई जो रस्सी है, वहाँ रस्सी नहीं, साँप है। वहाँ तो रस्सी भी नहीं है, आपके मनमें साँप ही आया है। ऐसे ही यह सृष्टि दिखायी पड़ रही है। इसका आदि भी ऐसा ही है, इसका अन्त भी ऐसा ही है, इसका मध्य भी ऐसा ही है। तो यह दुःख जितना है, यह सब-का-सब मानसिक है।

सुख-दुःख मीमांसा

अच्छा लो, दुःख तो हम चाहते ही नहीं! सुख तो चाहते हैं? तो सुखकी बात देखो! 'सुख' उसको कहते हैं, जिसको चाहनेके लिए कोई इच्छाकी परम्परा न हो। आप यह बात ध्यानमें लें। *'इतर इच्छा नद्धि, इच्छा विषयत्वं।'* जैसे—आपको सुख चाहिए तो इष्टकी इच्छा हो पहले कि वह कहाँसे मिले? बोले कि वह स्त्रीसे मिले, कपड़ेसे मिले, नौकरसे

मिले, मकानसे मिले। तो सुखकी इच्छाके अधीन अन्यकी इच्छा हुई। दूसरेकी स्वाभाविक इच्छा नहीं रही। स्त्रीकी इच्छा स्वाभाविक नहीं है, पुरुषकी इच्छा स्वाभाविक नहीं है, धन-दौलतकी इच्छा स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक तो है, सुखकी इच्छा। और, उसकी पूर्तिके लिए उपायके रूपमें धनकी, मकानकी, स्त्री-पुरुषकी इच्छा होती है। तो सुखकी जो इच्छा होती है, वह उपायके रूपमें नहीं होती है। सुखके उपाय दूसरे होते हैं, परन्तु सुख किसीका उपाय नहीं होता। यह दर्शन-शास्त्रका विषय है। ध्यान देनेसे बात समझ आवेगी!

आप देखो, जैसे आप दुःखसे द्वेष करते हैं और शत्रुसे भी द्वेष करते हैं। तो दोनोंमें क्या फर्क है? शत्रु दुःखदायी है, इसलिए उससे द्वेष करते हैं। परन्तु, दुःखसे द्वेष क्यों करते हैं? दुःखसे स्वभाविक द्वेष करते हैं और शत्रुसे दुःखदायी होनेके कारण द्वेष करते हैं। तो जो स्वाभाविक द्वेषका विषय है, उसका नाम है दुःख, शत्रु नहीं और जो स्वाभाविक इच्छाका विषय है, उसका नाम है 'सुख', स्त्री, पुत्र, धन आदि नहीं। अच्छा, अब आपकी स्वाभाविक इच्छाका विषय कौन है? बोले कि 'सुख'। माने आपका स्वाभाविक प्रेम सुखसे है। आप भले जोशमें आकर मर जाओ!

समझदारीसे आप विचार करोगे तो आपका सच्चा प्रेम अपने आपसे है। यह प्रेम ज्ञान होनेपर रहता है कि नहीं रहता है? ज्ञान होने पर भी अपने आपसे प्रेम रहता है। अज्ञानकालमें अपनेको परिच्छिन्न समझते हैं, इसलिए अपने परिच्छिन्न आत्मासे प्रेम रहता है और ज्ञानकालमें अपने आपको ब्रह्मरूप जानते हैं, इसलिए ब्रह्म रूपसे प्रेम रहता है। बोले कि एक प्रेम हुआ और एक अपना आपा हुआ; तो द्वैतकी प्राप्ति हुई कि नहीं हुई? नहीं हुई। क्यों नहीं हुई? ज्ञान होनेके बाद जब एक घड़ा आपको दिखेगा तो उससे अद्वैतमें बाधा पड़ेगी क्या? मान लो अद्वैत ज्ञान होनेके बाद एक घड़ा दिखता है, एक मकान दिखता है, एक धरती दिखती है, तो उससे अद्वैत-सिद्धान्तमें बाधा होगी? नहीं होगी। अच्छा, ज्ञान होनेके बाद एक

सपना ही आगया, तो सपना क्या आपके अद्वैतज्ञानमें बाधा डाल देगा? नहीं डालेगा। क्यों नहीं डालेगा? विषम सत्ताक जो वस्तु होती है, वह बाधा नहीं डाल सकती। घटकी सत्ता व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। स्वप्नकी सत्ता प्रातिभासिक है, पारमार्थिक नहीं। तो जो अपना अद्वैत स्वरूप है, वह तो है पारमार्थिक और जो प्रेम है, वह है व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक। अच्छा चलो, व्यावहारिक भी नहीं है, प्रातिभासिक है। इसलिए वह अद्वैतमें कोई बाधा डालनेमें समर्थ नहीं है।

अब देखो, असली प्रेम आपका किसमें है? हमको पक्की बातें ऐसी बहुत मालूम है—स्त्री-पुरुषमें बहुत प्रेम था! परन्तु, वह अवैध था। माने समाजके द्वारा स्वीकार किया हुआ नहीं था। अब महाराज स्त्री तो पुरुषसे बहुत प्रेम करती थी। पुरुष भी स्त्रीसे बहुत प्रेम करता था। लेकिन किसीने देख लिया। देख लिया तो स्त्री चिल्ला पड़ी कि अरे, ये हमारे साथ जबरदस्ती कर रहे हैं! पुरुषने कहा कि नहीं-नहीं, हम जबरदस्ती नहीं कर रहे हैं। हम दोनों मिले हुए थे! हे भगवान्! तो जहाँ अपनी-दाढ़ीमें आग लगी, वहाँ स्वाहा! बंटाढार!! क्योंकि, प्रेम अपने प्रति स्वाभाविक होता है। आत्माके प्रति स्वाभाविक और दूसरेके प्रति गौण होता है।

तो, नारायण! अब देखो कि असलमें प्रेम होता किससे है? आनन्दसे प्रेम होता है। जहाँ-जहाँ आनन्द होता है, वहाँ-वहाँ प्रेम होता है। तो यदि अपना आत्मा आनन्द स्वरूप न होता तो अपने प्रति इतना निरुपाधिक, इतना स्वाभाविक प्रेम न होता! यह आत्मा आनन्द स्वरूप है, इसलिए अपने प्रति इतना प्रेम है। माँ-बापको छोड़कर रहते हैं, पति-पत्नीको छोड़कर रहते हैं, गुरु-शिष्यको छोड़कर रहते हैं। क्योंकि, अपनेको जैसे सुख मिले, ऐसे रहेंगे—यह बात व्यवहारमें देखनेमें आती है।

तो, न्याय और वैशेषिकके दृष्टिकोणसे संसारमें है दुःख और जहाँ दुःखाभाव होता है, तब हम बोलते हैं कि हमको बड़ा सुख मिला। सुख-

दुःख आत्मधर्म हैं। ऐसा कोई सुख नहीं होता, जिसमें दुःख नहीं है और ऐसा कोई दुःख नहीं होता जिसमें सुख नहीं है। सुख-दुःख दोनों एक साथ चलते हैं।

वेदान्तियोंकी बात अलग है। सांख्य और योग-दोनों दर्शन सुख और दुःखको एक कोटिमें मानते हैं। वे मानते हैं कि चित्तका धर्म है। जहाँ चित्तवृत्ति होती है वहाँ दुःख होता है, जहाँ चित्तवृत्ति होती है वहाँ सुख नहीं होता है। चित्तवृत्तिका निरोध हो जाने पर न सुख होता है, न दुःख होता है। सुख-दुःखका वृत्ति-निरोधमें अत्यय हो जाता है और द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

वेदान्ती लोग स्पष्टम्-स्पष्टम् यह कहते हैं कि आत्मा आनन्द स्वरूप है। आपने बहुत बार सुना ही होगा—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'रसो वै सः'
'रसो ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' एतस्य
'आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रां उपजीवन्ति'

ये आनन्द स्वरूप, परमानन्द स्वरूप आत्म देव हैं, इन्हींकी मात्राका उपजीवन करते हैं। जिस अंशमें धर्मजन्य वृत्ति पैदा होती है—धर्मजन्य वृत्ति क्या है? बोले कि एक बढ़िया काम किया—यज्ञ किया, दान किया, व्रत किया और उससे चित्तवृत्ति थोड़ी शान्त हुई और उस शान्त वृत्तिमें आत्म-सुखका जो प्रतिबिम्बन है वह धर्मजन्य वृत्ति है। वेदान्तियोंका मत यह है कि धर्म-जन्य सुख नहीं है। सुख स्वरूप तो आत्मा है। परन्तु, धर्मजन्य वृत्तिमें इसका प्रतिबिम्ब होता है। और, पापजन्यवृत्तिमें आत्मसुखका प्रतिबिम्बन नहीं होता। तो जब-जब अपने अन्दर सुख न मालूम पड़े, सुख है तो सही पर मालूम नहीं पड़ता; तो मालूम क्यों नहीं पड़ता? समझना चाहिए कि पापजन्यवृत्तिने ऐसा अन्धकार कर दिया है कि उसमें आत्मसुखका प्रतिबिम्बन नहीं होता। अधर्म-जन्य वृत्तिमें सुखका प्रतिबिम्बन होता है।

अब लो, आप दुःखी हैं क्या? दुःखी हैं! तो आपने कोई बुरा काम

किया है। क्या बुरा काम किया है? अभी तो हमने कोई बुरा काम नहीं किया है! अभी नहीं तो पहले किया होगा या आगे करनेका संकल्प होगा। जहाँ पाप करनेका संकल्प होता है, वहीं दुःख होता है। दुःखीपना पापीपनेका परिणाम है। पापका लिंग है। दुःख। 'लिंग' माने चिह्न। जैसे स्त्रीका चिह्न है, पुरुषका चिह्न है; वैसे पापका भी चिह्न है। पापका चिह्न क्या है? 'दुःख'।

दिन भर रोना, रात भर रोना और कहते हैं कि हमने तो कोई बुरा काम किया ही नहीं। बुरा काम नहीं किया तो खुश हो जाओ कि हम बुराईसे बचें हैं। बुराईसे बचना क्या सुख होना नहीं है? जब तुम बुराईसे बचे हो तो बुराईसे बचनेका सुख तुमको क्यों नहीं होता है? तुमने ब्रह्मचर्य पालन किया है, तुमने सन्तोष धारण किया है, तुमने गरीबको दान दिया है, तुमने कुआँ खुदवाया है, बगीचा बनवाया है, तुमने इतने बढ़िया-बढ़िया काम किये हैं, इतने लोगोंको सुख पहुँचाया है! तो इन अच्छे कामसे जो चित्तप्रसाद होता है, वह तुमको क्यों नहीं होता है? असलमें तुम तो सुख-स्वरूप हो! पर टोंटी बन्द है। पापने टोंटी बन्द कर दी है। नहीं तो सुख तो तुम्हारे भीतर है भरा! तुम तो रस स्वरूप हो न! *'रसो वै सः' रसो ह्येवायं लब्ध्वा आनंदी भवति 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'*। तुम्हारे भीतर तो रसका कुआँ है, तुम्हारे भीतर रसकी नदी है, तुम्हारे भीतर रसका समुद्र है! तुम स्वयं आनन्द, परमानन्द हो!

परमानन्द सरूप तू, नहिं तोमे दुःखलेश।

तो यह जो भरा-भरा परमानन्दका समुद्र है, उसकी टोंटी बन्द किसने कर दी? तुमने पाप किया। पाप किया माने अपने भीतर परमानन्द स्वरूप रहने पर भी दूसरेके घर चोरी करने गये कि वहाँसे ले आवेंगे। अपने घरकी टोंटी तो बन्द कर दी और दूसरेका पानी चोरी करनेके लिए गये। अब अपने घरका पानी कहेगा कि अच्छा भाई तुम वहाँसे लेकर आते हो तो हम घूमकर आते हैं! सो कभी मिलेगा, कभी नहीं मिलेगा।

तो दु:ख क्या है? अपने परमानन्द स्वरूप आत्माका तिरस्कार! दूसरेके घर उधार माँगनेके लिए जाते हैं। अरे भाई, मैंने तो सुना है कि तुम्हारे पास बहुत पैसा है। नहीं-नहीं-नहीं, मैं तो बिलकुल दरिद्र हो गया। आज खानेको नहीं है। तुम्हारे घर उधार माँगनेके लिए आया हूँ। देखो, अपने घर पैसा रहने पर अगर उधार माँगनेके लिए जाते हो तो तुम्हारे घर दरिद्रता आवेगी—सीधी बात है। साधु लोग भिक्षा माँगते हैं न! यह बहुत भारी तपस्या है। आज कलके बाबू लोग इस बातको नहीं समझते हैं। लेकिन; देखो साधुके पास भी यदि पच्चीस रुपये रखे हुए हैं और वह भिक्षा माँगने जायेगा तो वे पच्चीस रुपये उसके लिए पाप हो जायँगे।

तो तुम आनन्द स्वरूप, परमानन्द स्वरूप होकर, परमानन्द स्वरूपको अपनी अंटीमें लगाकर, गोदमें रखकर, अपने हृदयमें कैद करके और दूसरोंसे जब आनन्द माँगनेके लिए जाते हो तो यह पाप हो गया।

एक सेठके पास लाखों रुपये हैं और वह दूसरोंसे उधार लेता जा रहा है, लेता जा रहा है। क्यों लेता जा रहा है? बोले कि दिवाला निकालेंगे। तो उस बेईमानको सुख मिलनेवाला नहीं है।

तो, अपने जीवनमें बेईमानी क्या है? स्वयं तो हैं आनन्द स्वरूप, परमानन्द स्वरूप और दूसरोंसे सुख माँगते हैं। यह बेईमान जीवन है। स्वयं परमानन्द स्वरूप होकर दूसरोंसे उधार माँगनेके लिए जाते हैं, भीख माँगने जाते हैं, कर्ज लेने जाते हैं। दूसरोंके पास दीन-हीन बनकर जाते हैं। यही पाप है।

देखो, जबतक यह बात आप समझोगे नहीं कि हम परमानन्द स्वरूप हैं, तबतक आप सुखी नहीं हो सकते! सुखी होनेकी रीति यही है।

तो, नारायण! पहले आप अपनेको तौलो कि आप चाहते क्या हो? हमको तो सुख चाहिए। अच्छा, कैसा सुख चाहिए? अरे बाबा, हमको तो सुख चाहिए। ऐसा-वैसासे हमको कोई मतलब नहीं। लाल

सुख चाहिए कि काला सुख चाहिए कि पीला सुख चाहिए। हम ऐसा वैसा नहीं जानते हैं। हमको तो सुख चाहिए। तुम्हारे मुँहमें घी शक्कर! बहुत अच्छा। अच्छा भाई, अभी यहीं तुमको सुख दे दें कि वहाँ चलकर दें। बोले कि बाबा, हमको सुख चाहिए, यहाँ भी चाहिए और वहाँ भी चाहिए। तो जो यहाँ-वहाँ एक है, वह सुख चाहिए। अच्छा, अब चाहिए कि तब चाहिए? अब भी चाहिए, तब भी चाहिए। जो अब, तब एक है, वह सुख चाहिए। माने कालसे अपरिच्छिन्न और देशसे अपरिच्छिन्न सुख चाहिए। अच्छा, अंगूरका सुख चाहिए कि आमका सुख चाहिए? बाबा, हमको सुख चाहिए। चाहे अंगूरसे मिले, चाहे आमसे मिले। दक्षिणमें तो महाराज लड़कीका व्याह ही न करें, जबतक घरमें इमलीके पेड़ न हों। मिथिलामें लड़कीका ब्याह तबतक नहीं करते हैं, जबतक घरके सामने पानीकी एक पोखर न हो। उनका सारा सुख तो पानीकी पोखरमें हुआ है।

एक बार हम लोग हरिद्वार गये थे। वहाँ हड़की पौडी पर जो पुल बना हुआ है, उसपर खड़े हो गये। हमारे साथ एक ठाकुर साहब थे। वहाँ पानीमें बहुत सी मछलियाँ थीं। वे सबका परिचय देने लगे। अचानक एक लाल-लाल मछली आयी तो झटसे बोले कि यह 'रोहू' है और महाराज उसे देख उनके मुँहसे पानी निकल कर गंगाजीमें गिर पड़ा। तो महाराज सारा सुख तो उनका रोहूमें रखा हुआ था।

अरे, आप अपनेको बहुत भला समझते हों तो फिर उसपर विचार करो! आपका सुख आखिर है कहाँ? आप सुख चाहते हैं—इसमें कि उसमें? यहाँ कि वहाँ? अब कि तब? समाधिमें कि विक्षेप और सुषुप्तिमें कि जाग्रत्में? आप सुख कहाँ चाहते हैं?

देखो भाई, समाधिवाला सुख चाहोगे तो विक्षेपमें नहीं मिलेगा और नाचनेवाला सुख चाहोगे तो नींदमें नहीं मिलेगा और नींदवाला सुख चाहोगे तो नाचनेमें नहीं मिलेगा। गानेवाला सुख चाहोगे तो चुपमें नहीं मिलेगा और चुपवाला सुख चाहोगे तो गानेमें नहीं मिलेगा। एक ऐसी

चीज होनी चाहिए, जो सबमें रहती है। जिसकी उपस्थितिके बिना दूसरी कोई चीज रहती नहीं है, वही सुख है। वह सुख क्या है? अच्छा, जाना हुआ सुख चाहिए कि अनजाना सुख चाहिए? तो, नारायण! आपको सुख चाहिए हमेशा, हर जगह, हरमें और बिना प्रयत्नके और बिलकुल व्याप्त रूप। अव्याप्त रूपसे नहीं। तो ऐसा स्वत:सिद्ध सुख यदि आपका आत्मा नहीं है तो आपको कभी मिलेगा नहीं। लेकिन आप चाहते हैं, इसलिए ऐसा आनन्द परमानन्द बोध स्वरूप आपका आत्मा है।

'सुखन् चर'—सुखसे मौज करो। सारे व्यवहार खूब आनन्दसे करो। लेकिन अपनेको दु:खी समझकर और दूसरेसे यह जो सुख माँगनेकी वृत्ति है, इसको छोड़ो। '**स बोधस्त्वं सुखन् चर**'। यह कहते हैं, 'चरो'। 'चरो'का मतलब घास चरो नहीं है। 'चरो'का मतलब चलो भी नहीं है कि चलते रहो, चलते रहो। 'चर' शब्दका अर्थ है 'व्यवहरन्'। सारा व्यवहार करो। लेकिन स्वयं आनन्द परमानन्दमें मग्न हो करके करो!

पहले आपको सुनाया था कि न्याय-वैशेषिकोंके मतमें दु:खाभावके द्वारा आनन्द लक्षित होता है, वहाँ मुख्य आनन्द नहीं है। आनन्द शब्दका मुख्य अर्थ आनन्द होना चाहिए, 'आनन्द' शब्दका मुख्य अर्थ दु:खाभाव नहीं होना चाहिए। वह तो लक्षणासे आनन्द शब्दका अर्थ दु:खाभाव होता है। वह तो गौण अर्थ है। अब जो लोग महाराज योगी हो जाते हैं अथवा अपनेको विवेकी बोलने लगते हैं, तो योगी और सांख्यमत वालोंके यहाँ सुख-दु:ख तब रहता है जब चित्त रहता है। जब चित्तवृत्ति नहीं रहती है, तब सुख-दु:खका अनुभव नहीं होता है। इसलिए इनका यह कहना है कि सुखाकार-दु:खाकारवृत्ति—ये दोनों वृत्ति हैं और योगमें इन दोनोंका निरोध हो जाता है अथवा विवेकसे इन दोनोंसे अलगाव हो जाता है और आत्मा अपना द्रष्टा है और द्रष्टामें न सुख है और न दु:ख है। तो सुख-दु:खाशयसे उपक्षित जो आत्मा है, वह विवेकसे सिद्ध है।

मीमांसक लोग कहते हैं कि मुक्ति दशामें देहादि प्रपंचके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। सम्बन्धका विलय हो जाता है। तो यह सम्बन्धमें तो कभी बुद्ध्यादिके सम्बन्धका विलय हो जाने पर आत्मा सुख स्वरूप है, समाधिस्थ योगियोंका आत्मा अनेक है और मीमांसकोंका मुक्त आत्मा भी अनेक है। इसलिए, वेदान्तके साथ इसका कोई मेल नहीं है। वेदान्तका आत्मा जो है, वह अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित कालसे अबाधित सत् है, असत् नहीं है; देशसे अबाधित बाधित दुःखका अधिष्ठान है और वस्तुके भेदसे अबाधित सम्पूर्ण भेदोंके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान है। इसलिए, यह आत्मा आनन्द परमानन्द स्वरूप है और फिर, जहाँ तुम हो, जो तुम हो, जब तुम हो, जैसे तुम हो—वही सुख है और तुम व्यवहारमें चाहे जब, जहाँ, जैसे, चाहे जिसरूपमें और चाहे जो करते हुए तुम हो, तुम्हारी उपस्थिति ही परमानन्द है, तुम्हारा जानना परमानन्द है, तुम परमानन्द हो!

आनंद परमानन्दः स बोधस्त्वं सुखन् चर। 1.10

नारायण! कहीं दुःखकी कल्पना करनेका कोई कारण नहीं है। यदि आप अपनेको दुःखी मानते हो, तब आप अपनेको पापी भी मानते हो, अज्ञानी भी मानते हो, परिच्छिन्न भी मानते हो, तब आप अपनेको नरकमें जानेवाला भी मानते हो। इसलिए, इस दुःखको उठाकर फेंक दो! तुम स्वयं सुख स्वरूप, परमानन्द स्वरूप हो!

●

प्रवचन : 14

जाननेका चमत्कार!

जैसे उपनिषद्में लिखा है, 'चक्षुषस्चक्षु'—तुम नेत्रके भी नेत्र हो। मनके भी मन हो, प्राणके भी प्राण हो। जीवके भी जीवन हो। गोस्वामीजीने लिखा है, *'जीव-जीवके, सुखके सुख।'* तुम सुखके सुख हो।

आनन्द सिन्धु मध्य तव वासा।
बिन जाने तू मरत प्यासा॥

यह गोस्वामी तुलसीदासजीका वचन है। तुम आनन्दके समुद्रमें निवास कर रहे हो। परन्तु, पहचानते नहीं हो। इसलिए प्यासे मर रहे हो। कबीरदास कहते हैं—

धोबिया जल बिच मरत पियासा।
जल में ठाढ़ि पिए न मूरख,
अच्छा जल है खासा॥

जब श्रुति कहती है—सामने ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, दाहिने ब्रह्म है, बायें ब्रह्म है; ऊपर ब्रह्म है, नीचे ब्रह्म है। तुम ब्रह्म है और तुम्हारे सिवाय जो दिखता है, सो ब्रह्म है। तो; ऐसे ब्रह्मानन्द समुद्रमें ब्रह्मानन्दका एक डला ही डूब-उतरा रहा है और अपनेको मानता है दु:खी!

तो, यह दु:ख नहीं है, दु:खका अभिमान है।

वृन्दावनमें एक सज्जन थे, वे जब पाकिस्तानसे आये तो उनके पास बीस-तीस हजार रुपयेका जेवर था। तो उन्होंने बैंकमें लॉकरमें रख दिया। दस वर्षतक तो उसकी खोज-खबर ही नहीं ली। लेकिन उनको खूब अभिमान था कि हमारे जेवर रखा हुआ है। अब एक दिन जब जाकर लॉकर खोला तो वहाँ पेटीमें सोनेका जेवर नहीं था, पत्थर रखा हुआ था। देखो, पैसा न होने पर भी जबतक पैसेका अभिमान रहा, तबतक वे सुखी थे। पता नहीं था कि पैसा निकल गया। लेकिन जब मालूम पड़ा कि हमारा पैसा निकल गया तो दु:खी हो गये। तो दु:ख कहाँसे आया? पैसा जानेमें-

से आया कि पैसा जाना मालूम पड़नेसे आया? ये दोनों दो चीज है। पैसा न जानें कब गया और मालूम न जानें कब पड़ा। पर दुःख तभी आया, जब मालूम पड़ा। माने यह मानसिक है।

पंचदशीमें एक दृष्टान्त दिया है, एक गाँवमें दो सज्जन रहते थे। दोनोंके पुत्र परदेशमें गये हुए थे। दोनों पुत्रोंमें-से एकको मृत्यु हो गयी। अब जब वहाँसे समाचार आया तो ऐसा उलट गया कि जिसका पुत्र वहाँ जिन्दा था, उसके घरमें तो समाचार आया कि तुम्हारा पुत्र मर गया और जिसका मर गया था, उसके घरमें समाचार आया कि तुम्हारा पुत्र जिन्दा है। अब एकके घरके लोग दुःखी होएँ कि हमारा बेटा मर गया और एकके घरके सुखी होएं कि हमारा बच गया। जबतक सही बात नहीं मालूम हुई, तबतक सुख-दुःख बिलकुल उलटे घरमें रह रहा था। देखो, यह करामात है। यह चमत्कार है मालूम पड़नेका!!

तो, नारायण! आत्माके परमानन्द समुद्रमें यह सारी दुनिया डूब-उतरा रही है। परन्तु, न तो इसको छूती है और न देखती है। आश्चर्य यह है कि संसार है मृगतृष्णाका जल और उसीमें मनुष्य अपना सुख-दुःख मान रहा है।

देखो, वेदान्तके बारेमें कई तरहकी भ्रान्तियाँ हो गयी हैं। लोग ऐसा समझते हैं कि मरनेके बाद हम मुक्त होंगे। यह तो बेवकूफीकी पराकाष्ठा है। जो इसी समय अपनेको मुक्त अनुभव नहीं कर लेता, वह मरनेके बाद भी अपनेको मुक्त अनुभव नहीं कर सकता। एक बात तो यह है कि जब संन्यासी हो जायेंगे तब मुक्तिका अनुभव होगा। इस बातको कुछ साधुओंने भी बढ़ावा दिया। अपना-अपना पन्थ बढ़ानेके लिए कि जब हमारे पन्थमें आवेंगे तब मुक्ति मिलेगी। यह बात बिलकुल गलत है। साधुसे, पन्थसे मुक्तिका सम्बन्ध नहीं है। निवृत्तिका सुख साधु-पंथमें विशेष है।

अच्छा, कुछ लोगोंका यह ख्याल है कि जब समाधि लगती है, तब मुक्ति मिलती है। यह भी बिलकुल भ्रान्ति है। समाधिके साथ तो इसका 'बादरायण-सम्बन्ध' भी नहीं है। बल्कि, एक रकम सेती समाधि मुक्तिमें

बाधक है। जैसे सिद्धि है, चमत्कार है—यह भी मुक्तिमें बाधक है, ऐसे ही समाधि भी बाधक है। क्योंकि इस समय भ्रान्तिको निवृत्त करनेके लिए जिस वृत्तिज्ञानका होना आवश्यक है, वह समाधिकालमें नहीं रहता है। उदय नहीं होता है। यह बड़ी मजेदार बात है न! बोले कि अभ्यास करते-करते जब द्रष्टाके स्वरूपमें बैठोगे, तब मुक्ति होगी। तो द्रष्टाके स्वरूपमें बैठनेका आप इतना फायदा तो उठा सकते हैं कि व्यापारमें चोरी-बेईमानी करें तो अपनेको पापी न समझें; कहें कि मैं तो चोरी-बेईमानीका द्रष्टा हूँ। इतना गलत आत्म सन्तोष तो आपको प्राप्त हो सकता है। यह गलत आत्म संतोष है कि हमने चोरी की, बेईमानी की, व्यभिचार किया और द्रष्टा होकर बैठ गये। यह फायदा तो आप उठा सकेंगे। लेकिन, द्रष्टा अद्वितीय ब्रह्म है, यह ज्ञान द्रष्टाके स्वरूपमें बैठनेसे नहीं होगा। उसके लिए तो वेदान्तका अनुशीलन करना पड़ेगा। उसके लिए तो श्रवण, मनन निदिध्यासन करना पड़ेगा। हम उन लोगोंको तो हाथ ही जोड़ते हैं जो शून्यका ध्यान करते हैं, जो नाभि हिलाते हैं। क्योंकि वे तो इस मुक्तिके मार्ग पर चलनेवाले हैं ही नहीं।

तो, नारायण! प्राणायाम, आसन, प्रत्याहार—ये शरीरगत अनेक दोषोंको निवृत्त करते हैं, यह दूसरी चीज है। हम न द्रष्टाका खण्डन करते हैं और न प्राणायाम, आसनका। लेकिन वैकुण्ठमें जानेके मुक्ति मिलेगी, मरनेके बाद मुक्ति मिलेगी, द्रष्टाके स्वरूपमें बैठनेके बाद मुक्ति मिलेगी—यह सब गलत है। तब यह मुक्ति है क्या चीज? देखो, 'सुखन् चर'—तुम हो ज्ञान स्वरूप और जो चीज ज्ञेयके रूपमें तुम्हारे सामने आती-जाती है, उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है और तुम ज्ञातापनेके अभिमानी नहीं हो। 'स बोधः' माने ज्ञातृ, ज्ञेय शून्य बोधः। जिसमें 'अहं'में तो ज्ञानका अभिमान नहीं होता और ज्ञेयमें सचाई नहीं होती। तो यह वैकुण्ठ, समाधि, संन्यास, निवृत्ति, सिद्धि, चमत्कार—सब गेयकी कोटिमें हैं और मैं बड़ा भारी सिद्ध हूँ, यह तो आसुरी सम्पत्ति है। गीताका सोलहवाँ अध्याय न पढ़ा हो तो पढ़ लें—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः॥ 16.14-15

यह आसुरी सम्पत्ति है, 'सिद्धोऽहं, सिद्धोऽहं।' 'शुद्धोऽहं' ठीक है।

मैसूरके पास एक बुड्ढे सज्जन रहते थे। जब वे एक महात्माके पास गये और बोले कि महाराज कुछ उपदेश कर दो। वे बोले कि तुम 'सोऽहं, सोऽहं' किया करो। वे करने लगे। थोड़े दिनोंके बाद उनके पुरोहितजी आये। वे बोले कि 'सोऽहं सोऽहं' क्यों करते हो? तुम्हारे कुलके देवता शिव हैं, तो शिवका नाम भी रहेगा और अहं भी रहेगा सो 'शिवोऽहं शिवोऽहं' करो। अब उन्होंने 'सोऽहं' छोड़ दिया और 'शिवोऽहं' करने लगे। उनके बाद एक दिन पुरोहितजीका बेटा आया। तो उसने सोचा कि यह बापका चेला बना रहेगा तो हमारे ऊपर इसकी श्रद्धा नहीं होगी। यह हमारा चेला होना चाहिए। ऐसे महाराज बेटे लोग, चेले लोग भी गुरुके चेलेको बदलते हैं। अब यह पुरोहितजीका खास बेटा था। उसने कहा कि तुम शिव नाम काहेको लेते हो? तुम 'शम्भोऽहं, शम्भोऽहं' बोलने लगो। वह बेचारा भोला-भाला! उसने सोऽहंसे शिवोऽहं किया और शिवोऽहंसे शम्भोऽहं जपने लगा। अब 'शम्भोऽहं' संस्कृतकी दृष्टिसे गलत है। 'शम्भुरहं' होगा। अब एक पण्डितजी आये। उन्होंने सब बात सुनी कि कैसे सोऽहंसे शम्भोऽहं पर आगया है।

विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखाः।

जो अपनी निष्ठासे च्युत हो जाता है, वह कहीं टिकता नहीं है। वह तो नये-नये बतानेवाले मिलते रहेंगे और नयी-नयी जगह जाता रहेगा, नये-नये काम करता रहेगा। अब उन पण्डितजीने कहा कि तुम अब 'शम्भोऽहं' मत बोलो, 'शुम्भोऽहं' बोला करो! शुम्भ एक दैत्य था। अब लो। जो अपनी निष्ठासे च्युत हो जाता है उसके लिए कहीं कोई जगह नहीं मिलती है।

तो, नारायण! यह वेदान्त न संन्यास है, न समाधि है, न वैकुण्ठ है,

न यह द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति है। यह तो महाराज एक ऐसी जानकारी है, एक ऐसा ज्ञान है, जिससे आप निर्द्वन्द्व होकर व्यवहारमें प्रवृत्त हो सकते हैं और व्यवहारसे निवृत्त हो सकते हैं। चाहें तो निवृत्त हो जायें और चाहें तो प्रवृत्त हो जायें।

श्रीउड़ियाबाजी महाराज कहा करते थे कि यह निवृत्ति ज्ञान नहीं है। यह तो वैराग्यका विलास है। ज्ञानको तो प्रवृत्ति और निवृत्तिकी कोई पहचान ही नहीं। वह प्रकृतिको भी प्रकाशित करता है और निवृत्तिको भी प्रकाशित करता है। सुरेश्वराचार्य कहते हैं—

निवृत्तिमपि मृदनाति सम्यक् बोधः प्रवृत्तिवत्।

ज्ञानमें प्रवृत्ति-निवृत्तिका कोई भेद नहीं है। देखो, राजा जनक थे, अश्वपति थे, राम थे, कृष्ण थे—ये भी तत्त्वज्ञ थे। ये न वैकुण्ठमें जाकर सुखी हुए, न समाधि लगाकर सुखी हुए, न संन्यासी होकर सुखी हुए। ये तो जहाँ थे, वहीं परमानन्दमें मग्न रहते थे।

तो; यह तो वेदान्तकी चर्चा है, यह आपको इसी धरती पर, इसी दुनियामें, इसी घरमें, इसी जगह ऐसे बैठे परमानन्दका साक्षात्कार करा दे कि कभी उसपर कहीं कोई कलंक लगे ही नहीं। तो 'सुखन् चर'का अर्थ है, सुखन् व्यवहारः—सुखसे व्यवहार करो। यह लो मस्ती!

जैसी मति, वैसी गति

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीह सत्येयं य मतिः सा गतिर्भवेत्॥ 1.13

कोई-कोई कहावत भी बड़ी मजेदार होती है। 'महिम्न स्तोत्र'में कोई 25-30 कहावतोंका प्रयोग हुआ है। वाल्मीकि रामायणमें बारम्बार लोकोक्ति, कहावतका प्रयोग आया है। '*कल्याणी बतगाथेय लौकिकी प्रतिभाविनी*'—यह देखो, दुनियामें जो बात कही जाती है, लेकिन वह हमको बहुत अच्छी लगती है। क्या? आदमीको घबड़ाकर खुदकुशी नहीं करना चाहिए, आत्म हत्या नहीं करनी चाहिए। क्योंकि, यदि वह जिन्दा

रहेगा तो सौ वर्षके बाद भी उसके जीवनमें आनन्द आ सकता है। यह वाल्मीकि रामायणकी लोकोक्ति है।

अब आओ, आपको वेदान्तकी लोकोक्ति सुनाते हैं! 'जैसी मति, वैसी गति'—यह वेदान्तकी लोकोक्ति है। इसका अर्थ है कि आप अपनेको जैसा मानोगे, वैसे ही हो जाओगे। 'जैसी मति, वैसी गति'—यह किंवन्दन्ती, यह कहावत, यह लोकोक्ति बिलकुल सच्ची है।

एक सज्जन रोज भगवान्‌के सामने बोलते थे कि *मैं मूरख खल कामी, मैं मूरख खल कामी।* अब जैसे वेदान्ती लोग सोऽहम्, सोऽहम् बोलते हैं, वैसे ही वे रोज बोलते थे—*मैं मूरख खल कामी।* सुनते-सुनते-सुनते भगवान्‌ने एक दिन कह दिया कि भाई या तो ऐसा कर कि आज कान पकड़ कि हे प्रभु! आज मैंने आपके सामने अपनेको मूरख, खल, कामी, स्वीकार कर लिया। सो आजसे मैं न मूरख रहा, न खल रहा, न कामी रहा। क्योंकि, आपके सामने कबूल कर लिया। कबूल कर लेने पर तो माफ कर दिया जाता है। तो मैंने तुम्हारी मूर्खता, खलता, कामिता माफ करी और यदि तुम्हारा मन यही है कि इसीको हम दोहराते रहें तो कहो तो हम आशीर्वाद दे दें कि सत्य-वचन! तुम जो कहते हो, वही हो! या तो एक बार 'पापोऽहं, पाप करवाऽहं'-कहकर उससे छुट्टी पाओ कि महाराज, हमसे गलती हुई। अब रोज-रोज गलती करो और रोज जाकर कबूल करो और भगवान् भी रोज-रोज वही सुनें कि हमारे दरबारमें रोज आनेवाला गलती करना बन्द नहीं करता है।

आपको यह बात सुनाते हैं कि असलमें आपने किसीको पकड़ रखा है—यह बात दूसरी है। परन्तु, दूसरे किसीने आपको पकड़कर रखा है, यह बिलकुल भ्रम है। आप मौजसे किसीको पकड़कर रखें! यह माला रुद्राक्षकी गलेमें पहन ली, ठीक है। परन्तु, मालाने हमको बाँध लिया—सो नहीं। जब हम चाहें उसे गलेसे निकालकर अलग कर सकते हैं। ओढ़ा हुआ चदरा उतार सकते हैं और, जैसे माला है, चदरा है, चश्मा है, दुनियाका सारा सम्बन्ध बिलकुल ऐसा ही है। यह आपके द्वारा पकड़ा

हुआ है। आपको किसीने नहीं पकड़ा है। आप यदि समझते हो कि हमारे बच्चेने, हमारी पत्नीने, हमारे पतिने, हमारे सास-ससुरने, हमारे माँ-बापने, हमारे भाई-बन्धुओंने, हमारे रुपये-पैसेने, हमारे मकानने, हमारी जमीन-जायदादने, हमारे देवता-दानीने हमको पकड़कर रखा है—अगर आप ऐसा समझते हैं तो आपको अभी सच्ची अकल नहीं मिली है। इस बातको मैं बहुत सम्भालकर संसदीय भाषामें बोल रहा हूँ।

देखो; वकील लोग जजके सामने जब बहस करते हैं तो साफ-साफ समझते हैं कि जजकी समझमें नहीं आ रहा है। लेकिन ऐसे नहीं बोलते हैं कि जज साहब आपकी समझमें नहीं आ रहा है। ऐसे बोलते हैं कि श्रीमान मैं आपको समझा नहीं सका। हमारे समझानेकी गलती है, आपकी समझदारीमें कोई गलती नहीं है।

तो मैं श्रीमान्-आपको यह समझाना चाहता हूँ कि आप जो यह समझते हैं कि यह हमारा प्रेमी है और हमको बाधे हुए है, भला इसको छोड़कर हम कहाँ जायें? यह हमारा रिश्तेदार-नातेदार है, इसको कैसे छोड़ें? तो, नारायण! आप अगर तमाशा देखना चाहें तो पाँच मिनटमें हम आपको सब छुड़ाकर दिखा सकते हैं। ऐसा दुनियाका कोई सम्बन्धी नहीं है, जो पाँच मिनटके भीतर हमको, आपको छोड़कर न चला जाये या घरसे न निकाल दे। जरा उसके मनके खिलाफ करके देखिये तो!! जहाँ उसकी खास धारणा है, जहाँ वह खास अपनी मान्यता, भावनाको पकड़कर बैठा हुआ है—उसके विपरीत जरा करके देखिये तो! पत्नी तलाक दे दे, पति तलाक दे दे; बच्चा माँ-बापको छोड़ दे। गुरु-चेले अलग-अलग हो जायें। यह संसारका सम्बन्ध ऐसा ही है। यह तो इसने हमको बाँध लिया है, हम इसके साथ बँध गये—यह भ्रम ही काम कर रहा है। बिलकुल सोलह आने भ्रम है।

वृन्दावनमें हमारे साथ एक अवधूत रहते हैं। ये हमारी जन्मभूमिके बिलकुल पासके हैं। हम लोग बचपनमें साथ-साथ रहे हैं! हमसे उनकी उम्र 12 वर्ष बड़ी है। वे पहले कहते थे कि हमारी पत्नी नहीं छोड़ती है,

माता नहीं छोड़ती है, बच्चे नहीं छोड़ते हैं। जब वैराग्यकी लहर आती तो जाकर संन्यासी हो जायें। कैलाश आश्रममें जाकर दो-तीन बार संन्यासी हुए और फिर लौट आवें। कहते कि यह मोह नहीं मानता है। हम लोग एक दिन गंगा किनारे बैठे, तो उन्होंने कहा कि पण्डितजी कोई ऐसी युक्ति करो कि मोह छूट जाये। मैंने कहा कि बिलकुल, अभी लो! यह तो हमारे पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे हमको युक्ति मिली हुई है। मैंने कहा कि अब तुम कलसे दो महीने तक इस गाँवको नहीं छोड़ना। सामने जो वटका पेड़ है, यहीं पर रातको सोना और जो गाँवमें चमारोंकी, मुसलमानोंकी बस्ती है— उसमेंसे रोटी माँगकर खाना। वे मान गये। पहले ही दिन चमारोंकी बस्तीमें-से भिक्षा ली और पाँच-सात दिन तक ऐसा ही क्रम चला तो उनकी माताजी हमारे पास आयीं और बोली कि पण्डितजी! अब उनको आप कह दो, समझा दो कि गाँव छोड़कर चले जायँ। मैंने कहा कि क्यों भला? बोलीं कि ये यहाँ रहेंगे तो बाल-बच्चोंका विवाह कैसे होगा? अच्छे घरानेमें विवाह नहीं होगा। लोग कहेंगे कि बाप तो मुसलमानों और चमारोंकी रोटी खाता है। कैसे ब्याह हो? एक दिन वे हँडिया लिए रोटी माँगते-माँगते अपने घरमें घुस गये। जो अपने घरमें घुसे तो उनकी पत्नीने कमरेमें जाकर किवाड़ी बन्द कर ली। वह तो भीतर हो गयी, उनसे मिली नहीं और माँने चार गाली सुनायी कि घरमें क्यों आया है? इसके बाद फिर लौटकर वे कभी नहीं गये। यह तो बच्चोंके ब्याहकी बात थी। अगर वे पत्नीके सामने दूसरी स्त्रीके कन्धे पर हाथ रख देते और उनकी पत्नी उनके सामने दूसरे पुरुषके साथ प्रेमालाप कर लेती तो भी बन्धन छूट जाता।

यह तो महाराज जिसको तुम ईश्वर मानते हो, उसको दुनिया चार गाली देती है। तुम तो नारायण! अपनी मान्यताओंमें बँधे हुए हो, अपने संस्कारोंमें बँधे हुए हो, अपनी मान्यताओंमें जकड़े हुए हो। दूसरेका हाथ लगने पर अपवित्र हो जाते हो और जिससे मोह जाता है, उसका लार भी पवित्र लगता है, मीठा लगता है। जिससे अपना प्रेम नहीं होता है, उसकी छुई हुई चीज खानेमें अच्छा नहीं लगता है। यह संसारका सारा व्यवहार

केवल अपने राग-द्वेषके आधार पर ही हमको बाँधे हुए है। इसमें कोई तत्त्व नहीं है, इसमें कोई तन्तु नहीं है।'तन्तु' माने बाँधनेवाली ताँत। तुमको किसने बाँध रखा है?

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥ 1.11

'मुक्ताभिमानी मुक्तोहि'—'मुक्त' शब्दका प्रयोग संस्कृत भाषामें दो तरहसे होता है। आप गीतामें देखो—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ गी. 16.22

'एतैर्विमुक्तः' इनके द्वारा छोड़ा हुआ माने ऐसी स्थिति आने दो कि एक मित्र तुम्हारे पास आता है, तो यदि तुमको यह गौरवका अनुभव आता है कि देखो यह मित्र मेरे पास आता है और मुझसे कितना प्रेम करता है, तो नारायण! यदि अपनेमें उसके आने पर गौरवका अनुभव करोगे तो वह मित्र तुमको बाँधेगा और यदि तुम यह अनुभव करोगे कि उसके आनेसे तो हमारी बदनामी होती है। बोले कि यह सच्चा प्रेम नहीं करता है, यह ढोंग करता है। तो क्या होगा कि वह तुम्हारे पास आना छोड़ देगा। 'एतैर्विमुक्तः' तुमको छोड़ना नहीं पड़ेगा, वही तुमको छोड़ देगा। इसमें जो 'विमुक्तः' पद है, इसका कर्त्ता कौन है? काम, लोभादि इसके कर्त्ता हैं। तुम छोड़े गये तो क्यों छोड़े गये? क्योंकि तुमने दुनियाकी किसी चीजको लेकर अपनेको अभिमानी नहीं माना।

जब तुम कहोगे कि हमारे पास इतना पैसा और हम गौरवशाली! तो पैसा तुमको बाँध लेगा। यह स्त्री बड़ी सुन्दर, बड़ी मधुर—इसको पाकरके हम कृतार्थ! बस, स्त्रीने तुमको बाँध लिया। बस, ऐसा महल, मकान तो दूसरी जगह है ही नहीं! तो नारायण कहो, मकानने तुमको बाँध लिया। जब तुम उसके द्वारा अपनेको गौरवान्वित समझोगे-हमारे सरीखा चालाक तो कोई है ही नहीं, ब्लैक मार्केटिंग वाले पैसे वाला हमारे सरीखा तो कोई है ही नहीं! अब आपने जब इसका अभिमान किया तब उसने आपको बाधा। अच्छा,

ब्याहसे पहले स्त्री-पुरुषसे आप कहाँ बँधे हुए थे। ब्याहके बाद जब यह हुआ कि मैं इस स्त्रीका पति और मैं इस पुरुषकी पत्नी—जब अभिमानका उदय हुआ, तब बँध गये। गुरु-चेला कैसे बँधे। यह मेरा चेला और यह मेरा गुरु। यह मेरा बेटा और मैं इसका बाप। यह बन्धन कहाँसे आता है? जब किसी भी चीजके हम अभिमानी बनते हैं, तब वह चीज हमको बाँधती है।

तो 'विमुक्त' शब्दका एक अर्थ यह है कि जब तुम किसीके सम्बन्धका अभिमान नहीं करोगे तब वह चीज ही तुमको छोड़ देगी। क्योंकि, अभिमान ही सम्बन्ध है। दूसरा कोई सम्बन्ध है नहीं।

अच्छा, दूसरी बात देखो! हमने छोड़ दिया। छोड़ती तो चीजें ऐसी हैं कि क्या बताएँ? अच्छा, बताओ अबतक आपके घरमें कितनी मोटर बदल चुकी हैं? और, जब आयी तो क्या ख्याल हुआ कि बड़ी बढ़िया मोटर आयी हैं। कितने मकान बदल गये? कितने नातेदार-रिश्तेदार बदल गये? कितने चाचा, ताऊ बदल गये? और नये-नये पर फँसते जाते हैं। तो यदि इन चीजोंसे आप अपनेको गौरवान्वित नहीं समझोगे तो वे चीजें आपको स्वयं मुक्त कर देंगी। उनसे आप मुक्त हो जायेंगे।

अच्छा, अब ज़रा अपनी ओर देखिये। *'मुक्ति अस्यास्ति इति मुक्तः'*। एक है—मुक्ति जिसकी हो गयी, उसका नाम 'मुक्त' और जो दूसरोंके द्वारा मुक्त कर दिया गया, सो मुक्त! भक्तिसे जैसे भक्त बनता है। मुक्तः मुक्तः मुक्तः! लो तुम मुक्त हो। इसका अर्थ है, मेरे साथ किसी भी दूसरेका सम्बन्ध नहीं है। देखो, अभिमानी ही बद्ध है। निरभिमान मुक्त है। क्या आप किसी भी 'इदं'को 'मम' समझते हैं? क्या आप किसी भी 'इदं'को 'अहं' समझते हैं? दो ही प्रश्न हैं।

किसी भी 'यह'को मेरा समझना और किसी भी 'यह'को 'मैं' समझना—यह जो भूल है, इसीका नाम बन्धन है। 'यह' चाहे बड़े-से-बड़ा हो, जो 'यह' है, वह 'मैं' नहीं है और जो 'यह' है वह 'मेरा' होकर नहीं रह सकता। 'यह' बदलता रहेगा। वह 'मेरा' होकर नहीं रह सकता और जो 'यह' है, वह प्रत्यक्ष ही 'मैं' नहीं है। तो चाहे वह बड़े-से-बड़ा

हो—जड़में एक तृणसे लेकर प्रकृति पर्यन्त और जीवमें कीड़ेसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त-जिस भी 'यह'को तुम मेरा समझोगे, वहाँ तुम्हारी भूल है और 'यह'को तुम 'मैं' समझोगे तो वहाँ तुम्हारी भूल है। इसलिए, दुनियामें कोई भी 'यह' पदार्थ न 'मेरा' है और न 'मैं' है। तब देखो तुम्हारे 'मैं'का स्वरूप क्या उज्ज्वल होता है। और, यह अलग-अलग शरीरमें अलग-अलग नहीं होगा। अद्वय है, ब्रह्म है।

तो, नारायण! तुम मुक्त हो। यदि अभिमान न करोगे कि मैं बद्ध!! संसारका व्यवहार बद्धसे ही होता है। व्यवहारमें जो फँसाव है न! अरे, नोट भी अंटीमें फँसाना पड़ता है। बिना गाँठके रुपयेसे व्यवहार हो सकता है। सन्दूकमें भी ताला लगाना पड़ता है, गाँठ लगानी पड़ती है। अच्छा, विवाहका व्यवहार भी बिना गाँठके नहीं हो सकता। वह रजिस्टरमें होगा, तब भी उसमें गाँठ लगायी जायगी और सनातन-रीतिसे होगा तब भी गाँठ लगायी जायेगी। धर्म, कर्मके व्यवहारके लिए चोटीमें गाँठ लगानी पड़ती है, जनेऊमें गाँठ लगानी पड़ती है। यह 'ग्रन्थि' व्यवहारका हेतु है। तो जरा निर्ग्रन्थ व्यवहार करो न! 'अहं' और 'इदं'की गाँठ न लगने पावे और व्यवहार होता जाय। ऐसा कैसे होगा? जब अपने अहंकी अविनाशिताको तुम जानोगे, ब्रह्मताको जानोगे!

शुद्ध सच्चिदानन्द तू, नहिं तोमे दुःख लेश।

तुम शुद्ध सच्चिदानन्द हो! तुम्हारे अन्दर दुःखका लेश बिलकुल नहीं है। तू परमानन्द स्वरूप है। अपने हृदयमें क्लेशको मत बसाओ। असलमें क्लेश किसी आदमीने नहीं दिया, किसी चीजने नहीं दिया। जो तुमने उसको 'मैं' मेरा मान लिया—वहींसे क्लेश आया। 'मैं', 'मेरा' माना कैसे? अपनेको परिच्छिन्न मानकर भूलकर। और अपनेको परिच्छिन्न माना क्यों? अपनेको अपरिच्छिन्न नहीं जाना, अद्वय-ब्रह्म नहीं जाना। इसीसे 'इदं'के साथ आपने गाँठ जोड़ ली और गाँठ जोड़ ली तो कोई पैसेसे खिंचेगा और कोई घर-गृहस्थीसे खिंचेगा। कोई सम्बन्धीसे खिंचेगा। और यदि 'यह' और 'मैं'की गाँठ न पड़े तो लो मस्ती-ही-मस्ती है। ●

प्रवचन : 15

सम्बन्ध केवल मानसिक !

आपके दिमाग पर हम ज्यादा जोर नहीं डालना चाहते हैं। देखो, आपका एक मकान है। वह क्या सचमुच आपका है? सीधा-सादा सवाल है। उस मकानमें जो धरती है, वह आपकी है? वह तो आपके जन्मसे पहले ही वहाँ पर है। पहले किसी दूसरेकी थी, बादमें आपने उसको अपनी मान लिया। अच्छा ईंट, पत्थर, चूना क्या आपका है? अच्छा, उसकी जो शकल-सूरत बनती है, वह आपकी है? अच्छा, मान लिया कि यह सब कुछ आपका है—धरती भी आपकी, ईंट, पत्थर भी आपका, शकल-सूरत भी आपकी है और बेचनेके एक दिन पहले उसमें आग लग जाये तो आपको बहुत तकलीफ होगी और बेचनेके एक दिन बाद आग लग जाये तो तकलीफ नहीं होगी। तो यह क्या हुआ? इसका अर्थ यह हुआ कि इस मकानको जो आप मेरा समझते थे—मकानवाला 'मैं' वह मकानके साथ जो 'मैं'का रिश्ता जोड़ रखा था, वह टूट गया। तो यह जो मकानमें मेरा-पन और 'मैं'में मकानवाला-पन—ये दोनों मानसिक हैं कि नहीं हैं?

बाबा, पैसेकी भी हालत यही है। देखो, मकानको मेरा मानते हो, तब उसके साथ सुख-दुःख है और मकानको मेरा मानना छूट गया और उससे सुख-दुःख आना मिट गया। तो दुःख वह मकान नहीं देता है, उसमें मैं-पना और मेरा-पना देता है। नारायण कहो! पैसा आपके हाथमें आया—पैसेवाले हो आप! पर, कितना सुख-दुःख है! उसमें चाँदी आपकी कि सोना आपका कि नोटका बंडल आपका? जो इसमें वजन है, सो आपका कि जो इसमें लम्बाई-चौड़ाई है, सो आपकी? अच्छा, जितनी देर आपकी मुट्ठीमें है, उतनी देर आपका—यह भी बात नहीं! दूसरोंका पैसा भी तो मुट्ठीमें रखते हैं न! तो क्या मेरा-पन? यह मनमें ही 'मैं' मेरा होता है—पैसेमें नहीं होता है। आपका मकान और पैसेसे एक एकांगी-प्रेम है।

आपको मालूम है कि एकांगी-प्रेम कैसा होता है? जैसे चकोर, चन्द्रमासे प्रेम करता है। चन्द्रमा तो कभी चकोरकी ओर देखता नहीं। ऐसे ही, इन पदार्थोंसे आप ही प्रेम करते हैं, आप ही उनको 'मेरा कहते हैं, आप ही अपनेको 'उनवाला' समझते हैं और आप ही उनके लिए रोते हैं और उनके लिए हँसते हैं। जैसे एक पागल आदमी हो और वह किसी चीजको देख अपने आप ही सुखी हो जाय और किसी चीजको देखकर दुःखी हो जाय और उन चीजोंको तो पता ही नहीं है कि वह हमारे लिए सुखी-दुःखी हो रहा है। देखो, जब सुख और दुःख एक ही दिलमें हो रहा है और दूसरे दिलके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है—जैसे दूसरेके दिल ही नहीं, और दिलदार ही नहीं है। न मकानके दिल है, न रुपयाका दिल है और आप स्वयं उसके लिए रो लेते हैं और हँस लेते हैं। कभी देकर खुश होते हैं तो कभी लेकर खुश होते हैं और उन बेचारोंको पता ही नहीं कि किसने हमको अपना माना और किसने हमको लेकर अभिमान किया।

अच्छा देखो, एक आदमीने एक मकान खरीदा और उसपर पैसे खूब लगाये। जब उसमें रहने आया तो घरके लोग बीमार रहने लगे तो बोले भाई कि यह मकान तो दुःखदायी है; छोड़ो इसको!! अरे, मेरा है तो छोड़ते काहेको हो? रहो इसमें। तो दोष होने पर मकान छूट गया, आग लग गयी तो छूट गया, बेच दिया तो छूट गया और अगर मनसे नहीं छूटेगा और आपका दुश्मन उसपर कब्जा कर ले तो आप रोयेंगे। बिलकुल यही बात शरीरके साथ भी है। यह शरीर भी एक मकान ही है। बहुत बढ़िया-बढ़िया मकान लोग भूत, प्रेतके डरसे छोड़कर चले जाते हैं। यही बात शरीरको है। आप कहते हो कि यह आदमी हमको बहुत दुःख देता है, वह आदमी हमको बहुत दुःख देता है। लेकिन उसीके साथ चिपकते फिरते हो! अरे, दुःख देता है तो छोड़ क्यों नहीं देते? जिस दोस्तसे दुःख मिलता है उसको छोड़ दो और जिस दुश्मनकी वजहसे दुःख मिलता है, उसको छोड़ दो।

बात असलमें यही है कि आपने अपनेको बाँध लिया है। बिना

रस्सीके बाँध लिया है। आपमें कोई गुण नहीं है और सामनेवालेमें भी कोई गुण नहीं है। निर्गुणमें ही सगुणकी कल्पना करके बँध गये हो। 'गुण' माने रस्सी। बाँधनेवाला कौन है? प्रमाद, आलस्य, निद्रामें गुण-बुद्धि हो जाती है तो ये बाँधते हैं। तृष्णा, प्रवृत्तिमें गुण-बुद्धि हो जाती है तो ये बाँधते हैं। विद्या और प्रकाशमें गुण-बुद्धि हो जाती है तो ये बाँधते हैं। शान्ति और समाधिमें गुण-बुद्धि हो जाती है तो ये बाँधते हैं। विषय बाँधते हैं, इन्द्रियाँ बाँधती हैं। नारायण! बाँधता असलमें कुछ नहीं है। न वे बाँधते हैं और न आप बँधते हैं। आप तो बिलकुल छुट्टे-छड़ंगे हैं। लेकिनमैं एक प्रकारका अभिमान पैदा हो जाता है कि मैं बँधा हुआ हूँ। मैं इसका बाप और बेटेका जिम्मेवार! मैं इसका बेटा तो बापका जिम्मेवार!! पति-पत्नीका जिम्मेवार और पत्नी पतिकी जिम्मेवार। परिवार है, जाति है। क्या-क्या नहीं है? तो जब आप स्वयं ही अपनेको बद्ध मानकर बैठ जाते हैं तो आपको मुक्त करनेवाला कोई नहीं। और यदि आप अपनेको मुक्त मान-जान लेते हैं तो आपको बाँधनेवाला कोई नहीं। यह तो आपकी ही बुद्धि आपको सुख-दुःख दे रही है।

हमारे एक बड़े धर्मात्मा सेठ हैं—तो वे महाराज जीभ पकड़ लें, हाथ पकड़ लें। कहते हैं कि बस, नरक-स्वर्गवाली बात ज्यादा किया करो। लोग इससे पाप नहीं करेंगे, पुण्य करेंगे। मरनेके बाद लोग नरक-स्वर्गमें जाते हैं—यह बात जरूर कह दिया करो। कई साधु उनके यहाँ नौकरी पर रहते हैं महाराज! वह सेठ कहता है कि बस, चिन्तामणिका एक विशेषांक 'नरक-विशेषांक' निकले, 'पुनर्जन्म विशेषांक' निकले-जिससे लोगोंका विश्वास तो बढ़े कि जन्म-मरण होता है। देखो, यह सेठकी सलाह है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने हमको पहले ही दिन यह सलाह दिये थे कि देखो, ईश्वरने तुमको बुद्धि दी है, प्रतिभा दी है—उसको तुम स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्मके समर्थनमें मत लगाओ। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है—इसके समर्थनमें लगाओ।

तो, मकानने आपको बाँधा कि आप मकानसे बँधे ? रुपयेने आपको बाँधा कि आप रुपयेसे बँधे ? जातिने आपको बाँधा कि आप जातिसे बँधे ? स्त्री-पुरुषने, माता-पिताने आपको बाँधा कि आप अपनी बुद्धिसे बँधे। बन्धन जितना है, वह सारा-का-सारा अपनी समझका कसूर है। अपनी बुद्धिका अपराध है। यह प्रमा नहीं है, यह भ्रम है। माने यह यथार्थ-ज्ञान नहीं है। इसलिए, अपने आपके बारेमें यह कल्पना ही मत करो कि आप कहीं बँधे हुए हो। मकानसे बँध गये कि जमीनसे बँध गये कि ईंट-पत्थरसे बँध गये कि खेत-खलिहानसे बँध गये कि रुपये-पैसेसे बँध गये कि रिश्ते-नातेदारसे बँध गये कि जात-पाँतसे बँध गये कि वेदसे बँध गये कि कर्मसे बँध गये कि अमुक कर्म नहीं करेंगे तो बँध जायेंगे ? भाई मेरे, अपनेको कहीं बन्धनमें अनुभव मत करो। यह सारा-का-सारा मानसिक सम्बन्ध है। सारे बन्धन मानसिक हैं। दुःख पाओगे, अगर अपनेको कहीं बाँध लोगे। सुख पाओगे, अगर अपनेको मुक्त कर लोगे!!

तो जैसी मति, वैसी गति।

अपनेको सोचो

बोले कि भाई, केवल कल्पना ही करें कि हम बन्धनमें नहीं हैं, मुक्त हैं। बोले कि नहीं, तुम जरा अपने बारेमें विचार करो। दुनियामें किसीसे दोस्ती करनी होती है तो विचार करते हैं कि इसके साथ दोस्ती करनेमें हमारी कोई हानि तो नहीं है। धरती पर कोई चीज पड़ी हो तो विचार करते हैं कि इस चीजको उठानेमें कहीं पुलिस तो नहीं पकड़ लेगी। कहीं चोर-डाकू तो नहीं घेर लेंगे—इस रास्ते पर चलें कि न चलें ? सोच-विचार कर लेते हैं। परन्तु, अपने बारेमें कुछ सोचते नहीं-यह कैसा अन्धकार ? दीया तले अंधेरा। सब कुछ समझते हैं, पर अपनेको नहीं समझते। तो अष्टावक्रजी कहते हैं कि अपनेको सोचो—

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो ,भ्रमात्संसारवानिव॥ 1.12

यह आत्मदेव जो हैं माने अपना-आपा जो है, यह केवल भ्रमसे ही संसारवाला मालूम पड़ता है। 'संसारवान'का अर्थ क्या होता है? यह नहीं कि ईंट-पत्थरका नाम संसार है, मकानका नाम संसार, रुपये-पैसेका नाम संसार है। *'कर्तृत्व-भोक्तृत्व लक्षण: संसार:'*। शंकराचार्यजीने कहा, 'संसार माने क्या?' अपनेको कर्त्ता और अपनेको भोक्ता—यह मान बैठना ही संसार है। यह कारखाना मैंने बनाया है और मैंने इस-इस वस्तुका दान कर दिया—यह दोनों संसार है। जब तुम्हारा कुछ है ही नहीं तो तुम दाता काहेसे हो गये? हमने यह-यह दान किया है। अरे, तुम्हारे पास दान करनेसे पहले कितनी पूँजी थी? बोले कि सो तो कुछ नहीं। तब फिर दूसरेके मालको अपना समझकर दान किया होगा न! दाता समझ लिया।

आजकल महाराज, बी. ए., एम. ए. की डिग्री भी पैसेसे मिल जाती है। एक आदमीने एम. ए.की नकली डिग्री प्राप्त कर ली। अब मालूम हुआ कि वह संस्था पकड़ी जानेवाली है तो उसने एम. ए.का वह सर्टीफिकेट फाड़कर फेंक दिया। अब महाराज लोगोंमें यह कहें कि हमने एम. ए.की डिग्री फाड़ कर फेंक दी। अरे, वह तो तुम्हारे पास नकली थी। तो, नारायण! यह रुपये-पैसेके दानका अभिमान भी झूठा है। कहाँसे तुम लेकर आये थे और कहाँ लेकर जाओगे? अरे, वह तो महाराज जैसे क्लबमें खेलनेके लिए तुम्हारे सामने पैसे रख दिये जायँ, ऐसे ही संसारकी वस्तु तुम्हारे सामने रखी जाती है। न लेकर आये हो और न लेकर जाओगे। नंगे आये हो और नंगे होकर जाओगे!! बिलकुल नकली मामला है झूठा है कि हमारा इतना!! यह भी व्यर्थ है। और, हमने इतना दिया, हमने यह किया—यह सब झूठा है, व्यर्थ है। '**भ्रमात्संसारवानिव**'। यह हमारे नाते-रिश्तेदार, इतना विस्तार! कोई काममें आनेवाले नहीं हैं।

तो, हमने कारखाना बनवाया, यह कर्त्तापन और हमने विश्व-विद्यालय बनवाया—यह कर्त्तापन, हमने दान किया-यह कर्त्तापन, हमने धर्म किया-यह कर्त्तापन और हम बड़े भारी भोक्ता! क्या समझते हो? हम कितनी बड़ी मोटर पर चलते हैं। कैसे मकानमें रहते हैं! कैसे-कैसे

भोग करते हैं। इतने सुखी हम रह चुके। यह सब झूठा अभिमान है। जरा अपने बारेमें विचार करो। 'आत्मा' माने क्या? 'आत्मा' माने जाग्रत्-अवस्थामें जो रूमालको देख रहा है। इन आँखोंके द्वारा इस रूमालको देखनेवाला, इस हाथके द्वारा रूमालको पकड़नेवाला, इस त्वचाके द्वारा रूमालको छूनेवाला, इस जीभके द्वारा बोलनेवाला कौन है? तुम हो कि नहीं? इसीका नाम 'आत्मा' है। जो आँखसे देख रहा है, सो आत्मा, जो कानसे सुन रहा है, सो आत्मा, जो त्वचासे छू रहा हैं, सो आत्मा, जो नाकसे सूँघ रहा है, सो आत्मा, जो जीभसे बोल रहा है, सो आत्मा। *'येनेच्छते सर्वं पीड़न जिघ्रति व्याकरोति च।'* यह जाग्रत्-अवस्थाका आत्मा।

और, सपनेमें जो सपना बनाकर देखता है, वह कौन है? तुमने सपना देखा कि नहीं? जो जाग्रत्में रूमालको देख रहा है, वही तो सपनेको देखता है न! इसका नाम 'आत्मा' है। अच्छा, जब न जाग्रत् दिखता है और न सपना दिखता है, उस समय अन्धकारको कि इतनी देर हमको कुछ दिखायी नहीं पड़ा—इस दिखायी न पड़नेको किसने देखा? तुमने देखा कि नहीं देखा? यही जो जाग्रत्-स्वप्न, सुषुप्ति—तीनोंमें देखनेवाला है, उसीका नाम 'आत्मा' है। 'आत्मा' शब्दका अर्थ ही ऐसे समझाया जाता है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

चार धातुसे व्याकरणकी रीतिसे आत्मा शब्द बनाया गया—जो जाग्रत्-अवस्थामें विषयोंका भोगकर रहा है-*अति इति आत्मा* और जो स्वप्नमें विषयोंकी कल्पना करके उनको ग्रहण करता है, उसका नाम आत्मा और जो सुषुप्तिमें भी रहता है, उसका नाम 'आप्नोति' आत्मा और जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके अलग-अलग होनेपर भी एक रहता है, उसका नाम 'आत्मा' है। तो जाग्रत्का विषयी, स्वप्नका कल्पनाशील, सुषुप्तिका अभाव-द्रष्टा और तीनोंमें एक—इसका नाम है आत्मा।

साक्षीका स्वरूप

यह आत्मा कैसा है? बोले कि, **आत्मा साक्षी:**-यह आपका आत्मा साक्षी है। 'साक्षी' माने *साक्षात् पश्यति। साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्।* 'साक्षी' शब्द संज्ञा है। यह किसके लिए है? जो साक्षात् देखता है अर्थात् इन्द्रियोंके बिना भी देखता है, मनके बिना भी देखता है। बिना किसी विषयके, बिना किसी करणके और बिना किसी कान्तिके देखना, देखना, देखना। जो विषयोंको देखता है, इन्द्रियोंको देखता है और दोनोंके अभावको भी देखता है और देखनेके लिए जिसको किसी दूरबीन, खुर्दबीनकी जरूरत नहीं पड़ती। पाणिनिका यह सूत्र ही है, *'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्'*—संज्ञामें यह 'साक्षी' शब्द बनता है और जो खुद देखे, स्वयं देखे। विषय हों कि न हों और देखे। औजार हों कि न हों और देखे— उसका नाम होता है 'साक्षी'। तो आत्मा माने आप कौन हैं? आप देखनेवाले हैं।

अब दूसरी बात देखो! बोले कि साक्षी तो है परन्तु, जिस दुनियाको यह देखता है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको—सत्त्व, रज, तमको यह देखता है—वह कितनी है, इस बातका विचार करो! जैसे हम आँखके झरोखेसे इस घड़ीको चौकी पर देखते हैं और शरीरमें बैठकर हम घड़ीको देख रहे हैं। तो घड़ी हो गयी धरती पर, चौकी पर और 'मैं' हो गया शरीरमें। अब प्रश्न यह हुआ कि यह जो आत्मा साक्षी है, यह कहाँ बैठकर कहाँ रहनेवाले दृश्यको देख रहा है? वह चीज जिसको आप देख रहे हैं, वह किस अधिष्ठानमें है, किस आधारमें है? उसके रहनेकी जगह कौन-सी है? तो अब यदि आप घड़ीकी दृष्टिसे अपनेको द्रष्टा समझेंगे, साक्षी समझेंगे तो वह चीज कहाँ है? वह चीज जड़-प्रकृतिमें है भला। यह घड़ी कहाँ है? जड़ प्रकृतिमें है। ये जड़वादी हैं। अच्छा, सांख्यकी दृष्टिसे समझेंगे तो घड़ी कहाँ है? घड़ी प्रकृतिके परिणाम स्वरूप पंचभूतमें बनायी गयी है। पंचमहाभूतमें घड़ी कल्पित है, इसलिए यह घड़ी पंचभूतमें है। अब आप योगीकी दृष्टिसे साक्षी बन जायेंगे तो आपको क्या मालूम

पड़ेगा ? देखो, घड़ी तो है पंच महाभूतमें—इसमें कोई शंका नहीं। परन्तु, जब प्रमाण-वृत्ति रहेगी, तब प्रमाण-वृत्तिके द्वारा पंचभूतमें घड़ी दिखायी पड़ेगी। सांख्य और योगके मतमें घड़ी कल्पित है। आपके मनमें कल्पित नहीं है। पंचभूतमें कल्पित है भला! और दिखायी कैसे पड़ेगी ? बोले कि पहले तो आँख होनी चाहिए और यदि समाधि हो जायेगी तो आँख होने पर भी घड़ी नहीं दिखायी पड़ेगी। तो आँख होने पर समाधि लगी हुई न हो। द्रष्टा वृत्ति-सारूप्यको प्राप्त हो। आँखमें घड़ीको देखें। आँखने घड़ीको उठाकर भीतर किया, घड़ी आकार वृत्ति हुई और उस घड़ी आकारवृत्ति पर द्रष्टा चढ़ बैठा। वृत्तिसारूप्य हो गया—मैं घड़ीको देख रहा हूँ। घड़ी न हो, तब भी नहीं दिखेगी और आँख न हो, तब भी नहीं दिखेगी और चित्त-वृत्ति न हो, तब भी नहीं दिखेगी।

एक योगीराजसे हमारा पाला पड़ा। विदेशमें उनका बड़ा आदर है। लेकिन, हमको दो अनुभव हुआ। उनको यह मालूम नहीं था कि वृत्ति-निरोधका नाम समाधि है कि चित्त-निरोधका नाम समाधि है ? हमको तो बड़ा आश्चर्य हुआ! चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है। चित्तका निरोध नहीं। अगर चित्तका निरोध हो जायेगा तो फिर व्युत्थान दशा आवेगी ही नहीं! चित्तकी वृत्ति माने व्यवहार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अस्मिता, राग, द्वेष, प्रमाद, स्मृति, विपर्यय, निद्रा। तो इन वृत्तिके निरोधका नाम योग है, चित्तके निरोधका नाम योग नहीं है।

एक दूसरी बात उनको यह नहीं मालूम थी कि *'तदा द्रष्टुं-स्वरूपेऽवस्थानं'*—निरोध दशामें द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है। स्वरूपका अर्थ चेतन साक्षी है कि स्वरूपका अर्थ निरुद्ध चित्त है ? अब शिक्षण लेनेके लिए तो उनके पास विदेशी आते थे।

अब महाराज, हम आपको यह सुनाते है कि वेदान्तमें प्रश्न यह है कि द्रष्टा, जिन चीजोंको देखता है—विषयोंको देखता है, इन्द्रिय-वृत्तियोंको देखता है, अन्तःकरण-वृत्तियोंको देखता है, अन्तःकरणमें कल्पित विषयोंको देखता है, अन्तःकरणकी शान्तिको देखता है। तो जिन

चीजोंको यह द्रष्टा देखता है, वे चीजें हैं कहाँ? अन्य स्थानमें हैं? एक जगह पर ये चीजें हैं और एक जगह पर यह द्रष्टा है? एक कालमें ये चीजें हैं और एक कालमें यह द्रष्टा है? ये चीजें जड़ हैं और द्रष्टा चेतन है। द्रष्टा-दृश्यका यही मतलब है! अरे भाई, अभी वेदान्तसे थोड़ा दूर हो! वेदान्तका कहना है कि यह जो आत्मा साक्षी है, यह साक्षी हो नाना वस्तुओंके रूपमें दिखायी पड़ रहा है। *विभुवं भवति, विपरीतं भवति, विरुद्धं भवति।* 'वि' माने विविध, विपरीत, विवर्त। अपने स्वरूपके विपरीत होकर यह स्वयं ही भास रहा है। यह अपने आपमें अपने आपसे अपने आपको ही विविध दृश्यके रूपमें देख रहा है अर्थात् समग्र देश, समग्र, काल, समग्र वस्तु इस द्रष्टाकी दृष्टिमें ही है। माने इन वस्तुओंका अधिष्ठान द्रष्टा ही है।

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने पूछा—शान्तनु! बताओ तो सही कि दो चीज जब अलग-अलग होती हैं, तब बीचमें एक तीसरी चीजका होना अनिवार्य है? दो अंगुली अलग-अलग हैं तो दोनोंके बीचमें दोनोंका अभाव है। तो दृश्यसे द्रष्टा अलग है। यह तो ठीक है। तब फिर दृश्य और द्रष्टाके बीचमें वह कौन-सी चीज हैं—विभाजक रेखा कौन-सी है, जो बता देती है कि यहाँसे इधरको दृश्य है और यहाँसे इधरको द्रष्टा है? अन्तर द्रष्टा है और बाहर दृश्य है क्या? ऐसा है तो देशका भेद है। अच्छा, पहले द्रष्टा है और पीछे दृश्य है—ऐसा है क्या? तब तो कालका भेद हुआ। अच्छा, द्रष्टा चेतन है और दृश्य जड़ है? तब तो वस्तुका भेद हुआ।

तब हमने ऐसा सोचा कि जैसे ज्ञेय होता है भीतर और ज्ञाता होता है अहं और दोनोंके बीचमें दृष्टि होती है, तो ज्ञाता और ज्ञेयके बीचमें जैसे एक वृत्ति होती है, जो ज्ञेयके द्वारा ज्ञेयकी अपेक्षासे हमको ज्ञाता बनाती है। *अहं घटं जानामि, पटं जानामि।* इसी प्रकार द्रष्टाके सामने भी एक वृत्ति होगी, एक दृष्टि होगी, जो दृश्यका समर्पण द्रष्टाको करती होगी और द्रष्टा एक वृत्तिके द्वारा दृश्यको जानता होगा। यह तो मैंने

उनके प्रश्नका खुलासा किया। हमको तो जवाब नहीं आया। तब उन्होंने स्वयं बताया।

देखो, अपने गुरुकी महिमा बताते समय हम अपनको ही सर्वज्ञ बता दें कि हम पेटमें-से ज्ञान लेकर आये थे, हमारे गुरुजीने हमको क्या बताया? तो यह गुरुकी महिमा बढ़ाना नहीं है, घटाना है। आप यह बताओ कि हमारे अन्दर काम था, गुरुजीने कैसे मिटाया, क्रोध था, सो कैसे मिटाया। हमारे अन्दर लोभ था, गुरुजीने कैसे मिटाया। हमारे अन्दर अज्ञान था गुरुजीने कैसे मिटाया। अगर आप यह बताते हो तब तो आप गुरुकी महिमा बताते हो। और महाराज, आप अपनेको पहलेसे ही सर्वज्ञ मान करके बताते हो कि यह सब तो हम जानते ही थे, तो गुरुकी महिमा क्या बताओगे? जो अपना दोष, गलती कभी मानता ही नहीं है, उसको गुरुकी क्या जरूरत? वह तो बिलकुल स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है।

तो, नारायण! बाबा बोले कि देखो, द्रष्टा और दृश्यके बीचमें द्रष्टाके स्वरूपका जो अज्ञान है, वही दोनोंकी विभाजक रेखा है। आपके ध्यानमें यह बात जल्दी आवे कि नहीं आवे! हम यह थोड़े ही कहते हैं कि चालीस वर्षमें जो बात हमने समझी है वह आप आज ही समझ लें। लेकिन ऐसा संस्कार होना चाहिए। और जो महाराज, घर-द्वार छोड़कर इसीमें लग गये; कितनी रातें जागकर और कितने दिन रोकर, जंगलमें भटक कर, महात्माओंका सत्संग करके जो ज्ञान प्राप्त किया है—वह यदि आपको घरमें रहते-रहते प्राप्त करना है और उसमें थोड़ा दिन लगे तो उसमें घबरानेकी क्या जरूरत है? आज ही ज्ञानी बन जानेकी क्या जरूरत है? उसके लिए अभिमान करनेकी क्या जरूरत है? बोले कि नहीं, हम तो व्याख्यान सुनकर आये! बस, हो गया महाराज। तो बाबू, यह दूसरेका हल किया हुआ प्रश्न काम नहीं देता। स्वयंको हल करना पड़ता है।

आपको यह बात मालूम नहीं होगी या ध्यान नहीं गया होगा कि जैन, सांख्य, योगके सिद्धान्तमें दृश्य एक तत्त्व है और द्रष्टा एक तत्त्व है। तो उसका फल यह निकलता है कि दृश्यसे अलग द्रष्टा है और द्रष्टासे

अलग दृश्य है। माने द्वैत है, भेद है। परन्तु, वेदान्तमें दो तत्त्व अलग-अलग नहीं तब फिर इस निष्कर्ष पर पहुँचनेके लिए दृश्य उस अधिष्ठानमें दिख रहा है, जिसमें नहीं है और दृश्य, उसके द्वारा प्रकाशित हो रहा है- जिसमें नहीं है। अपने अभावके अधिष्ठान और प्रकाशकमें प्रकाशित होनेके कारण दृश्यका अस्तित्व नहीं है। इसलिए, विवेककालमें दृश्यसे न्यारा तो द्रष्टा, साक्षी होता है। परन्तु, द्रष्टा साक्षीके स्वरूपसे दृश्य न्यारा नहीं होता है। इसलिए, दृश्य मिथ्या है। इसलिए दृश्यकी अपेक्षासे जो द्रष्टापना है, सो भी मिथ्या है। दृश्य और दृश्य-सापेक्ष द्रष्टापना दोनों मिथ्या हैं और द्रष्टाका पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म है। ब्रह्मत्वेन द्रष्टा अबाधित है और दृश्य-सापेक्षत्वेन द्रष्टा भी बाधित है। इदं, अहं तो तत्त्व हैं। 'इदं' तो मिथ्या है ही। 'इदं'की अपेक्षासे जो 'अहं' है, वह भी मिथ्या है। लेकिन 'इदं' स्वरूपसे मिथ्या है और 'अहं'का व्यावहारिक स्वरूप मिथ्या है, पारमार्थिक स्वरूप मिथ्या नहीं है।

देखो, साक्षी और प्रकाशमें भी भेद होता है। 'साक्षी' माने केवल प्रकाशता है, केवल जानता है, केवल देखता है और 'प्रकाशक' माने जिसके प्रकाशसे दृश्य प्रकाशित हो रहा है। तो, नारायण! यह आत्मा सबको जानता है और जाननेके साथ-साथ यह अधिष्ठान है और अधिष्ठान होनेके साथ-साथ यह परिपूर्ण है, इसमें द्वैतपना नहीं है। आधार-आधेयका भेद नहीं है।

पूर्णता तीन तरहकी होती है—जैसे घड़ा है। तो घड़ेके वजनमें माटी परिपूर्ण है। घड़ेकी लम्बाई-चौड़ाईमें माटी परिपूर्ण है और घड़ेकी जितनी उम्र है, उसमें माटी परिपूर्ण है। माटी है कारण और घड़ेकी शकल-सूरत है कार्य। लेकिन माटीमें परिणाम होकर घड़ा बना है? बिलकुल नहीं। माटी उसमें ज्यों-की-त्यों है। वेदान्तमें केवल मृत्तिकाको घड़ेका उपादान नहीं माना जाता है। घड़ेमें माटी है, पानी है, गर्मी है, हवा है, अवकाश है। तब वह घड़ेके रूपमें भास रहा है। माने पंचभूतमें यह घड़ेकी एक शकल-सूरत गढ़ी हुई है। 'पूर्ण'का अर्थ यह होता है कि लम्बाई-

चौड़ाईमें भरपूर नहीं, उम्रमें भरपूर नहीं, शकल-सूरतमें भरपूर नहीं। ऐसा भरपूर, ऐसा भरपूर ठसाठस ठोस—जिसमें द्वैतकी गन्ध ही नहीं है।

एकः मुक्तः चिद् अक्रियः। 1.12

तो यह आत्मा पूर्ण है। 'पूर्ण'में न कोई चीज पैदा होती है और न पहले कभी थी। यह 'एक' है दूसरे यह 'मुक्त' है—किसी नाम, रूपमें बँधा हुआ नहीं है और आगे क्या है कि 'चित्'—*चेतसि स्वयं प्रकाशते इति 'चित्'।*

जैसे बिना मिट्टीके घड़ा नहीं हो सकता। लेकिन घड़ेका मिट्टीसे व्यतिरेक है। माने बिना घड़ेकी मिट्टी हो सकती है। तो यह द्रष्टा सम्पूर्ण दृश्यमें अन्वित है और सम्पूर्ण दृश्यसे व्यतिरिक्त है। नहीं-नहीं, यह अन्वय-व्यतिरेक जो है, यह वेदान्त समझानेकी एक प्रक्रिया है। दूसरी अवस्था नहीं, दूसरी वस्तु नहीं, दूसरा परिणाम नहीं। तब फिर किसमें किसका अन्वय होगा और किससे किसका व्यतिरेक होगा। इसलिए व्याप्य-व्यापक भाव, अन्वय-व्यतिरेक भाव, द्रष्टा-दृश्यभाव, कार्य-कारणभाव—यह सारा-का-सारा असली नहीं है, नकली है।

'चिद्क्रियः'—यह आत्मा क्या है? बोले कि स्वयंज्योति है। 'चित्' माने स्वयं-ज्योति। कर्ममें, भोगमें, देखनेमें जो संस्कारका चयन कर ले, उसकी याद करे—उसका नाम होता है 'चित्'। यह गँवारू अर्थ हुआ। यह जो हमको पहले देखे हुएकी याद है, दूसरी जगह देखे हुएकी याद है, दूसरेको देखनेकी याद है—यह याद किसमें है? यह स्मृति अन्तःकरण विशिष्ट चेतनमें ही रहती है। इसलिए इसको 'चेतन' बोलते हैं। लेकिन 'चेतन'का अर्थ यह नहीं है। वह तो महाराज दमदम दमकता रहता है। यह सृष्टि क्या है? यह सृष्टि चेतनकी चमक है, द्रष्टाकी दमक है। इसमें देश-काल-वस्तु नहीं। चमक रहा है स्वयं ही 'चित्'।

'अक्रियः' माने इसमें क्रिया नहीं है। और, यह आत्मदेव असंग है। किसीके साथ यह संजन नहीं करते माने किसीके साथ यह मिलता नहीं है। न चरके साथ, न अचरके साथ, न देवताके साथ, यहाँ तक कि यदि

कभी ब्रह्माके साथ एक होओगे तो ब्रह्माको छोड़कर निकल आओगे। तो यदि कहीं विष्णुके साथ भी एक होओगे, माने यदि कहीं सगुण ईश्वरके साथ भी तुम्हारा सायुज्य होगा तो एक दिन उसको भी छोड़कर निकल आओगे। जहाँ दूसरेके साथ मिलोगे, वहाँसे निकल आओगे। महाप्रलयमें-से निकल आओगे, ईश्वरमें-से निकल आओगे। यह स्वयं प्रकाश आत्मा कहीं भी अपने प्रकाशका लोप करके किसीके साथ मिलनेवाला नहीं है। सब अपना लोप कर दें, परन्तु यह अपना लोप करनेवाला नहीं है। चेतन है, अपरिणामी है और असंग है। यह ऐसा असंग नहीं है जैसा जलमें कमल रहता है। जैसे नीलिमामें आकाश रहता है, ऐसा असंग है। दोनोंमें फर्क क्या है? वहाँ जल भी है और कमल भी है। जलरूप अन्य वस्तुसे कमल असंग है और यह नीलिमा और आकाश—ये दो चीज नहीं है। अविद्यमान वस्तुसे आकाश असंग है। खपुष्पवत् असंग है। वन्ध्या-पुत्रसे वन्ध्या असंग है। जब है ही नहीं, तब संगका क्या सवाल है?

'निःस्पृह'—यह चीज हमको मिल जाये, यह नहीं। देखो, 'स्पृहा' तीन तरहसे होती है। जो खो गयी, सो मिल जाय—एक स्पृहा है और जो है, सो बनी रहे-यह दूसरे तरहकी स्पृहा है और जो नहीं है सो आ जाये—यह तीसरे तरहकी स्पृहा है। हमें किसीसे माँगना नहीं, पर आ जाय तो रखनेमें क्या हर्ज है? इसका नाम भी 'स्पृहा' है। हमको इसकी जरूरत है, इसका नाम भी 'स्पृहा' है। माँगना भी 'स्पृहा' है। चली जाय और लौटानेकी इच्छा हो जाय, तो भी 'स्पृहा' है। दाँत बने रहें, बाल बने रहें—यह भी स्पृहा है। अरे, आपको क्या सुनावें! हमारी बुद्धि ऐसी बनी रहे—यह भी 'स्पृहा' है। जैसे आकाशमें भूत-वूत होते हैं, ऐसे ही ये विचार होते हैं जिनको पकड़कर लोग समझते हैं कि हम बड़े विचारक। यह हमारी मति ऐसी है जैसे गाँवमें वेश्या। आयी और गयी। नारायण! कितनी मतियाँ अब तक आयीं और गयीं, कितने विचार अबतक आये और गये और कितनी शान्तियाँ अबतक

आयीं और गयीं। कौन तुम्हारे साथ रहा? है कोई ऐसा सिद्धान्त है कोई ऐसा दृष्टिकोण, है कोई ऐसा ज्ञान—जो महाराज मतिको उठाकर चिदाकाशमें फेंक दें। यह मति न मेरी है, यह मतिवाला न मैं हूँ और न यह मति सच्ची है। पकड़कर व्यर्थ ही बैठे हुए हो!

भ्रमकी करतूत !

'**भ्रमात्संसारवानिव**' (1.12)। तुम ऐसे शान्त हो जाओ। मति नहीं, मतिका अभाव नहीं। जहाँ संग नहीं, संगका अभाव नहीं। जहाँ क्रिया नहीं क्रियाका अभाव नहीं। जहाँ संस्कार नहीं, संस्कारका अभाव नहीं। जहाँ एक नहीं, जहाँ दो नहीं। जहाँ पूर्णता नहीं जहाँ अपूर्णता नहीं। 'भ्रमात्संसारवानिव'। अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण तुम संसारी बने भटक रहे हो। असलमें संसारी बने नहीं हो। अपने स्वरूपके अज्ञानसे अपनेको संसारी मान लिया है। आत्माका जैसा स्वरूप बताया गया उसके विपरीत जो है, वह संसार है। जैसे अनात्माको आत्मा समझना संसार है। साक्षीको दृश्य समझना संसार है। विभु अधिष्ठानको अध्यस्त समझना संसार है। पूर्णको परिच्छिन्न समझना संसार है। एकको अनेक समझना संसार है। मुक्तको बद्ध समझना संसार है। चेतनको जड़ समझना संसार है। अक्रियको क्रियावान् समझना संसार है। असंगको संगी समझना संसार है और अस्पृहको स्पृहावान् समझना संसार है। शान्तको अशान्त समझना संसार है। चलो यहाँ तक कि बात तो बिलकुल पक्की। अब एक जो खास बात यहाँ कही गयी है, वह है 'भ्रमात्संसारवानिव'। यह जो संसार अभी आपको सुनाया, आत्मस्वरूपके विपरीत—क्या आपको वह संसार लग गया है? तो बोलते हैं कि नहीं, आप भ्रमसे अपनेको संसारी समझते हैं। क्या सचमुच संसारी हो गये हैं? आप अपनेको भ्रमवश संसारी-सा मानते हैं, संसारी हैं नहीं। अच्छा, अब इसका फलितार्थ, निष्कर्ष देखो—

जैसे कोई बालक आकाशको घड़ेके भीतर कैद समझ ले और घड़ेके साथ उसको चलनेवाला माने—हम बचपनमें ऐसा मानते थे कि

जैसे घड़ा चलता है, वैसे घड़ेमें रखा हुआ गुड़ भी चलता है और घड़ेमें रखा हुआ पानी भी चलता है, घड़ेमें रखी हुई शराब भी चलती है, तो घड़ेमें बन्द जो अवकाश है पोल है, वह भी घड़ेके साथ-साथ चलता है। तो जब बड़े हुए तो यह बात समझमें आगयी कि घड़ा चलता है, पर घड़ेके भीतर जो अवकाश है, वह नहीं चलता। क्योंकि आकाश तो सब जगह विद्यमान है। अब आप देखो कि यह शरीर आपका एक घट है। घड़ाके माने घड़ेकी तरह नहीं होता है। 'घड़ा' माने घटित, गढ़ा हुआ। यह शरीर माताके पेटमें गढ़ा गया है, इसलिए यह शरीर भी एक घट है। अब इसमें जो अन्तःकरण है, वह पानीकी तरह है। अब उसमें आकाश अथवा मेघाकाश प्रतिबिम्बित होता है। तो जलमें प्रतिबिम्ब आकाशको 'जीव' बोलते हैं और मेघमें प्रतिबिम्बित जो आकाश है, उसको 'ईश्वर' बोलते हैं। परन्तु, यह घड़ेमें जो घटावच्छिन्न आकाश है, आकाश है ही वास्तवमें वह उसको घटकी उपाधिमें घटावच्छिन्न बोलते हैं और अवच्छिन्न और अनवच्छिन्नका भेद जिसमें नहीं होगा—उस अखण्ड आकाशको 'महाकाश' बोलते हैं। तो 'महाकाश' ब्रह्म है, 'घटाकाश' आत्मा है और जल प्रतिबिम्बित मेघमें जो आकाश है वह 'ईश्वर' है। ऐसा चार भेद पंचदशीकारने किया है।

हम आपको एक खास जानकारी देते हैं—जैसे यह शरीर एक जगहसे दूसरी जगह पर जाता है तो उसके साथ आत्मा एक जगहसे दूसरी जगह नहीं जाता है। ब्रह्म भी एक जगहसे दूसरी जगह पर नहीं जाता है। आपके घरसे भारतीय विद्या भवनमें आकाश नहीं आता। वह तो जैसा आपके घरमें आकाश है वैसा ही भारतीय विद्या भवनमें आकाश है। आपका शरीर ही चलकर आया। आत्मा ब्रह्म इस शरीरके साथ चलकर नहीं जाता है। अच्छा, आप कहो कि आप स्वर्ग-नरकमें जायेंगे! तो स्वर्ग-नरकमें आपका आत्मा अथवा ब्रह्म स्वर्ग-नरकमें नहीं जायेगा। तो न तो आप इस शरीरके साथ चलकर घरसे बाहर जाते हैं। सब जगह आकाशकी तरह मौजूद जो ब्रह्म है, सो आप हैं। एक शरीरसे निकलकर

दूसरे शरीरमें जो जाता है, वह भी आप नहीं हैं और जो नरक-स्वर्गमें जाता है, सो भी आप नहीं है।

अच्छा, जो अपनेको पापी-पुण्यात्मा मान रहा है, वह पाप-पुण्यकी धारा अन्तःकरणमें बह रही है। वह तो जलाकाशमें है। अच्छा, जो आपका नियन्ता मालूम पड़ता है, वह तो मेघाकाशमें है। तो न आप पापी हैं, न पुण्यात्मा हैं। न सुखी हैं, न दुःखी हैं। न स्वर्ग-नरकमें जाने-आनेवाले हैं। न आपका पुनर्जन्म है। आपका आत्मा ब्रह्म है। तो जब आपने भ्रमसे अपनेको संसारी मान लिया तब भी आप संसारी नहीं हुए। आकाश चाहे अवच्छिन्न कहो, चाहे अनवच्छिन्न कहो—एक ही है, वैसे अन्तःकरणसे अनवच्छिन्न परमात्मा ब्रह्म कहो—वह तो बिलकुल एक है। वह न तो कलकत्ता, मुम्बई आता-जाता है, न नरक-स्वर्ग आता-जाता है। न ही पुनर्जन्ममें आता-जाता है, न जन्मता-मरता है। तब यह क्या है? बोले कि 'संसारवान् इव'—यह मन ही कल्पना करता है कि अहा, देखो! हम कलकत्तामें आ गये या मुम्बईमें रह रहे हैं। यह हमारा पुनर्जन्म हो रहा है, यह हम सुख-दुःख भोग रहे हैं। मनकी अवस्थाओंमें मैं-पना होनेके कारण 'मैं'में कुछ लौकिक और कुछ शास्त्रीय कल्पनाएँ होती हैं। हम घरसे भारतीय विद्या भवनमें आये—यह लौकिक कल्पना है और हम शरीरमें-से निकलकर स्वर्गमें आये, नरकमें आये और स्वर्ग-नरकमें-से उतरकर शरीरमें आये—यह शास्त्रीय कल्पना है। ये शास्त्रीय कल्पनाएँ भी कल्पनाएँ ही हैं। यह तो मनुष्य अपने परिच्छिन्न जीवनमें भी समासक्त होकर अनर्थ न करने लगे, इसके लिए शास्त्र उनका वर्णन करता है।

कल हम भक्ति-दर्शन पढ़ रहे थे। तो उसमें एक प्रश्न उठाया गया था कि एक पाप करनेपर धर्मशास्त्र कहता है कि 12 वर्षका प्रायश्चित करना चाहिए और भक्ति-दर्शन कहता है कि भगवन्नामके स्मरणसे, कथा-श्रवणसे वह दूर हो जाता है। पूर्व-मीमांसाने कहा कि यह तो अर्थवाद है। अर्थवाद है, भगवान्‌की भक्ति करवानेके लिए। इसपर भक्ति-दर्शनवालोंने कहा कि यह जो तुम्हारा 12 वर्षका प्रायश्चित है, वह भी

अर्थवाद है कि आदमी पाप न करे। यदि भक्ति करवानेके लिए वह अर्थवाद है तो पाप न करानेके लिए यह भी अर्थवाद है। है न नहले-पर-दहला। बोले भाई देखो, अर्थवाद नहीं है। भक्तिमें बड़ी ताकत है।

अब देखो—'भ्रमात्संसारवानिव'। अवच्छेदवादकी रीतिसे जो यह आत्मा है, यह कहीं आता-जाता नहीं। अनवच्छिन्न जो चेतन है, वह कर्मका साक्षी है, परिच्छिन्नताका साक्षी है, भोगका साक्षी है। इसलिए न उसमें पाप है, न पुण्य है, न सुख-दुःख है और न ही आना-जाना है। और, द्रष्टा जो है, उसकी भी यही गति है और ब्रह्मकी भी यही गति है। तब? यह मनीराम जो हैं, ये कुछ लौकिक और कुछ शास्त्रीय संस्कारसे अपनेको संसारवान् मानते हैं। तब क्या संसारवान् हो जाते हैं क्या? नहीं! भले ही बच्चा माने कि घड़ेका आकाश चलता है, लेकिन दरअसल आकाश चलता नहीं। इसलिए, दुनियाके बेवकूफ लोग चाहे जितना मानें कि आत्मा कहीं आता है, जाता है, पापी-पुण्यात्मा होता है, सुखी-दुःखी होता है; माननेके कारण वैसा मालूम तो होता है, परन्तु ऐसा होता नहीं है।

हमको महात्माओंके सत्संगसे, ईश्वरकी कृपासे यह समझमें आया। पहले जब आभासवादियोंसे सत्संग हुआ तो उन्होंने यही कहा कि अवच्छेदवादमें यह दोष है कि उसमें तो जन्म-मरण, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग—इनकी सिद्धि नहीं होती है। दृष्टि-सृष्टिमें तो ईश्वर भी सिद्ध नहीं होता है, अवतार भी सिद्ध नहीं होता है, मूर्तिपूजा भी सिद्ध नहीं होती है। सब अपनी ही दृष्टि है। सो यह सब सिद्धान्त गलत हैं। सही कौन-सा है? बोले कि आभासवाद सही है। क्योंकि, आभासवादमें आभासके रूपमें जीवात्मा है, उसमें पाप भी है, पुण्य भी है, सुख-दुःख भी है, जाना-आना भी है, जीव-ईश्वर भी है, नियम्य-नियन्ता भी है, अवतार मूर्तिपूजा भी है। सारे शास्त्रोंकी संगति लग जाती है। इसलिए यह विचार सागर वाला जो आभासवाद है, यह व्यवहारमें सर्वोत्तम है। हे नारायण! आप अपनेको आभास कब तक मानोगे? आप अपनेको परछाईं मानकर कब तक जिन्दा रह सकते हो? वह तो परछाईं है जो सबेरे-

शामको बढ़ जाती है और दोपहरको घट जाती है। आप वह नहीं हैं। तो आप आभास नहीं हैं।

अनुकूल साधन अनिवार्य

बोले—महाराज! आपने कहा और हमने सुना! बात एक कानसे घुसी और दूसरेसे निकल गयी। असलमें जो लोग ज्ञानकी कीमत नहीं चुकाते हैं, वे उसके मूल्यको समझनेमें कतराते हैं। अभी एक महात्माने सुनाया कि एक दिन एक सज्जन कहीं जा रहे थे। ईश्वरके मनमें मौज आयी तो उसके सामने आकर खड़ा हो गया और बोला कि देखो, मैं ईश्वर हूँ, तुम्हें दर्शन देने आया हूँ। तो उस आदमीने कहा कि तुम ईश्वर हो, इसमें क्या सबूत? हम कैसे मानें कि तुम ईश्वर हो? उसके मनके यह ख्याल ही नहीं कि हमारे सामने ईश्वर खड़ा है, मैं ईश्वरके दर्शन कर रहा हूँ। भगवान्ने कहा कि मैं ईश्वर हूँ, चलो तुमको अभी वैकुण्ठका दर्शन करा देते हैं। उसने कहा कि खूब हमको बनाते हो। तुम हमको दर्शन कहा करा सकते हो। कहीं मुफ्तमें कोई दर्शन हो जाता है? बड़ी भारी भक्ति करो, भगवान्का भजन करो। तब कहीं दर्शन होगा।

भगवान्ने सोचा कि बात क्या है कि यह हमको ईश्वर नहीं मानता और वैकुण्ठ दिखाना चाहते हैं तो देखना नहीं चाहता। उसने पूछा कि अच्छा, तुम हमको वैकुण्ठ ऐसे ही दिखाओगे कि कुछ कीमत देनी पड़ेगी। भगवान्ने कहा कि कीमत तो लेंगे भाई! यह जो टोपी तुम्हारे सिरपर है, वह हमको दे दो और हम वैकुण्ठ दिखा देंगे। वह बोला चल हट, तुम्हारे जैसे कई ठग आते-जाते हैं। हमारी टोपी लेकर वैकुण्ठ दिखावेगा। हमने हाथ जोड़ा ऐसे वैकुण्ठको, जिसके लिए टोपी देनी पड़ती है। अब भगवान् बेचारे बड़े दुःखी हुए कि न तो यह हमको भगवान् मानता है और न ही हमारे कहे वैकुण्ठ देखना चाहता है और वैकुण्ठ देखनेके लिए अपनी यह टोपी देनेको तैयार नहीं है। तो भगवान्को आया गुस्सा और उन्होंने कहा कि आजतक तो हम बिना साधन-भजनके

दिख जाते थे, मिल जाते थे। लेकिन आजसे यह शाप दे देते हैं कि जबतक कोई साधन, भजन नहीं करेगा, तबतक न मेरा दर्शन होगा और न वैकुण्ठका दर्शन होगा। आदमीने बड़ी भारी बेवकूफी की। मुफ्तमें मिलनेवाली चीजको कीमती बना दिया।

तो, असलमें जो चीज तुम्हारा अपना आपा ही है, स्वयं तुम हो और भूलके कारण ऐसा मान रहे हो कि मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं नरक-स्वर्गमें जाने आनेवाला, मैं सुखी-दुःखी, मैं संसारी, मैं परिच्छिन्न। तो उस भूलको मिटानेके लिए कीमत चुकानी पड़ती है। असलमें वह कीमत तुमने नहीं चुकायी है, इसीलिए यह बात समझमें नहीं आती है। नहीं तो फूलकी पंखुड़ी मसल देना कठिन है, आँखकी पलक गिराना कठिन है, परन्तु, इस संसारसे मुक्त हो जाना—यह कोई कठिन नहीं है।

एक दिन एक सज्जन हम पर नाराज हो रहे थे कि महाराज! आप न तो आँख बन्द करनेको बताते हो, न पीठकी रीढ़ सीधी करनेको बताते हो, न नाभिमें शून्यका ध्यान बताते हो, न इष्ट देवताका ध्यान बताते हो। बस आप तो यह चाहते हो कि लोग सुनते रहें और हम सुनाते रहें, हम सुनाते रहें। इसके सिवाय तो हमारी जिन्दगीके लिए तो कुछ देते नहीं।

नारायण! बात यह है कि वेदान्तकी दृष्टिसे यदि आप विवेक करके द्रष्टाके स्वरूपमें बैठ जाओगे तो केवल त्वं-पदार्थमें आप बैठोगे और यदि भक्ति करके परमेश्वरके ध्यानमें बैठ गये तो केवल तत्पदार्थमें बैठ जाओगे। समाधि लगानेसे आपका व्यक्तिगत जीवन, जितनी देर समाधि रहेगी उतनी देर तकके लिए शान्त हो जायेगा। यह ठीक है। और द्रष्टा होनेमें थोड़ा दोष भी है, सो भी आपको बताते हैं। हर पहलूसे बातको समझना चाहिए।

आपके घरमें आपकी ओर कोई गलत काम करने लगे तो केवल द्रष्टा होकर उसकी उपेक्षा कर सकते हैं? आपका बच्चा अगर कोई गलत काम करने लगे तो आप उसकी उपेक्षा करके रह सकते हैं? तो आपके मनमें जो काम, क्रोध, लोभ प्रबल होकर आते हैं, क्या आप द्रष्टा रहकर

उनकी उपेक्षा करते हैं। शरीरमें रोग होता है तो आप उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं, धनकी उपेक्षा नहीं करते हैं। तो आप धनकी कीमत ज्यादा समझते हैं, देहकी कीमत ज्यादा समझते हैं और आपके मनमें जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आते हैं—उनका मूल्यांकन कम करते हैं कि वे आपको कम दुःख देंगे। तो थोड़ी देरके लिए केवल चुप्प होकर बैठ जाना या केवल उनसे अलग हो जाना या केवल उनकी उपेक्षा कर देना यह आपके जीवनके लिए काफी नहीं है। आप हमारी बात सुन लो। हम बहुत जोर देकर आपसे यह बात कह रहे हैं कि यह हमारे समग्र संत-सम्प्रदाय जितने हैं, साधन-भजनको माननेवाले जितने सम्प्रदाय हैं—उन सब सम्प्रदायोंका यह निचोड़ है। उपेक्षा मत कीजिये! आप द्रष्टा हैं। त्वं-पद लक्ष्यार्थ हैं। परन्तु, समझनेके लिए हैं। व्यवहारमें उपेक्षा करनेके लिए नहीं हैं। व्यवहार-व्यवहारकी तरह करना पड़ेगा।

अब आप कहो कि हम ईश्वरके भरोसे पर बैठ गये। ईश्वर उसीकी मदद करता है, जो अपनी मदद करता है। ईश्वर हमारे अन्तःकरणमें, हमारे भावमें बैठकर हमारी मदद करता है। ईश्वर अपनी ओरसे मदद नहीं करता। ईश्वरका अपना अन्तःकरण ही नहीं है। कार्य उपाधि ईश्वरमें नहीं है। जब हमारा अन्तःकरण हँसता है, तब ईश्वर हँसता है। जब हमारा अन्तःकरण शुद्ध, निर्मल, प्रसन्न होता है, तब ईश्वर प्रसन्न होता है। तो, नारायण! भजनीयका भजन करके, भगवान्‌को देखिये और समाधि लगाकर अपने स्वरूपको देखिये। और, दोनोंमें जो एक अधिष्ठान है और एक स्वयं प्रकाश आत्म चैतन्य है, वह स्वप्रकाश आत्मचैतन्य परमेश्वर चैतन्यसे बिलकुल एक है। वेदान्त एक दृष्टि उत्पन्न करना चाहता है। वेदान्त न तो आपकी दृष्टिमें भक्ति डालकर ईश्वरमें लीन करना चाहता है और न तो वेदान्त आपकी दृष्टिको शान्त करके समाधिस्थ करना चाहता है। वेदान्त यह चाहता है कि आप दोनोंके यथार्थरूपको वृत्तिके द्वारा जानें और उस वृत्तिका उदय कैसे होगा? वह वेदान्तके श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे होगा।

यह श्रवण, मनन, निदिध्यासन—जो तीनों हैं, ये न तो वृत्तिकी ईश्वरमें लीनता हैं। लयमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन कहाँसे होगा? और, न तो समाधि हैं। क्योंकि, चित्तकी समाधिमें भी ये तीनों नहीं होगा। 'समाधि' माने निदिध्यासन नहीं होता। तो असलमें घटाकाश, महाकाश दोनों एक ही हैं। घटकी उपाधि रहते हुए भी जलकी उपाधि रहते हुए भी, जलमें प्रतिबिम्बित मेघके रहते हुए भी परन्तु, घटावच्छिन्न चैतन्य माने अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और समष्टि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और अनवच्छिन्न चैतन्य एक है। तो यह बात समझानेमें वेदान्तका तात्पर्य है कि आप संत, सद्गुरुके सम्मुख बैतकर और उसके द्वारा श्रवण करके यह आपके मनमें जो भ्रम है, उसको दूर कीजिये।

इसलिए, *'आवृत्ति अक्रदुपदेशात्'* बात तो एक बार समझनेकी है। परंन्तु, शंकराचार्य महाराजका इस व्याससूत्रके व्याख्यानमें कहना है कि देखोजी, वरको मारनेके लिए कन्याके साथ विवाह नहीं किया जाता है। इसलिए यदि समाधिमें बैठने पर अपनी ब्रह्मता न भासती हो, ब्रह्मज्ञान न होता हो तो समाधि लगानेसे कोई फायदा नहीं। यदि भक्ति करनेसे दूसरेमें महत्त्व-बुद्धि हो जाती है, अपने स्वरूपका ज्ञान न होता हो तो कोई फायदा नहीं। तो, नारायण! अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वृत्तिके साथ विवाह किया जाता है। इसलिए, जबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, तबतक आप वेदान्त-श्रवणके द्वारा इस वृत्तिको जाग्रत् कीजिये! समाधिमें मत जाइये। लयमें मत जाइये!! ईश्वरमें अपनेको लीन मत कीजिये। डूबिये मत! और समाधिमें मत जाइये, उपेक्षा मत कीजिये!! वेदान्तके श्रवण, मननके द्वारा ब्रह्मात्मैक्याकार-वृत्तिको उदय कीजिये! यदि संशय हो तो मनन कीजिये, विपर्यय हो तो निदिध्यासन कीजिये। अगर समझनेमें कोई भूल हो तो श्रवण करते चलिये। परन्तु, जबतक अखण्डार्थ-घीका उदय न हो जाय कि आत्मा ही ब्रह्म है 'अयमात्मा ब्रह्म' तबतक श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते जाइये। यही अन्तरंग साधन है।

अन्तरंग साधन

इस अन्तरंग साधनको किस तरहसे अपनाना चाहिए—इसके लिए जो श्लोक आगे बोलते हैं, वह पर्याप्त है। तो पुन: पुन: उसी बातकी चर्चा करते हैं। आप देखो, इस श्लोकमें क्या बात कही गयी है—यह संस्कृतके शब्द ऐसे हैं महाराज कि—

सत्सइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटें लगे, घाव करें गंभीर॥

आप देखो, आपकी आत्माके बारेमें केवल तीन बात कही जा रही है। दो बात समझकर छोड़नेके लिए है और तीन बात समझकर अनुभव करनेके लिए है। श्लोकमें कुल पाँच बात है।

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम्॥ 1.13

आभासोऽहं इति भ्रमं मुक्त्वा, बाह्यं अथ आन्तरम् भावं च मुक्त्वा; कूटस्थं बोधं अद्वैतं आत्मनं परिभावय।

यह कहते हैं कि बिना आभासके कोई वृत्ति नहीं होती है—ऐसा आभासवादियोंका मत है। जैसे देखो, 'यह घड़ीको जानता हूँ'—इसका नाम है 'आभास'। तो मैं औरत वाला, मैं मर्दवाला, मैं पुत्रवाला, मैं मकान वाला-यह जो वाला-वाला जुड़ गया है, यह ज्ञान गलत है। 'आभासोऽहं'का अर्थ यही है कि मैं कुछवाला हूँ। 'आभास' माने जो दुनियामें चीजें थीं, हैं, और होगी—उनके साथ अपना संसर्ग मानना, अपनेको तद्वान मानना। बनारसमें एक कहावत है कि जिसके साथ 'वान' लग जाता है, वह बड़ा बदमाश होता है। यह क्या मतलब? जैसे इक्कावान, गाड़ीवान। तो उसने कहा कि हाँ, मेहरबान।

तो, नारायण! आप बोध हैं, बोधवान नहीं। आप ज्ञान हैं, ज्ञानवान नहीं। यह वान जब लगता है—धनवान, देहवान-वहाँ उसको 'संसर्गाध्यास' बोलते हैं। 'संसर्गाध्यास' माने सम्बन्ध। तो 'आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा'—मैं दूसरेके साथ सम्बन्धवाला हूँ, मेरा किसीके साथ

सम्बन्ध है—इस अहंभावको छोड़ दो। इसका भी स्पष्टीकरण कर दिया। क्या? *बाह्यं अथ आन्तरम् भावं मुक्त्वा*—न बाहर वस्तुके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ो और न भीतरकी वस्तुके साथ सम्बन्ध जोड़ो। 'अहं देहवान्'—इसको छोड़ दो। 'अहं अन्तःकरणवान्'—इसको भी छोड़ दो। मैं धनवाला हूँ, मैं पाप-पुण्यवाला हूँ—यह बाहरवाली चीज और मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—यह भीतरवाली चीज, सबको छोड़ दो। कोई तुम्हारे साथ नहीं है। जो चीज आती है, जाती है-वह तुम्हारी नहीं है। नोटको अपना मत मानो भाई! वह तो व्यवहार चलानेके लिए दूकान पर आया है और फिर दूसरी दूकान पर जानेके लिए आया है। तुम्हारी तिजोरीमें रखा गया है, परन्तु, वहाँसे निकलकर दूसरेकी तिजोरीमें जानेके लिए है। जब उसको अपना मान बैठते हो, तब संसर्गाध्यास हो जाता है। मुँहमें तुमने रोटी डाली है, परन्तु रोटीवाला होनेके लिए नहीं। वह रोटी निकलनेके लिए है। अगर नहीं निकलेगी तो क्या होगा, आप जानते हैं? वह रोटी निकलनेके लिए है, आपको रोटीवाला बनानेके नहीं है।

आपको सुनाया होगा कि मरूस्थलमें एक राजा घोड़े परसे गिर पड़ा बेहोश। एक साधु उधरसे निकला। देखा, तो राजाको जगाया कि क्या बात है? 'प्याससे मर रहा हूँ महाराज'। 'अच्छा, ले पानी।' और साधुने आधा कमण्डलु पानी उसके मुँहमें डाल दिया। राजा होशमें आगया बिलकुल और बोला कि बड़ी कीमत है। साधु बोला कि राजा, एक बात तो बता कि यह जो आधा कमण्डलु पानी मैंने तुम्हारे मुँहमें डाला है, अगर यह न निकले तो क्या होगा? अरे महाराज पेशाब नहीं होगी तो फिर बीमार पड़ जायेंगे, फिर मरेंगे। वह बोला कि तब? तब क्या करेगा? राजा बोला कि तब फिर आपसे प्रार्थना करेंगे कि पानी निकालनेका उपाय कर दो तो आधा राज्य और दे देंगे। साधु बोला कि तेरे राज्यकी कीमत कितनी है, मालूम है! आधा कमण्डलु पानी। पेटमें गया तो जिन्दा हो गया और पेटमें रह गया तो मर गया। बस यही न! अरे, काहेको फूला-फूला फिरता है!!

क्यों फूला-फूला फिरे, जगत् में कैसा नाता रे।

क्या रिश्ता? क्या नाता?

तो बाहरी चीजको लेकर अभिमान और भीतरी चीजको लेकर अभिमान। भीतरी चीज क्या? मैं बड़ा विचारवान् हूँ, बड़ा युक्तिवाला हूँ, बड़ा बुद्धिमान् हूँ, बड़ा चतुर हूँ, बड़ा विद्वान् हूँ, बड़ा मतिमान् हूँ, बड़ा ज्ञानवान् हूँ। अबतक कितने-कितने विचार पकड़े और उनको आसमानमें उड़ा दिया। जैसे धनी लोग सोच सकते हैं कि हमारे पास कितने पैसे आये और हमने कितने दे दिये। हम यह बात सोच सकते हैं कि हमारे पास अब तक हजारों नहीं लाखों विचार आये और वे कहाँ सातवें आसमानमें डूब गये। जब आये, तब मालूम हुआ कि हम बड़े विचारवान् हैं। बिलकुल मौलिक विचार आया, परन्तु आज उसका पता नहीं। सोचने पर भी याद नहीं आते हैं। बाहरके पैसेको लेकर आप अभिमान करते हैं। विचारोंको, मतियोंको, मतोंको लेकर हम अभिमान करते हैं। परन्तु, ये हैं सब झूठे अभिमान!! आओ, आप अपने बारेमें विचार करो!

अपने बारेमें तीन बात सोचो—कूटस्थं, बोधं, अद्वैतं। ये तीनों मामूली बात नहीं है।

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय। 1.13

अरे मेरे बाप! अपने बारेमें विचार करो न! तुम कौन हो? देखो, एक तो तुम कूटस्थ हो। सब कुछ बदलता जाता है, परन्तु तुम नहीं बदलते हो। बचपन बदल गया, जवानी बदल गयी, बुढ़ापा बदल रहा है। बचपनमें कोई लड़कीवाले देखने आते तो घंटों किवाड़की ओटमें खड़े होकर सुनते कि लड़कीवाले लड़कीके बारेमें क्या बोलते हैं? कैसी गोरी है, कैसी सुशील है। एक वे भी दिन थे, बीत गये। तन बीत गया, मन बीत गया। काले बाल बीत गये। कितनी बार गरीबी आयी और कितनी बार पैसे आये। सब चले तो जा रहे हैं न! और मैं? मैं वही हूँ, मैं वही हूँ, मैं वही हूँ। इसको बोलते हैं 'कूटस्थ'।

सुनारके घरमें एक निहाय पड़ी थी। उसपर वह सोनेके जेवर

कूटकर तोड़ देता था, नया बना देता था। एक प्याली थी उसके पास। उसमें उसने कितने सोने गलाये और कितने नये-नये डिजाइन बनाये। आप विचार करो—आपका वह आत्मा जो कितनी शकल-सूरत बनी और कितने नाम बने और आप ज्यों-के-त्यों। हमारा नाम पहले क्या? आपको बतायें। 'बचवा'। हमारे माँ-बाप, दादा हमको बचवा कहते थे। फिर 'शान्तन' कहकर बुलाते थे, फिर 'शन्तन पण्डित' कहकर बुलाते थे, फिर शान्तनु कहकर बुलाते थे, 'शान्तनु बिहारी' कहकर बुलाते थे। कितने नाम देखे हैं। पण्डितजी हो गये, बाबाजी हो गये, स्वामीजी हो गये। कितने नाम बदल गये, कितनी शकलें बदल गयीं और अपना आपा ज्यों-का-त्यों कूटस्थ! यह भी न रहेगा, यह भी न रहेगा!!

तो 'कूटस्थ'से अपरिणामी सत्‌का बोध हुआ। न बदलनेवाली सत्ता आप हैं। तो क्या जड़ हैं? जड़ नहीं हैं, 'बोधम्'—आप ज्ञान-स्वरूप हैं। ज्ञानस्वरूप सत् हैं। ठीक है। क्या एक-एक इकाईके रूपमें होंगे? नहीं, 'अद्वैतं' आपके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं। हम संसारके ऊपर कोई परमेश्वर होंगे? नहीं। अन्तःकरणके भीतर कोई जीव होंगे? नहीं। हम कोई द्रष्टा होंगे? नहीं। हम कोई कारण-कार्य होंगे? नहीं। न हम व्यष्टि-समष्टि हैं और न कार्यकारण हैं और न तो उत्पत्ति, प्रलय हैं। तब क्या हैं? बोले कि 'अद्वैतं'-द्वैतनामकी कोई वस्तु है ही नहीं। तो क्या निकला? निर्विकार, अद्वितीय, ज्ञानस्वरूप सत् मैं हूँ। 'कूटस्थ' कहनेसे कर्मका सम्बन्ध कट गया, परिणाम कट गया। 'बोध' कहनेसे जड़का सम्बन्ध कट गया और 'अद्वितीय' कहनेसे द्वैत ही कट गया, तो सम्बन्धका सवाल नहीं रहा। सम्बन्ध जहाँ तक द्वैत होता है, वहीं तक होता है। अपना आत्मा ऐसा है। न इसमें कोई फेर-बदल है, न इसमें कोई अज्ञान, जड़ता है और न इसमें और न इसके आसपास द्वैत नामकी कोई वस्तु है। यह आपका वर्णन है।

'आत्मानं परिभावय'। एक बारमें समझ नहीं आती बात तो दो बार सुन लो, तीन बार सुनिये, चार बार सुनिये। यह बार-बार सुनना क्या लगा

रखा है ? देखो, श्वेतकेतुको जब एक बारमें यह बात समझमें नहीं आयी, तो हमारे उपनिषद्के ऋषिने यही बात नौ बार समझायी। आप नब्बे बार सुनिये! आप नौ सौ बार सुनिये। आप नौ हजार बार सुनिये!! लेकिन जबतक आपको यह बोध न हो जाय कि आत्मा कूटस्थ, अद्वैत बोधस्वरूप है, यह जड़ नहीं है, यह मरने-जीनेवाला नहीं है, यह पापी-पुण्यात्मा नहीं है, यह सुखी-दुःखी नहीं है, यह परिच्छिन्न नहीं है; यह केवल भ्रमके कारण संसारवाला बना बैठा है और जबतक यह भ्रम निवृत्त न हो जाय, तबतक बारम्बार सुनिये, समझिये, दोहराइये। पलायनवादी मत बनिये!! जो वैकुण्ठमें जाकर बचना चाहता है, वह पलायनवादी है और जो समाधिकी गुहामें किवाड़ी बन्द करके रहना चाहता है, वह भी पलायनवादी है। वेदान्त तो यह है महाराज कि वह बहादुरोंका, सूरोंका काम है। *'न गर्जति महाकश्चित् यावद् वेदांत केसरी'*। और सब शास्त्र तो गीदड़ोंकी हुआँ, हुआँ हैं और यह तो सिंहकी गर्जना है।

तो, नारायण! आप हृदय-गुफामें किवाड़ी बन्द करके मत बैठिये और भागकर राजाके दुर्गमें मत घुसिये। यहीं व्यवहारमें ऐसी निर्द्वन्द्वता प्राप्त होगी। यह काम करना नहीं छुड़ावेगा, यह भोग करना नहीं छुड़ावेगा, यह आपकी दुनियाको नहीं छुड़ावेगा। यह आपके भीतर जो भ्रम पैदा हो गया है, उस भ्रमको छुड़ानेके लिए एक विद्या है। यह साधन नहीं है, यह धर्म नहीं है। क्योंकि, साधन-धर्म किया जाता है। यह उपासना नहीं है, क्योंकि उपासना तो भावना है। यह अभ्यास नहीं है, क्योंकि इसमें तो दोहराना है। यह समाधि नहीं है, यह वैकुण्ठ नहीं है! यह किसीका कृपापात्र होना नहीं है। यह है सत्यका साक्षात्कार, परमार्थका साक्षात्कार!!

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम्॥

आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा-अलग-अलग फुटकर चीजोंको जो जाननेवाला है, उसका नाम है 'आभास'। चाहे जाग्रत्में जाने, चाहे

स्वप्नमें जाने और चाहे सुषुप्तिमें जाने। सुषुप्तिमें भी फुटकर रूपमें जो चीजोंको जाननेवाला है—मेरी सुषुप्ति, तेरी सुषुप्ति नहीं है-तेरी सुषुप्ति, मेरी सुषुप्ति नहीं है, तो अपनेमें अलगावका आरोप करके जो जाननेवाला है, वह आभास ही है। यह आभासवादी जो आभासको कर्ता मानते हैं—यही व्यक्तिमें आभास है, समष्टिमें आभास है, कार्यमें आभास है, कारणमें आभास है। तो कारणमें आभास होने पर उसका नाम 'ईश्वर' हो जाता है और कार्यमें आभास होनेपर उसका नाम 'जीव' हो जाता है और यह आभास देश-विशेषमें रहता है तो वैकुण्ठमें रहता है, अन्तःकरणमें रहता है। कारणमें जो आभास है, वह क्रियाशील होता है। कार्यमें जो आभास है, वह भी क्रियाशील होता है। परन्तु, जिसका आभास है, वह क्रियाशील नहीं होता। जैसे घड़ेमें पानी और पानीमें सूर्यका आभास। तो पानी हिलता है तो आभास भी हिल जाता है। परन्तु, सूर्य नहीं हिलता है। तो यह आभासवादियोंने एक ऐसा अन्तःकरणारूढ़ चेतन जोड़ दिया है। यह चैतन्य तो नहीं है, परन्तु वहाँ अन्तःकरण इतना स्वच्छ है कि उसकी स्वच्छता चैतन्यसे मिली-जुली सी रहती है। विवेक नहीं होता है। तो यह जो आभास है, यह मैं हूँ—इस भ्रमको छोड़ दो।

यह सुखी होता है, दुःखी होता है, पापी होता है पुण्यात्मा होता है; अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय मानता है। वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्था इसीमें रहती है। मैं वर्णी हूँ, मैं आश्रमी हूँ, मैं जन्मवान हूँ, मैं मरणवान हूँ। अविवेकके कारण सारा आभासका जो धर्म है, वह अपने आपमें आरोपित हो जाता है। यह एक प्रकारका अध्यास ही है। तो इस अध्यासको छोड़ो और बाहरके निमित्तसे, भीतरके निमित्तसे जो भाव पैदा होते हैं, उनको छोड़ो। मैं काला हूँ, गोरा हूँ, औरत हूँ, मर्द हूँ, यह बाहरका भाव है और मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ—यह भीतरका भाव है। इनको छोड़ो।

●

प्रवचन : 16

'कूटस्थ' : शाब्दिक अर्थ एवं व्याख्या

वैसे अपनेको जाननेकी जरूरत नहीं रहती है। यह तो दु:खका झगड़ा लग गया न बीचमें, तभी अपनेको जाननेका सवाल पैदा हो गया। जो नहीं है, वह अपनेको मानने लग गये। यह आपके बेटे, आपकी बेटी, आपका मकान, आपका धन, यह आपका ब्राह्मणपना, यह आपका मनुष्य-पना—यह सब कुछ आपकी सेवा करते हैं कि नहीं? आपके लिए भी कुछ निकलता है कि नहीं? इनके साथ बँध तो गये भाई! लेकिन अपने बारेमें भी तो सोचो!!

बोले कि आत्मा कैसा है? 'कूटस्थ' है। यह 'कूटस्थ' शब्दका ऐसा अर्थ होता है, जैसे आप चित्रकूट तो जानते ही होंगे। लंकाको त्रिकूट बोलते हैं। तो 'कूट' माने होता है, पर्वतका शिखर। इसका अर्थ क्या हुआ कि वर्षा होती है, गर्मी पड़ती है, सर्दी पड़ती है और वह पहाड़का जो शिखर है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। उसको बोलते हैं, 'कूट'। कूटवत् जो स्थित है, उसका नाम है 'कूटस्थ'। *कूटवत् तिष्ठति इति कूटस्थः।* जो पर्वत-शिखरके समान विद्यमान रहता है, उसका नाम होता है 'कूटस्थ'। जैसे आप रो चाहे जितना लें, फिर घरमें बेटा होता है तो खुशी होती है कि नहीं? ब्याह होता है, तब खुशी होती है कि नहीं? जब फिर घरमें कोई मर जाता है तो पुनः दु:ख आता है। तो यह सुख-दु:ख तो आते-जाते हैं। पर ये तो वर्षा, गर्मीकी तरह आते-जाते हैं और आप तो पर्वतके शिखरके समान अकंप ही रहते हैं। थोड़ी देरके लिए रो लिया, थोड़ी देरके लिए हँस दिये। लेकिन आप ज्यों-के-त्यों हैं। कितनी मौत देखीं, कितने जन्म देखे, कितने ब्याह देखे, कितने दोस्त देखे और कितने दुश्मन देखे। आखिर,

सबको आप देखते हुए ही तो चल रहे हैं। तो आज जो दुःख आपके जीवनमें आया है, वह टिकेगा नहीं। आप 'कूटस्थ' हैं। अभिमान कभी आता है, कभी छूट जाता है। कभी ब्राह्मणपना जाग जाता है तो कभी शूद्रपना आजाता है। आप बुरा मत मानना! हमने शूद्रको ब्राह्मणवत् देखा है और ब्राह्मणको शूद्रवत् देखा है। अपने आपको भी कभी शूद्रवत् देखा है और कभी अपने आपको ब्राह्मणवत् देखा है। कभी अपने आपको देववत् देखा है और अपने आपको राक्षसवत् देखा है। जब गुस्सा आया, दूसरोंका नुकसान करनेका मन हुआ तो हमने अपने आपको राक्षसवत् देखा कि नहीं? तो यह सब आते हैं, जाते हैं और आप हैं 'कूटस्थ'।

'कूटस्थ' शब्दका दूसरा अर्थ होता है—सुनार, लोहारके घरमें एक बड़ा-सा लोहा रखते हैं और हाथमें हथौड़ा लेकर उसपर सोने अथवा लोहेकी चीज गढ़ते हैं। गाँवमें उस लोहेको 'निहाय' बोलते हैं। उसको भी कूट बोलते हैं। उसके ऊपर कितने जेवर बने, बर्तन बने और वह ज्यों-का-त्यों। संस्कृतमें 'कूट' माने झूठ भी होता है। अदालतमें झूठे गवाहका नाम है, 'कूटसाक्षी'—झूठी गवाही देनेवाला। तो चाहे कोई झूठी गवाही दे जाय और चाहे कोई सच्ची गवाही दे जाय और जज साहब बिलकुल अपनी कुर्सी पर विराजमान रहते हैं। तो सचमें झूठमें यह जो कूटस्थ है, यह बिलकुल एक सरीखा है।

जैसे महाभारतके आठ हजार आठ सौ श्लोक या तो व्यास समझते हैं, या तो शुकदेव समझते हैं और संजय समझते हैं कि नहीं, इसमें संदेह है। तो 'कूट' माने यहाँ हुआ कि जिसमें कूट-कूटकर गम्भीर भाव भरे हों, उसको 'कूट' बोलेंगे।

तो, नारायण! 'कूटस्थ' माने दुनियामें जितनी ग्रन्थियाँ हैं, जितनी मान्यताएँ हैं, जाग्रत्-ग्रन्थि, स्वप्नग्रन्थि, सुषुप्तिग्रन्थि, कामग्रन्थि, क्रोधग्रन्थि, लोभग्रन्थि, संशयग्रन्थि, हृदय ग्रन्थि, विद्याग्रन्थि, ब्रह्मग्रन्थि, शिव ग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि—उन सब ग्रन्थियोंमें जो एक सरीखा रहता है, उसका नाम 'कूटस्थ'।

अब आपको इस कूटस्थ आत्माके बारेमें दर्शनशास्त्रकी रीतिसे एक-आध बात सुनाते हैं। हमारे न्याय-दर्शनके विद्वान् कहते हैं कि आत्मा सात पदार्थोंमें-से एक पदार्थ है, न्याय और वैशेषिकमें कोई अभावको पदार्थ मानते हैं और कोई नहीं मानते हैं। तो इसमें आत्माको एक पदार्थ मानते हैं। इस पदार्थका नाम उन्होंने रखा है, 'द्रव्य'। नौ द्रव्य होते हैं, उनमें-से एक द्रव्य 'आत्मा' है। ऐसा नहीं समझना कि बस, नरक और स्वर्ग, पुनर्जन्म आदिकी चर्चा ही हमारे ग्रन्थोंमें है। आत्मा 'द्रव्य' है माने वस्तु है। तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समुदाय, विशेष और अभाव—ये सातों पदार्थ हैं अथवा अभावको पदार्थ न मानो तो छः पदार्थ हैं—ऐसा न्याय-वैशेषिकका मत है। अब उस आत्मामें ज्ञान है कि नहीं है? जब द्रव्यके रूपमें माना तो यह सवाल पैदा हुआ। तो उन्होंने कहा कि ज्ञान आत्माका गुण है और आत्मा गुणी है।

अब 'कूटस्थ'को समझनेके लिए आप इस बात पर ध्यान दो। आत्मा द्रव्य है और ज्ञान गुण है। तो गुण और गुणीका सम्बन्ध नित्य होता है—ऐसा वेदान्ती लोग मानते हैं। नैयायिक मानते हैं कि नहीं—यह एक प्रश्न है। हमारे ऐसा मानते हैं कि जब गुणमें उपचय होता है माने गुण बढ़ता है और गुण घटता है—आप देखो ज्ञानरूपी गुण है, वह सुषुप्तिमें घट जता है, स्वप्नमें बढ़ जता है, वह सुषुप्तिमें घट जाता है, स्वप्नमें बढ़ जता है और जाग्रत्‌में तो बहुत बढ़ जता है और आत्मा तो ज्यों-का-त्यों कूटस्थ है और ज्ञानका गुण कभी उसमें घटता है और कभी बढ़ता है। माने उपचित होता हुआ ज्ञान और अपचित होता हुआ ज्ञान।

तो बोले कि अच्छा; ठीक है! ज्ञान चाहे बढ़े, चाहे घटे, जो कूटस्थ आत्मारूप द्रव्य है—उसका इससे क्या बनेगा—बिगड़ेगा? बोले कि नहीं, बढ़ना और घटना दोनों ही दशामें गुण द्रव्यको विकृत करता है। अपने धर्मीमें विकार उत्पन्न करता है। जैसे कोई भी चीज अगर ज्यादा चमकती है तो वह साफ की गयी है और कम चमकती है तो उसके ऊपर मैल आ गयी है। तो किसी भी वस्तुका गुण जब प्रकट

होता है या गुण जब लुप्त होता है, तब उस गुणी पदार्थमें कोई न-कोई विकार जरूर होता है। जैसे जब जवानीकी चमक आती है तो उस जवानीके आधार रूप शरीरमें भी विकार होता है और जब बुढ़ापा आता है, तब बुढ़ापेके आधार रूप शरीरमें भी विकार होता है। श्रीशंकराचार्य भगवान्‌का कहना है कि कोई गुण यदि उदय होगा और विलय होगा तो जिस मूर्तिमें उस गुणका उदय या विलय होगा, उस मूर्तिमें विकार अवश्य होगा। तो ज्ञान बढ़नेसे अथवा ज्ञान घटनेसे आत्मामें विकार होना चाहिए, आत्माका उपकार होना चाहिए, आत्माका अपकार होना चाहिए? क्योंकि, आत्मा गुणी है।

इसका जबाब यह है, जैसे दूसरे दर्शन गुण और गुणीका नित्य सम्बन्ध मानते हैं, वैसे न्यायमें आत्मा रूप द्रव्यका गुणरूप पदार्थके साथ गुण-गुणीभाव सम्बन्ध नित्य नहीं है। क्यों नहीं है? यह बात मैं जानबूझकर सुना रहा हूँ कि यदि किसीकी समझमें न आवे तो वह यह सोचेगा कि हमारे प्राचीन ग्रन्थकारोंने, शास्त्रकारोंने इस विषयमें कोई हल्का-फुल्का, उथला-पुथला विचार नहीं किया है, बड़ा गम्भीर विचार किया है। उनके हृदयमें यह श्रद्धा पैदा हो कि हमारी अकल जितना पकड़ती है, उतना ही नहीं है, उससे कुछ आगे है। अपनी अकलका अभिमान अगर आदमीका हटे, तो अच्छा है।

अच्छा, तो न्याय-शास्त्रमें द्रव्य और गुण दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। अतः जबतक अविद्या है, तबतक द्रव्यके साथ गुण-गुणी भाव है और जब न्याय-दर्शनकी रीतिसे भी दुःख, दुःखका कारण जन्म, जन्मका कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्तिका कारण देह और देहका कारण अविद्या—जब अविद्याकी निवृत्ति हो जायेगी, तब आत्मा रूप द्रव्यके साथ गुणरूप पदार्थका कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। तो गुणरहित आत्माकी जो स्थिति है, शुद्ध द्रव्यके रूपमें, वही मोक्षदशामें रहेगी। इसलिए, गुणकृत जो विकार है, वह कूटस्थ आत्मामें नहीं है। आत्मा कूटस्थ द्रव्य है।

वेदान्तियोंने कहा कि महाराज, तुमने आत्माको निर्विकार, कूटस्थ

तो सिद्ध कर दिया, गुणको अन्य पदार्थ मान करके और ज्ञानको मान लिया गुण। लेकिन; मोक्षदशामें जब ज्ञानरूप गुणके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा तो आत्मा मोक्षदशामें पत्थरकी तरह रहेगा क्या? जो लोग मोक्षको दुःखाभावरूप मानते हैं, मोक्षमें कोई सुख नहीं है, तो बोले कि ठीक है, मोक्षमें दुःख नहीं है। परन्तु, मोक्षमें सुख नहीं है तो पुरुषार्थ ही अधूरा हो गया और आत्मा ज्ञानस्वरूप है नहीं तो जड़ता अपने आप ही प्राप्त हो गयी। इसीलिए, तुम जिसको 'कूटस्थ' कहते हो वह कूटस्थ नहीं है। भला आत्मामें कभी मैं नहीं हूँ, मैं नहीं जानता हूँ—ऐसा अनुभव उदय हो सकता है? यदि आत्मामें मोक्षदशामें अनुभव रहता है, तब तो वह ज्ञानस्वरूप है और यदि अनुभव नहीं रहता है तो वह जड़ है। तो दोनों तरहसे तुम्हारा मत बिगड़ गया। इसलिए—

कूटस्थं बोधं।

इसका नाम पद कृत्य है माने एक पदके बाद दूसरे पदका प्रयोग क्यों किया गया? जब पहले आत्माको 'कूटस्थ' कह दिया गया तो फिर इसको 'बोध' कहनेकी जरूरत क्या? बोले कि नहीं जड़ कूटस्थ न हो आत्मा, ज्ञानस्वरूप कूटस्थ हो—इसलिए कूटस्थंके बाद बोधं कहा गया। कूटस्थ तो जड़ भी हो सकता है, जैसे सुनारकी निहाय। ऐसे आत्मा समाधिमें रहकर कूटस्थ नहीं। आत्मा ज्ञानस्वरूप कूटस्थ है। इसलिए बोधं कहा।

आपके ध्यानमें मैं अभी यह बात लाता हूँ कि व्यवहार रहित अवस्थाका नाम अद्वैत नहीं है। मरनेके बाद कोई अवस्था मिलेगी—इसका नाम अद्वैत नहीं है। वैकुण्ठमें कोई अवस्था मिलेगी—इसका नाम अद्वैत नहीं है। व्यवहार मटिया मेट हो जायगा-इसका नाम अद्वैत नहीं है। अपनेको अद्वैत जाननेके बाद व्यवहारमें आपको निर्द्वन्द्वता प्राप्त हो जायेगी। हम आपको शान्ति नहीं देना चाहते। शान्ति पुरुषार्थ नहीं है। अकेली शान्तिको कौन चाहता है? हम निर्भयता देना चाहते हैं। वेदान्त

आपको व्यवहारमें निर्भय बनाता है। आँख बन्द करके शान्त नहीं बनाता। वेदान्त आपको पागल नहीं बनाता कि आप नाचते रहिये, गाते रहिये, रोते रहिये, बेहोश रहिये। वेदान्त आपको पत्थरकी मूर्तिकी तरह निष्क्रिय कर देनेवाला नहीं है।

तब वेदान्त क्या है? शान्ति और विक्षेप-दोनोंमें आप एक सरीखा रहें, कर्म और मुक्तदशा—दोनोंमें एक सरीखा रहें, सुख और दुःख दोनोंमें एक सरीखा रहें। यह जीवनको निर्भय बनाता है वेदान्त! वेदान्त केवल व्यवहारातीत-दशामें ही नहीं होता, व्यवहारमें भी होता है, केवल भावातीतदशामें ही नहीं होता, भावदशामें भी होता है। यह केवल ध्यानातीत ही नहीं है, ध्यान भी है और विक्षेप भी है। यहाँ तक कि जिस समय आप मलिनतासे ग्रस्त होते हैं, उस समय भी वेदान्त आपको नहीं छोड़ता है। क्रियायुक्त मलिनतामें भी वेदान्त आपको नहीं छोड़ता है, भावयुक्त दोषमें भी वेदान्त आपको नहीं छोड़ता है, चांचल्यमें भी वेदान्त आपको नहीं छोड़ता है। जिस समय आप अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय मानकर अभिमान करते हैं, उस समय भी वेदान्त आपको नहीं छोड़ता है। वेदान्त वह चीज है जो आपको कभी किसी अवस्थामें छोड़ता ही नहीं। कोई ऐसी चीज होती है कि आप उसको याद न रखें और वह छूट जाय। कोई ऐसी चीज है कि आप उसको न पहनें तो छूट जाय। तो यह वेदान्त माने केवल शान्ति नहीं, केवल समाधि नहीं, केवल वैकुण्ठ नहीं, केवल रोना, गाना, हँसना नहीं। यहाँ तो हर हालमें मजा-ही-मजा है। यह मरण और जीवन—जब दोनोंमें निर्भयता और निर्द्वन्द्वता आजाती है। जितनी **एकांगी-प्रक्रियाएँ** हैं, वे सब वेदान्त सम्प्रदायसे बिलकुल बहिर्भूत हैं। इसलिए, यह कूटस्थ बोध है। बोध माने ज्ञानमात्र। बिना होश-हवाशके कहीं कोई काम होता है? बिना ज्ञानके कहीं कोई काम होता है? आप सोते हैं—यह बात भी यदि सोनेका ज्ञान न हो तो मालूम न पड़े। आप बोध स्वरूप हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं।

बोधका स्वरूप : अनेकमत

ये जितने हमारे ऋषि थे, कोई राजर्षि थे, कोई, ब्रह्मर्षि थे, कोई देवर्षि थे, कोई कर्मर्षि थे—सभी ज्ञानी थे। 'ऋषि'को ऋषि क्यों कहते हैं? उसके अन्दर ज्ञान है। 'ऋष्' धातु ज्ञान अर्थमें है। तो आओ जरा 'बोध'का विवेक करें—

चार्वाकमतमें तो जड़से ज्ञान पैदा होता है। जैन-मतमें आत्मा ज्ञान है, लेकिन बढ़ता-घटता है। बौद्ध-मतमें आत्मा ज्ञान है, लेकिन यह नष्ट होता है और पैदा होता है। क्षणिक विज्ञान है। न्याय-वैशेषिक मतमें ज्ञान गुण है आत्मारूप द्रव्यका। सांख्य और योगमतमें भी आत्मा ज्ञान है। वे मानते हैं कि कर्मके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। उसमें बिलकुल विकार नहीं है—एकदम द्रष्टा, साक्षी, कूटस्थ। परन्तु, साथ-साथ औपाधिक अनेकताको आत्माके साथ जोड़ देते हैं, बड़ा आश्चर्य है।

वेदान्ती लोग तो आश्चर्य, आश्चर्य बोलते हैं कि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहं-तत्त्व, अहं तत्त्वसे पंचतन्मात्रा और पंचतन्मात्रासे बना अन्तःकरण और अन्तःकरणोंमें भेद। तो यह कार्यरूपके भेदसे, उपाधिके भेदसे उपहितमें भेदकी कल्पना कर लेना—हे योगाचार्यों, हे सांख्याचार्यो! यह तुम्हारा क्या मत है? अरे भाई, बच्चोंकी एक कक्षा है। हम असलमें द्रष्टाको विभु तो मानते हैं, उपाधिसे परिच्छिन्न नहीं मानते हैं, लेकिन अनेकता मानते हैं बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाके लिए!

आपके ध्यानमें आवे कि विवेकका उदय कहाँ होता है? द्रष्टामें होता है कि दृश्यमें? विवेकका उदय तो दृश्यमें होता है, द्रष्टामें तो होता ही नहीं है। तो जिस बुद्धिरूप उपाधिमें विवेकका उदय होकर दृश्यसे द्रष्टाके पृथकत्वका बोध हो जायगा, तो द्रष्टा मुक्त हो जायगा और जिस उपाधिमें विवेकका उदय नहीं होगा, वहाँ द्रष्टा बद्ध रहेगा। तो बन्ध-मोक्षकी व्यवस्थाके लिए हम द्रष्टा, द्रष्टामें भेद स्वीकार करते हैं। वैसे आत्मा ज्ञान-स्वरूप है।

पूर्वमीमांसक कहते हैं कि आत्मा मोक्षमें ज्ञानस्वरूप रहता है, परन्तु

प्रपंच-सम्बन्धका विलय हो जाता है। मुक्त आत्मा प्रपंचसे सम्बन्ध नहीं रख सकता। माने मरनेके बाद ही मुक्ति होगी, जिन्दा मुक्ति बिलकुल नहीं होगी। वेदान्तियोंने कहा कि योगाचार्यो, सांख्याचार्यो उपाधिके भेदसे बद्ध-मुक्तकी व्यवस्था तब होती यदि उपाधि सत्य होती। 'बोधं'। यहाँ तो उपाधि सत्य है ही नहीं। किस अधिष्ठानमें उपाधि भास रही है—यह विचार तो करो! आओ, वेदान्तकी रीतिसे विचार करो—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'-सत्य, ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्ममें दूसरी वस्तुके लिए स्थान कहाँ है?

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। 'ब्रह्मैवेदं अग्रे आसीद्'। आत्मैवेदमग्रे आसीद्।

व्यवहारमें भी एक परब्रह्म परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं'।

तो, वेदान्तियोंने कहा कि ठीक है जो, आपने द्रष्टा और दृश्य बना दिया, आपने द्रव्य और गुण बना दिया और आपने ज्ञानको उत्पन्न बना दिया और नष्ट बना दिया, आपने ज्ञानको क्षणिक बना दिया। लेकिन हमारे यहाँ तो ज्ञान ही सबका अधिष्ठान तत्त्व है, प्रकाशक है। ज्ञान अपने आपमें ही अन्यको प्रकाशित कर रहा है। अहंपना भी मिथ्या, इदं-पना भी मिथ्या और केवल ज्ञानमात्र सत्य है। 'मिथ्या' शब्द सुनकर आप लोग घबराना मत। जो घबराते हैं उन्होंने कायदेसे सम्प्रदायकी रीतिसे वेदान्तका श्रवण नहीं किया है। 'मिथ्या' शब्दका अर्थ होता है, प्रतीत होने पर भी अनिर्वचनीय! अपने अभावके अधिकरणमें भासमान। *'स्वभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वं'।* मिथ्या शब्दका एक अर्थ तो यह होता है कि जो बिलकुल न हो और न मालूम पड़े और मिथ्या शब्दका दूसरा अर्थ होता है, 'अनिर्वचनीय'। हो तो नहीं, लेकिन मालूम पड़े। सत् न होने पर भी ज्ञानका विषय है, जैसे आकाशकी नीलिमा। तो आकाशमें यह नीलिमा क्या है? अनिर्वचनीय है। यह आँखमें-से निकली है कि आकाशमें-से निकली है? आकाशमें-से निकली है तो यहाँ भी क्यों नहीं निकलती है? और यदि आँखमें-से निकली है तो भी यहाँ मालूम पड़नी चाहिए।

क्योंकि, आँख तो यहाँ भी है। आँख और आकाश-दोनोंके यहाँ रहने पर भी नीलिमा प्रतीत नहीं होती। परन्तु महाराज, आकाशमें नीलिमा नहीं है और भासती है और यहाँ नहीं भासती, वहाँ भासती है। तो भासमानता दो तरहकी होती है—एक चीज न हो और मालूम पड़े। तो यह आत्मा जो है, यह है। क्योंकि, आत्मा नहीं है-यह बोध कभी किसीको नहीं हो सकता। कोई भी कह दे कि मैं नहीं हूँ। नहीं बोल सकता। परन्तु, अपने आपका ख्याल तो नहीं होता। प्रतीत तो नहीं होता है। तो यह अज्ञान दूर हो जाने पर प्रतीत होता है, भला! हमेशा प्रतीत होवे, ऐसा कोई ठेका भी नहीं है। आपको क्या यह हमेशा मालूम पड़ता है कि मैं मनुष्य हूँ। सोते समय मालूम पड़ता है? सपनेमें मालूम पड़ता है? ज्ञानको सातत्यकी जरूरत ही नहीं पड़ती है। वह तो भावको सातत्यकी जरूरत पड़ती है। जो लगातार नहीं रहता, निष्ठा नहीं रहती, स्थिति नहीं रहती, वह सब अज्ञानका विजृम्भण है, अज्ञानकी जम्हाई है।

तो 'अहं' और 'इदं'—ये दोनों मालूम तो पड़ते हैं, परन्तु ये दोनों जिससे मालूम पड़ते हैं-वह ज्ञानस्वरूप आत्मा है। ये दोनों जिसमें मालूम पड़ते हैं, उसका नाम ज्ञानस्वरूप आत्मा है। ये दोनों कभी मालूम पड़ते हैं और कभी नहीं मालूम पड़ते हैं। तो इनका मालूम पड़ना और न मालूम पड़ना—दोनों जिससे होता है, उसका नाम आत्मा है और, वह तो महाराज अद्वितीय है। माने उसके सिवाय और किसीका अस्तित्व नहीं है। तो हे सांख्यो! तुम्हारा ज्ञान द्वैत है। हे योगी! तुम्हारा ज्ञान द्वैत है। हे मीमांसक! तुम्हारा ज्ञान द्वैत है। हे न्याय-वैशेषिक तुम्हारा ज्ञान द्वैत है, हे चार्वाक, हे जैन, हे बौद्ध! तुम्हारा ज्ञान द्वैतवादी है। यह है वेदान्त! वेदान्त माने जहाँ ज्ञान ही अद्वैत है और अहं और इदंका द्वैत है ही नहीं।

यदि अद्वैतको ही ज्ञानमें-से निकाल दोगे तो बोध ही द्वैत हो जायेगा और यदि बोधको निकाल दोगे तो कूटस्थ जड़ हो जायगा और कूटस्थको निकाल दोगे तो बोध वृत्तिज्ञान रूप हो जायगा और बोधको निकाल दोगे तो केवल सत् माने है, है, रह जायगा, वह ज्ञानस्वरूप नहीं रहेगा। किसी

भी 'है' का बोध मैंकी अनुगतिके बिना नहीं हो सकता। 'है' किसीको मालूम पड़ना चाहिए। नहीं तो 'है' बेकार होगा भला! जिसको 'है' अवस्था मालूम पड़ती है, उस मालूम पड़नेवालेको भूलकर तुम 'है' में बैठते हो! अपने आपको खो रहे हो। अपने आपको नष्टकर रहे हो!! तो जो 'है' अपना स्वरूप है, ज्ञान है, स्वरूप है—तब तो 'है' सत्य है और यदि ज्ञानसे अलग है तो वह गलत है। तो ज्ञान जो है, वह अनेक और जड़ हो जायगा और यदि ज्ञानको निकाल दो तो एक जड़ शेष रह जायगा और यदि कूटस्थको निकाल दो तो ज्ञान विकारी हो जायगा। अतः ज्ञानमें विकार न हो, इसके लिए कूटस्थकी आवश्यकता है और ज्ञानमें अनेकता न हो, इसके लिए अद्वैतकी आवश्यकता है और अद्वैत और कूटस्थ जड़ न हो, इसके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है।

इसलिए, इन तीनों शब्दोंका प्रयोग जानबूझकर किया गया है कि जब आप आत्मचिन्तन करें तब '**कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं**'। यह आपका ही वर्णन है। आप शान्त होकर बैठिये मत, चिन्तन कीजिये और 'मैं' आभास हूँ-इस भ्रमको छोड़ दीजिये और जो बाह्य और आन्तर भाव हैं, उनमें मत फँसिये। अपने स्वरूपको जाननेका प्रयत्न कीजिये। और, जब आप अपने स्वरूपको जानेंगे, तब देखेंगे कि आप जहाँ हैं, जब हैं, जो हैं, जैसे हैं, उसी अवस्थामें बिलकुल कृत्कृत्य हैं। न आपमें पाप है न पुण्य, न सुख है न दुःख, न जाना है न आना। न कोई अपना है न पराया, न जन्म है न मरण। आप तो बिलकुल नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ही हैं। निर्भय, निर्द्वन्द्व!!

●

प्रवचन : 17

बन्धनका स्वरूप

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव॥ 1.14

ये कहते हैं कि बन्धन बाहरका कुछ नहीं। कोई ऐसी वस्तु बाहर नहीं है, जो आपको बाँध सके। न मकानके साथ कोई जंजीर लगी है। अरे, आग लगती है तो छोड़कर भागते हैं कि नहीं भागते हैं? अच्छा, इस बातको छोड़ दें। यह तो अमंगल कल्पना है। व्यापारके लिए मकान छोड़कर जाते हैं कि नहीं जाते हैं!! उससे बढ़िया मकान मिले तो छोड़ देते हैं कि नहीं छोड़ देते हैं? उससे अधिक पैसा मिल जाय तो भी छोड़ देते हैं। तो, नारायण! मकानका बन्धन नहीं है, धनका बन्धन नहीं है। सामनेकी ओरसे तो कोई बन्धन ही नहीं है। तब बन्धन किधरसे है? बन्धन अपनी ओरसे है। जैसे राजा किसीको कैदमें डाल दे या डाकू जैसे किसीको रस्सीमें बाँध ले—ऐसा तो बन्धन है नहीं। अपनी ओरसे बन्धन है। हम चाहे जिसके साथ अपनेको बाँध लें!

अच्छा, शरीरके बाहरकी बात छोड़ दें। यह चोटी बाँधकर भी बन्धन होता है। गाँठ बाँधकर भी बन्धन होता है। कमरमें लपेटकर भी बन्धन होता है। तो एक विकारजन्य बन्धन होता है और एक संस्कारजन्य बन्धन होता है। तो यह जो चोटीका बन्धन है, जनेऊका बन्धन है, गाँठका बन्धन है, कमरका बन्धन है—यह संस्कारका बन्धन है। देखो, ऋषि लोग जैसे बाल बढ़ाते हैं तो वे भी बाल हैं और एक लोग जानबूझकर दाढ़ी-मूँछ बढ़ाते हैं, उनपर कंघी करते हैं, तेल फुलेल लगाते हैं। तो बाल तो दोनोंके हैं, परन्तु एक संस्कारी बाल हैं और एक विकारी बाल हैं। तो

संस्कारजन्य जो बन्धन होता है, वह हितकारी होता है और विकारजन्य बन्धन जड़तामें बाँधनेवाला होता है। बन्धन दोनों हैं। यह जो स्त्रियाँ अपनी कमरमें करधनी पहनती हैं, वह जरा लोहेकी बनाकर उनकी कमरमें डाल दो!! नहीं, वह चाँदीकी है, सोनेकी है तो पसन्द करती हैं।

हमने राजस्थानमें देखा कि राज घरानेकी बहूएँ पाँवकी अँगुलीसे लेकर घुटनेके थोड़ा ही नीचे तक तरह-तरहके जेवर पहनती थीं। हाथमें भी अंगुलीसे लेकर कोहनी तक और गलेमें सारा भरा हुआ—कोई पाँच-दस सेर सोना, हीरा, मोती उनके शरीर पर होता था और उनको कह दो कि जरा सेर भर वजन उठाकर ले आओ, तो नहीं! यह सुकुमारी राजकुमारियोंकी स्थिति है। रानी, महारानियोंकी स्थिति है।

तो संस्कार दूसरी चीज है, और विकार दूसरी चीज है। यह ब्राह्मणपना संस्कारसे आया। बोले कि सबेरे उठो, स्नान करो, सन्ध्या-वन्दन करो, गायत्रीका जप करो, अग्निहोत्र करो। यह देखो, यह एक बन्धन है। परन्तु यह बन्धन जो है, यह भोगकी प्राप्तिके लिए बन्धन नहीं है, यह अपने मनको संस्कृत बनानेका बन्धन है। बन्धन जब गुरु परम्परासे या पिता-पितामहकी परम्परासे शास्त्रीय परम्परासे या सम्प्रदाय परम्परासे जीवनमें बनाया जाता है, तो उससे संस्कार होते हैं और जो नेचरकी माँगके अनुसार जो बन्धन बनाये जाते हैं, वे बन्धन विकारके होते हैं और मनुष्यको पराधीन बना देते हैं। जो मनमें आया सो खा लिया, जो मनमें आया सो पी लिया, जो मनमें आया सो कर लिया। अब मनका तो कुछ पता नहीं कि वह कहाँ ले जाकर डाल देगा।

एक महात्माने हमको बताया था कि आखिर, कहीं-न-कहीं तुम जाकर मना करोगे कि हम यह चीज नहीं खायेंगे। दुनियामें तुमको ऐसी चीज मिलेगी कि नहीं? मिलेगी, मनाकर देंगे। अच्छा, किसी कामके बारेमें तुम मना करोगे कि नहीं कि हम यह नहीं करेंगे! बोलनेमें अमुक बात नहीं बोलेंगे। कहीं-न-कहीं तुम मर्यादा स्वीकार करोगे कि नहीं? बता दो कि हम सब कुछ कर लेंगे, हम सब कुछ खा लेंगे, सब कुछ भोग

लेंगे। तो उन्होंने अपने जीवनमें मर्यादा धारण करनी ही है तो उसको कायदेसे क्यों नहीं बना लेते? रोज-रोजके लिए बना लो। एक अमर्यादित जीवनका क्रम चले—वह कितना बुरा होगा।

अब आप इस प्रसंगमें आ जाओ। बन्धन क्या है? तो बन्धन बाहरसे किसी भोगका नहीं है, किसी वस्तुका नहीं है, किसी व्यक्तिका नहीं है, किसी स्थानका नहीं है किसी समयका नहीं है। बन्धन जितना होता है, वह सारा-का-सारा अपने मनमें-से निकलता है, भीतरसे आता है।

तो पिछले श्लोकमें यह बात बतायी गयी कि आप कूटस्थ हैं, बोध हैं और अद्वैत हैं। कूटस्थ माने निर्विकार हैं, जन्म-मरण आपमें नहीं है। जवानी, बचपन, बुढ़ापा भी आपमें नहीं है। काम, क्रोध, लोभ, मोह भी आपमें नहीं हैं। आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। न मैं न मेरा, न अहं न इदं। जहाँ ज्ञानमें दो भेद बनें, वहाँ ज्ञान अशुद्ध हो जाता है। कैसे अशुद्ध होता है? वह फट गया, वह टूट गया।

हमारे बाबा हमको बातते थे कि फटा कपड़ा नहीं पहनना। कम-से-कम जिस समय देवताकी पूजा करें या सन्ध्या-वन्दन करें, उस समय सिला हुआ कपड़ा नहीं होना चाहिए और उधार लिया हुआ; दूसरेका पहना हुआ कपड़ा नहीं होना चाहिए, जला हुआ नहीं होना चाहिए। तो फटा हुआ कपड़ा भी नहीं पहनना।

अब यह बोधस्वरूप जो आत्मा है, जब इसमें यह दूसरा और मैं दूसरा—यह समझ ग्या तो बुद्धिने आत्माको मानो फाड़ दिया। तो यह जो फटा हुआ आत्मा होता है, यह अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप ब्रह्मके साथ एक नहीं होता। इसको फाड़ो मत! देहके साथ इसको सी दिया तो ब्रह्मज्ञानकी जो योग्यता है, वह घट गयी। यह काम, क्रोधसे जल गया। तो यह ब्रह्मज्ञानमें एक होने योग्य नहीं रहा। अन्नमय, प्राणमय जो अन्य रूप कोश हैं, उनके साथ अपने आपको जोड़ दिया, तब ब्रह्म कहने योग्य नहीं रहा। अपने आपको उसने ब्रह्मपनेसे गिरा दिया।

अब देखो, धर्ममें यह निर्णय किया गया कि कपड़ा सिला हुआ न हो, जला हुआ न हो और पराया न हो—ये तीनों बात जो कपड़ेके बारेमें निश्चयकी गयी, वे तीनों बात आप शरीरके बारेमें निश्चय कर लो। वह सिला हुआ न हो, जला हुआ न हो और पराया न हो।

अब बन्धन क्या है—इसपर विचार करो! बन्धन अपने मनका ही माना हुआ है। बन्धन माने एक बेवकूफीका गिलाफ, भ्रान्तिका गिलाफ। तो भ्रान्ति कहाँसे आती है? यह अज्ञानमें-से निकलती है। अपने स्वरूपको न जानना अज्ञान है।

अपनेको बाँधते कैसे हैं? बोले 'पुत्रक'। पुत्रकका अर्थ है, मेरे नन्हें-मुन्ने। *अल्पः पुत्रः पुत्रकः*—छोटे बेटेको 'पुत्रकः' बोलते हैं। बड़ा हुआ तो पुत्र हो गया। इसका अर्थ है कि छोटा बच्चा अपने हाथमें कोई मिठाई लेवे, कोई चाकू लेवे, कोई कपड़ा पकड़ लेवे और आप उसको छुड़ाना चाहें तो वह छोड़ना पसन्द नहीं करेगा। वह मैला कपड़ा भी नहीं छोड़ता है, वह नुकसान करनेवाली चीज भी नहीं छोड़ता है। तो जैसे छोटे बच्चेसे हानि पहुँचानेवाली वस्तु छुड़ानी पड़ती है, वैसे बापके सामने बेटाका छोटा होना दूसरी चीज है और गुरुके सामने शिष्यका छोटा होना दूसरी वस्तु है। यहाँ शरीरका छोटापन है और यहाँ प्रज्ञाका बुद्धिका छोटापन है। कहा कि अभी तुम पूरी बात समझते नहीं हो बेटे! इसलिए मेरी बात मानो। बड़े प्रेमसे तुमको समझा रहे हैं।

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक। 1.14

तुमने अपनेको बँधा हुआ मान रखा है। श्रुतिने बताया कि जो अपनेको एक भावमें बाँध लेता है, उसके दुनियामें दुश्मन-ही-दुश्मन हो जाते हैं।

ब्रह्म तं परादाद् यो अन्यत्रात्म ब्रह्मवेद।
क्षत्रं तं परादाद् यो अन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद॥

ब्राह्मणको यदि तुम अपनेसे जुदा समझोगे तो वह तुम्हारा दुश्मन हो जायगा। क्षत्रियको अपनेसे जुदा समझोगे तो वह तुम्हारा दुश्मन हो

जायगा। देवताको अपनेसे जुदा समझोगे तो देवता भी दुश्मन हो जायगा। इसलिए, तुम ऐसी अवस्था प्राप्त करो, ऐसी स्थिति प्राप्त करो, ऐसी वस्तुको जानो—जिसमें कोई पराया नहीं है। तो पराया बनानेमें ही बन्धन है।

यह हमारे घरकी सीमा है और यह तेरे घरकी सीमा है—यह भूगोलका भेद है। यहाँ-से-यहाँ तक महाराष्ट्र और यहाँ-से-यहाँ तक गुजरात और दोनों आपसमें लड़े। दोनों यह बात भूल गये कि महाराज चार सौ वर्ष पहले हुए, चैतन्य महाप्रभु पाँच सौ वर्ष पहले हुए और फिर श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज आठ सौ वर्ष पहले हुए, शंकराचार्यजी महाराज दस-बारह सौ वर्ष पहले हुए। वृन्दावनमें ऐसे बोलते है कि जो नया हुआ, सो अच्छा!

राधावल्लभ सम्प्रदायके आचार्य स्वामी हित हरिवंशजी महाराज चूँकि आचार्य परम्परामें सबसे अन्तमें है, इसलिए सबसे श्रेष्ठ हैं। करपात्रीजी महाराज कहते हैं कि नहीं-नहीं, जो सबसे पुराना होता है, वह श्रेष्ठ होता है।

देखो एक बात, पुराना श्रेष्ठ कि नया श्रेष्ठ? अरे भाई, पुराने और नये दोनोंमें जो एक है, वह श्रेष्ठ है। यह तो ऐतिहासिक सीमा हो गयी है कि कौन नया और कौन पुराना? यह कालपर दृष्टि गयी, तत्त्वपर नहीं गयी। आचार्य पर दृष्टि गयी, तत्त्व पर नहीं गयी। भूगोल पर दृष्टि गयी तत्त्व पर नहीं गयी। बोले कि हम अमुक गोत्रके हैं, अमुक जातिके हैं, अमुक सम्प्रदायके हैं। देखो, हिन्दू-मुसलमान पर नजर जायगी, मनुष्य छूट जायेगा। मनुष्य मर गया कि नहीं? ऐतिहासिक कालसे सनातनधर्म और नये धर्मका भेद हो जाता है। गरीब और धनीका वर्ग-भेद हो गया। मतलब यह है कि जितनी-जितनी भेद-बुद्धि होती है, उतनी-उतनी हानिकारक होती है। परायापन ही तकलीफ देय होता है। स्त्री-पुरुषका लिंग और आपसमें दोनोंकी लड़ाई। तो, नारायण! ये लिंग भेद, जातिभेद, सम्प्रदायभेद, वर्गभेद, राष्ट्रीयभेद—ये जितने भेद हैं, सब-के-सब अज्ञान मूलक हैं। सबमें जो एक मूल तत्त्व है, उस परसे दृष्टि हटी हुई है।

बोले कि यह सब भेद आये कहाँसे? तो भेदका मूल क्या है? बोले कि देहाभिमान—**पाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक**—सारे बन्धनका मूल है, देहाभिमान।

इसमें दो बात देखो—संस्कृत भाषाकी विचित्रता आपको सुना रहे हैं। यह बात आप किसी भी अनुवादके द्वारा प्रकट नहीं कर सकते। देह और अभिमान। देह, अभिमान करनेके योग्य नहीं है—यह बात 'देह' शब्दमें है और अभिमान केवल मान्यता है, वस्तु नहीं है, यह बात 'अभिमान' शब्दमें है। आप नहीं समझना कि हम इसको किसी दूसरी भाषामें रखकर समझा सकेंगे। 'देह' शब्दका अर्थ होता है राशि ढेर। कई चीजोंका मेल हो। संस्कृत भाषामें 'दिह उपचय' धातु है। उपचय माने कहींसे कुछ, कहींसे कुछ इकट्ठा हो गया है। मिट्टीमें-से हड्डी आगयी है, पानीमें-से खून आगया है, आगमें-से गर्मी आगयी है, हवामें-से क्रिया आगयी है, आकाशमें वायुका जैसे फैलना और पटकना होता है, वैसे आगया है। तो यह देह क्या है? यह अनेक चीजोंकी एक ढेर है। कहींका ईंट कहींका रोड़ा। अच्छा, तो इसमें अभिमान करनेकी योग्यता नहीं है। यह ऐसी चीज नहीं है कि जिसका अभिमान किया जा सके। क्यों? देखो, 'मैं' एक है और देहमें चीजें अनेक हैं। तो जो एक होगा, वह अनेकमें यदि मैं होनेका अभिमान करेगा तो झूठा करेगा कि नहीं? जब देहमें अनेक चीजें हैं—इन्द्रियाँ अलग-अलग और इन्द्रियोंके विषय जो इसमें हैं, हड्डी, मांस, चाम-वे इसमें अलग-अलग, मनोवृत्तियाँ अलग-अलग। अब बताओ, अनेक चीजोंसे बनी हुई जैसे मोटरमें अनेक पुर्जे होते हैं और आप उसमें बैठते हैं तो क्या आप मोटर हैं? मोटर तो अनेक पुर्जोंसे बना हुआ एक वाहन विशेष है। काले-गोरेका भेद हो गया तो गुणका भेद हो गया। स्त्री-पुरुषका भेद हुआ तो लिंग-भेद हो गया। अनेक वस्तुओंसे बना एक ढेर है यह देह। तो आप एक हैं और देहका मसाला अनेक है। एक, अनेकमें अभिमान कैसे कर सकता है? एक वस्तुके अभिमान योग्य अनेक वस्तुओंका ढेर नहीं है।

अच्छा लो, यह देह जो है, वह बदलता हुआ है। एक डॉक्टर साहबके पास एक सज्जन गये तो उसने पूछा कि आपका वजन क्या है? उन्होंने बता दिया कि डेढ़ सौ पौंड है। 'अच्छा, सबसे कम आपका वजन कितना रहा है?' तो उसने कहा कि जिस दिन मैं पैदा हुआ था, उसदिन छः पौंड मेरा वजन था। तो जो छः पौंड था, वह डैढ़-सौ पौंड हो गया। तो देहका वजन बढ़ता है। अब महाराज घटने लगता है तो ऐसे भी सींकिया पहलवान हैं जिनकी उम्र है साठ वर्ष और वजन है चालीस पौंड। तो घट गया। इसीको देह कहते हैं। यह घटता है, बढ़ता है। तो घटने-बढ़नेवाली चीज 'मैं' कहने लायक नहीं है। जो अनेक चीजोंसे बनी हुई, वह भी 'मैं' कहने लायक नहीं है।

और देखो, यह जड़ है और तुम चेतन हो। यह जाना जाता है और तुम जानते हो। तो जाननेवाला यदि जानी जानेवाली चीजको 'मैं' बोलेगा तो गलत बोलेगा। इसलिए, यह देहके साथ जो 'मैं' है, वह अभिमान मात्र है, वास्तविक नहीं है। पर अभी यह बात जो मैंने आपको सुनायी, यह तो बड़ी मोटी-मोटी सुनायी।

अच्छा देखो, आपके सामने हमारा यह हाथ है। यह हड्डी-मांस-चामका बना हुआ है। इससे देखो हम मुट्ठी बाँधते हैं और मुट्ठी खोलते हैं—यह मुट्ठी बाँधना और खोलना क्रिया है। तो हड्डी, मांसका बना हाथ है और प्राणकी शक्तिसे मुट्ठीका बाँधना और खोलना होता है। लेकिन केवल प्राण ही कर सकता है? नहीं, हमारा मन होता है तब मुट्ठी बँधती और खुलती है। तीन चीज हो गयी—हाथ हो गया, उसको बाँधने और खोलनेकी ताकत हो गयी और खोलने, बाँधनेकी इच्छा हो गयी अब समझो इच्छा नहीं है, ध्यानमें बैठ गये तो हाथ ज्यों-का-त्यों रह गया। इच्छा तो है, परन्तु हाथमें लकवा लग गया तो? प्राण-शक्ति नहीं रही। अच्छा, हाथ ही नहीं है। हाथ कट गया। तो यह हाथका नाम अन्नमय कोश है, इसमें एक चेतन बैठा है और क्रियाशक्तिका नाम प्राणमय कोश है, इसमें एक चेतन बैठा है। दोनोंमें एक ही चेतन है। इच्छा अलग,

लेकिन चेतन एक। अच्छा, समेटने और फैलानेमें जो मजा है या तकलीफ है-तो समेटने और फैलानेमें जो कर्ता हूँ, वह विज्ञानमयकोश है और जो मजा आता है, सो आनन्दमय कोश है और इन सबमें जो एक चेतन है, वह साक्षी चैतन्य है। तो ये पाँचों देह हैं और जो इनमें चेतन है, सो आत्मा है, और इन पाँचोंमें झूठ-मूठका अभिमान जोड़ लिया गया है।

और इस पर विचार करो! दुनियाके सारे-के-सारे अभिमान बिलकुल झूठे हैं। मैं ब्राह्मण, मैं संन्यासी हूँ, मैं हिन्दू, मैं मनुष्य—छोटे अभिमानको छोड़कर बड़े अभिमानकी ओर चलना, यह तुम्हारी उन्नति हो गयी, प्रगति होगी। छोटे दायरेमें जहाँ तुम्हारा अभिमान है, वहाँसे अपने 'मैं'को उठा लो और बड़े-से-बड़ेमें ले जाकर अपने 'मैं'को मिला दो।

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।

देखो, एक अभिमान होता है कि हमारे दाँत बहुत चमकते हैं। यह तो बहुत नजदीककी चीज है। दाँत तो मुँहमें रहते हैं, उनका अभिमान हो तो स्वाभाविक है। हमारी बेगमसाहिबा जितनी सुन्दर हैं, उतनी सुन्दर तो दुनियामें दूसरी कोई स्त्री ही नहीं है। देखो, यह बेगमकी सुन्दरता अपने आपमें आरोपित कर ली। हम बड़े भाग्यवान् हैं। बोले कि हमारे पास पैसा बहुत है।

एक दिन एकने बताया कि विदेशमें हमारे पास इतना पैसा है और यहाँ कर्जसे लदा हुआ है। अब वह बेचारा वहाँसे पैसा ला तो सकता नहीं। रोता है कि हाय-हाय, क्या करें? देखो, अब यह पैसेका अभिमान! एकने रखा हुआ था कि सरकारने पकड़ लिया। अभिमान उनको इतना कि हमारे पास इतना है। वहाँकी सरकार लानेसे रोक सकती है, यहाँकी सरकार लानेपर जब्त कर सकती है, उसके वहाँ रहते हुए मर सकते हैं, वह कभी जीवनमें काम आवेगा कि नहीं आवेगा, लेकिन इसका नाम अभिमान है कि हमारे पास इतना! ठीक ऐसे ही अभिमान जैसे बाहर रहनेवाली चीजका होता है-बेगम साहिबाका होता है, रुपया साहबका होता है, जिसकी सेवामें हम लगे हुए हैं—उनका होता है, ऐसा ही अपने

शरीरका होता है। यह पाप है। यह तुम्हारी जवानी रोज-रोज क्षीण हो रही है।

एक डाकूने बताया कि महाराज, अपने हाथसे हमने सौ आदमी मारे हैं। उसको इस बातका अभिमान था। अब एक पुलिसका आदमी था, वह कहता था कि महाराज, हमने सौ डाकू पकड़े हैं। उसको इस बातका अभिमान है। अब न सौ मारे हुए उसके पास हैं और न सौ डाकू उसके पास हैं। एक इसका अभिमान जम गया है।

अरे, यह सुन्दर दाँत एक दिन टूट जायेंगे। 'यह आँख एक दिन कमजोर हो जायगी, यह चमड़ी। एक दिन इसका गोरापन मिट जायगा, अगर ईश्वर कृपासे बुढ़ापे तक रहे तो लठिया टेकते हुए सड़क पर चलना पड़ेगा। इसका नाम अभिमान है। जो चीज उधार आयी और चली गयी। ये स्त्रियाँ जब किसीकी ब्याह-शादीमें जाती हैं तो अपने पड़ोसीके घरसे भी बढ़िया जेवर माँगकर ले आती हैं और पहनकर जाती हैं कि देखो, हमारे पास ऐसा है। ऐसे ही यह देहका जो अभिमान है, यह बिलकुल ऐसा ही है। कहींसे आया और कहीं जायेगा। थोड़े दिनके लिए मिला और देहका अभिमान करके बैठ गये। यह बिलकुल अध्याहार्य वस्तु है, उधार माल है यह।

अच्छा, बोले कि हमारा मन बड़ा प्रेमसे भरा हुआ है। एक दिन मैंने एक प्रेमीको देखा कि बिलकुल गुस्सेसे लाल-लाल! अरे तुम तो बड़े प्रेमी हो। तुम्हारी आँख लाल क्यों हो रही है? ओंठ काँप क्यों रहे हैं? हाथ-पाँव काँप क्यों रहे हैं? तुम्हारे जैसे प्रेमीका इस तरहसे क्रोधी हो जाना—यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है। तुम तो प्रेम रस टपकाते रहो। अपनी आँखमें-से प्रेमकी वर्षा करो। तुम अपने मुँहमें-से मिठास तो लाओ! यह तुम्हारी क्या दशा है? हे नारायण, जब आग ही जल रही है तो वह प्रेम कहींसे उधार ही लिया होगा। सच्चा नहीं होगा, तुम्हारे दिलका नहीं होगा।

उड़ियाबाबाजीके आश्रममें एक पहलवान था। उसने बताया कि

मैंने तो गामाके छक्के छुड़ा दिये। बड़ा तगड़ा जवान था, पंजाबी था। वह कहता था कि मैं दो-ढाई सेर बादाम-पिश्ता खा जाता। दस सेर दूध रोज पीनेको चाहिए था। वह महाराज, हजारों दंड-कसरत रोज करे। अब वह बोला कि खानेको नहीं मिलता है, तो भूखे मरते हैं। बाबा उस समय थे। उन्होंने कहा कि इसको आश्रममें थोड़े दिन रखकर खूब खिलाओ। अब वह डंडा लेकर चलता था और कसरत करनेकी जो आदत थी, सो अब यदि उसके शरीरको पाँवसे कुचला न जाय तो उसे दर्द होता था। तो देहका अभिमान, अपने बलका, प्राणका अभिमान अपने प्रेमका अभिमान और अपने विचारका अभिमान कि बड़े विचारवान् हैं। अरे महाराज, एक हथौड़ा सिरमें लगे और सारे विचार चौपटानन्द। हमने बड़े-बड़े विचारवानोंको मूर्ख होते देखा है। क्या कीमत है? आकाशमें जैसे धूल उड़ती है, जैसे रेडियोमें आवाज आती है—ऐसे ही ये विचार उदय होते हैं और लुप्त हो जाते हैं। हे भगवान्! यह बुद्धिका अभिमान झूठा है।

इसलिए, मेरे प्यारे बच्चे! इन झूठे अभिमानोंको **बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन, निष्कृत्य** मैं बोध-स्वरूप, ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ—इस ज्ञानकी तलवारसे इन झूठे अभिमानोंको काटकर '**सुखी भव**'—सुखी हो जाओ!

●

अष्टावक्र-गीता

: 1 :

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद्ब्रूहि मम प्रभो॥ 1॥

जनक उवाच

समर्थ गुरुदेव ! ज्ञान प्राप्तिका क्या उपाय है ? मेरी मुक्ति किस प्रकार होगी ? वैराग्य कैसे मिलेगा ? आप (कृपा करके) मुझे बतलाइये॥ 1॥

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज॥ 2॥

अष्टावक्र उवाच

प्रिय (राजन्) ! यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो विषयोंको विषके समान (जानकर) छोड़ दो और क्षमा, सरलता, दया, सन्तोष एवं सत्यका अमृतके समान सेवन करो॥ 2॥

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥ 3॥

तुम न पृथिवी हो, न जल हो, न अग्नि हो, न वायु हो और न तो आकाश ही हो, मुक्तिके लिए तुम अपने आपको इन सबका साक्षी एवं चित्-स्वरूप जानो॥ 3॥

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥ 4॥

यदि तुम देहको अलग करके अपने चित्स्वरूप आत्मामें पूर्ण-रूपसे स्थित हो जाओ (अनात्म-तादात्म्यका परित्याग कर दो) तो अभी-अभी तुम सुखी, शान्त एवं बन्धन-मुक्त हो जाओगे॥ 4॥

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव॥ 5॥

न तुम ब्राह्मणादि वर्ण हो, न ब्रह्मचारी आदि आश्रमी हो और न तो तुम दृश्य ही हो। तुम असंग हो, निराकार हो, विश्वसाक्षी हो अतः तुम सुखी (निश्चिन्त) हो जाओ॥ 5॥

धर्माऽऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभौ।
न कर्त्ताऽऽसि न भोक्ताऽऽसि मुक्त एवासि सर्वदा॥ 6॥

ओ अनन्त! धर्म-अधर्म एवं सुख-दुःखका केवल मनसे ही सम्बन्ध है तुमसे नहीं। तुम न कर्त्ता हो और न तो भोक्ता हो। तुम स्वरूपतः नित्य मुक्त हो॥ 6॥

एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥ 7॥

तुम सम्पूर्ण दृश्य प्रपंचके एकमात्र द्रष्टा एवं सर्वदा-सर्वथा मुक्त ही हो। तुम्हारा बन्धन यही है कि तुम द्रष्टाको अपनेसे पृथक् समझते हो (द्रष्टा अपने आपसे पृथक् नहीं हो सकता, क्योंकि वह दृश्य हो जायगा)॥ 7॥

अहं कर्त्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥ 8॥

'मैं कर्त्ता हूँ' इस अभिमान रूप महान् अजगरने तुमको डँस लिया है। 'मैं अकर्त्ता हूँ' इस विश्वास (निष्ठा) रूप अमृतका पान करके तुम सुखी हो जाओ॥ 8॥

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्राज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥ 9॥

मैं एक एवं विशुद्ध बोधस्वरूप हूँ, इस महान् निश्चयकी आगसे अज्ञानका घोर जंगल जलाकर तुम शोक-रहित एवं सुखी हो जाओ॥ 9॥

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर॥ 10॥

जिस अधिष्ठान आत्मामें रज्जुमें सर्पके समान यह सम्पूर्ण विश्व कल्पित होकर भान हो रहा है वह आनन्द-परमानन्द बोध-स्वरूप तुम्हीं हो। अत: सुखसे विचरो ॥ 10 ॥

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीह सत्येयं य मतिः सा गतिर्भवेत्॥ 11 ॥

जिस चित्तमें 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा अभिमान है, वह मुक्त है और जिसमें 'मैं बद्ध हूँ' ऐसा अभिमान है वह बद्ध है, यह लोकोक्ति सत्य है कि जैसी मति वैसी गति ॥ 12 ॥

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव॥ 12 ॥

आत्मा, साक्षी, विभु, पूर्ण, अद्वितीय, मुक्त, चेतन, निष्क्रिय, असंग, निस्पृह एवं शान्त है वह भ्रमसे ही संसारी (कर्त्ता, भोक्ता, आने-जानेवाला) मालूम पड़ता है ॥ 12 ॥

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम्॥ 13 ॥

'मैं (कर्त्ता, भोक्ता) चिदाभास, जीव हूँ' इस भ्रमको तथा बाह्य और आभ्यन्तर भेद-भावको छोड़कर तुम अपने आपको अद्वितीय बोध-स्वरूप कूटस्थ अनुभव करो ॥ 13 ॥

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निष्कृत्त्य सुखी भव॥ 14 ॥

वत्स! तुम चिरकालसे देहाभिमानके फन्देमें फँस रहे हो। 'मैं बोध-स्वरूप हूँ' इस ज्ञानकी तलवारसे उसे काटकर सुखी हो जाओ (ज्ञानसे जिसकी निवृत्ति होती है वह मिथ्या होती है, इसलिए बन्ध मिथ्या है) ॥ 14 ॥

निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि॥ 15 ॥

तुम असंग, अक्रिय, स्वयंप्रकाश, अतएव स्वतः शुद्ध हो। तुम्हारा

बन्धन तो यही है कि तुम समाधिका अनुष्ठान करते हो। (स्व-स्वरूप सर्वाधिष्ठान है। स्वतः सिद्ध है, साध्य नहीं) ॥ 15 ॥

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मागमः क्षुद्रचित्तताम्॥ 16 ॥

यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच तुमसे भरपूर है और वस्तुतः (सूतमें वस्त्रके समान) तुममें ही ओत-प्रोत है। तुम शुद्ध-बुद्ध स्वरूप हो। तुम क्षुद्र चित्त मत बनो। (अल्प वस्तुमें तादात्म्य मत करो) ॥ 16 ॥

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः॥ 17 ॥

तू किसीकी अपेक्षा मत रख, विकृत मत हो, दृश्य पदार्थके लिए चिन्ता मत कर (जो हो सो होने दो)। अन्तः-करणको शीतल रख! तेरी बुद्धिकी थाह किसीको न मिले। अनन्तमें लगी रहे! किसी कारणसे क्षुब्ध मत हो। एकमात्र चित्-स्वरूपमें ही निष्ठा रख (वृत्ति क्रियामें नहीं) ॥ 17 ॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः॥ 18 ॥

आकारसे (भावात्मक या अभावात्मक) सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुको मिथ्या समझो (क्योंकि आकृति ही मिथ्या है तो उसका सम्बन्धी तो निश्चय ही मिथ्या है। सर्प मिथ्या है तो रस्सीकी आधरता भी मिथ्या है, अधिष्ठान है, आधार नहीं) जो आकृति और उसके सम्बन्धसे रहित है वह अचल है (आकृति सम्बन्धी भावाभावात्मक प्रत्ययों—चल-बोधोंका साक्षी है) इस तत्त्वका उपदेश प्राप्त कर लेनेपर पुनर्जन्मकी सम्भावना मिट जाती है ॥ 18 ॥

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।
तथैवास्मिञ्छरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः॥ 19 ॥

जैसे दर्पणमें दीखनेवाले रूपमें बाहर और भीतर एकमात्र दर्पण ही है ठीक वैसे ही इस शरीरके सम्बन्धमें भी है। इसके बाहर भीतर भी

एकमात्र परमेश्वर ही है। जैसे दर्पणके भीतर प्रतिबिम्ब शरीर प्रतीति मात्र है, वैसे ही एकरस सच्चिदानन्द आत्मतत्त्वमें यह जगत् और शरीर है ॥ 19 ॥

एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगण तथा ॥ 20 ॥

जैसे एक सर्वगत आकाश ही घड़ेके भीतर और बाहर स्थित है वैसे ही देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद शून्य परमार्थ सत्य ब्रह्म ही समस्त दृश्य-पदार्थोंके बाहर और भीतर स्थित है। (आकाश-की अनन्तताकी दृष्टिसे जैसे घट कोई वस्तु नहीं है वैसे ही ब्रह्म-दृष्टिसे दृश्यमान पदार्थ कोई वस्तु नहीं है) ॥ 20 ॥

●

: 2 :

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडंबितः॥ 1॥

आश्चर्य है! आश्चर्य्य है!! मैं तो शुद्ध शान्त, ज्ञानस्वरूप एवं प्रकृतिसे सर्वथा परे हूँ। इतने समयतक अज्ञानने ही मुझे दुनियाँके बखेड़ेमें फँसा रखा था॥ 1॥

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत्।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन॥ 2॥

जैसे मैं अकेला ही इस शरीरको प्रकाशित करता हूँ, वैसे ही सम्पूर्ण जगत्को भी (शरीरके साथ सम्पूर्ण जगत् प्रकाश्य है एक मात्र मैं प्रकाशक हूँ)। इसलिए सम्पूर्ण जगत् मेरा है (एक शरीरको मेरा मानना अज्ञान है) अथवा कुछ भी मेरा नहीं है॥ 2॥

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽऽधुना।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते॥ 3॥

बड़े आश्चर्य्यकी बात है कि मैं शरीर और सम्पूर्ण दृश्यजगत्का परित्याग करके किसी अनिर्वचनीय कौशलसे वर्तमान क्षणमें ही परमात्माका दर्शन कर रहा हूँ (दृश्यको बाधित कर देना ही कौशल है। स्वतः सिद्ध द्रष्टाका बोध ही उसका दर्शन है)॥ 3॥

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गा फेनबुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्॥ 4॥

जैसे तरंग, फेन और बुद्बुदे जलसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही यह दृश्यमान प्रपंच भी आत्म-सत्तासे पृथक् नहीं है; क्योंकि यह आत्मासे ही प्रकाशित है। (प्रकाश्यका अस्तित्व प्रकाशककी अपेक्षापर ही निर्भर है) आपेक्षिक सत्ता वास्तवमें मिथ्या ही है॥ 4॥

तन्तुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्॥ 5॥

जैसे विचार करनेपर वस्त्र तन्तुमात्र ही है पृथक् नहीं, वैसे ही विचार करनेपर यह सम्पूर्ण विश्व केवल आत्म-सत्ता ही है ॥ 5 ॥

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम्॥ 6 ॥

जैसे मिठास गन्नेके रसमें कल्पित है और रससे व्याप्त ही है, वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व मुझमें कल्पित है और मुझसे ही व्याप्त है (मिठासकी अनुभूतिमें रसना उपाधि है इसलिए उसकी सत्ता आपेक्षित अतएव मिथ्या है। सत्य वस्तुकी अनुभूति किसी भी इन्द्रिय अथवा वृत्ति रूप उपाधिकी अपेक्षा नहीं रखती, अतः वह स्वतः सिद्ध और सर्वत्र है) ॥ 6 ॥

आत्माऽऽज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि॥ 7 ॥

अपने आपको न जाननेसे जगत्की (सत्यताकी) प्रतीति होती है। अपने आपको जान लेनेपर नहीं होती। रस्सीको न जाननेसे साँपकी प्रतीति होती है, जाननेपर नहीं ॥ 7 ॥

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽऽहंभास एव हि॥ 8 ॥

मेरा निज स्वरूप है प्रकाश (ज्ञान)। मैं उससे पृथक् नहीं हूँ। जब-जब यह विश्व प्रकाशित होता है तब-तब मेरे प्रकाशसे ही (ज्ञानकी सत्तासे ही) पृथक्-पृथक् ज्ञेय भासित होते हैं। ज्ञेय निर्पेक्ष जो शुद्ध ज्ञान है वही अपना स्वरूप है॥ 8 ॥

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥ 9 ॥

आश्चर्य है कि जैसे सीपमें चाँदी, रस्सीमें साँप एवं सूर्यकी किरणोंमें जलकी प्रतीति होती है वैसे ही यह अज्ञान-कल्पित विश्व मुझमें भास रहा है ॥ 9 ॥

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा॥ 10 ॥

जैसे मिट्टीमें घड़ा, जलमें तरंग और स्वर्णमें कड़ा समा जाता है वैसे ही मुझसे प्रकाशित यह विश्व मुझमें ही समा जायगा ॥ 10 ॥

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः ॥ 11 ॥

मैं धन्य (आश्चर्यस्वरूप) हूँ, मुझे नमस्कार है, क्योंकि मेरा कभी विनाश नहीं है। ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सम्पूर्ण विश्वका नाश होनेपर भी मैं स्थित रहता हूँ ॥ 11 ॥

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि।
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥ 12 ॥

मैं धन्य हूँ, मुझे नमस्कार है, क्योंकि मैं देहधारी होनेपर भी अद्वितीय हूँ और न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ। सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त होकर स्थित हूँ ॥ 12 ॥

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ॥ 13 ॥

मैं धन्य हूँ, मुझे नमस्कार है। मेरे समान चतुर और कोई नहीं है क्योंकि मैं तो शरीरका तो स्पर्श नहीं करता और चिरकालसे विश्वको धारण किये हुए हूँ ॥ 13 ॥

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम् ॥ 14 ॥

मैं धन्य हूँ, मुझे नमस्कार है, क्योंकि मेरा कुछ नहीं है अथवा जो कुछ वाणी और मनका विषय है वह सब मेरा ही है ॥ 14 ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरञ्जनः ॥ 15 ॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता वास्तवमें तीनों नहीं हैं। जिस अधिष्ठानमें अज्ञानसे यह त्रैत प्रतीत होता है वह मायामलसे रहित शुद्ध ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ 15 ॥

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः ॥ 16 ॥

आश्चर्य है कि समस्त दु:खका एकमात्र कारण द्वैत ही है। उसकी कोई दूसरी दवा नहीं है (बस, ऐसा बोध ही दवा है कि यह सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है और मैं अद्वितीय, शुद्ध एवं चिदानन्द स्वरूप हूँ) ॥ 16 ॥

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।
एवं विमृश्यतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम॥ 17॥

मैं वस्तुत: बोध-स्वरूप हूँ। अपने स्वरूपके अज्ञानसे मैंने उपधिकी कल्पना कर ली है (मिथ्या दृश्यको सत्य मानकर उससे तादात्म्य कर लिया है) नित्य ऐसा विचार करते रहनेपर यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि मेरी स्थिति निर्विकल्पमें है (मेरे चित्तकी निष्ठा निर्विकल्पमें हो जाती है) ॥ 17 ॥

अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्तानिराश्रया॥ 18॥

न तो कभी मुझे बन्धन हुआ और न तो मोक्ष। कितने आश्चर्यकी बात है कि मुझमें सम्पूर्ण विश्वकी प्रतीति होते रहनेपर भी वह वस्तुत: मुझमें नहीं है। आश्रयहीन होनेके कारण (मुझ शुद्ध आत्माके साथ आश्रयाश्रयी-भाव सम्बन्ध न होनेसे) भ्रान्ति स्वयं शान्त हो गयी ॥ 18 ॥

सशरीरमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम्।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाऽऽधुना॥ 19॥

यह निश्चय है कि शरीरके साथ यह सम्पूर्ण विश्व कुछ भी नहीं है और आत्मा शुद्ध चिन्मात्र है फिर अब यह कल्पना किसमें सम्भव है? (अर्थात् किसीमें नहीं) ॥ 19 ॥

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा।
कल्पनामात्रमेवैतत्किं मे कार्यं चिदात्मनः॥ 20॥

यह शरीर, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष और भय सबका सब केवल कल्पना मात्र है। फिर मुझ चिदात्माका क्या कुछ कर्त्तव्य शेष है?॥ 20 ॥

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥ 21॥

आश्चर्य तो यह है कि भीड़-भाड़में भी मुझे द्वैत नहीं दीखता, सब सूने जंगलके समान हो गया। अब मैं प्रीति किससे करूँ ? ॥ 21 ॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बंध आसीद्या जीविते स्पृहा ॥ 22 ॥

न मैं देह हूँ और न तो मेरा देह। मैं जीव भी नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध चेतन हूँ। मेरा बन्ध तो केवल इतना ही था कि मैं जीवित रहना (मिथ्या जीवन सम्बन्धी धारणाओंमें आबद्ध रहना) चाहता था ॥ 22 ॥

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम्।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते ॥ 23 ॥

मैं एक अनन्त महासमुद्र हूँ। मुझमें जब चित्तकी वायु चलने लगती है तब झटपट बहुत-से दृश्य पदार्थोंकी तरंगें उठने लगती हैं (सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच मेरे संकल्पका ही पसारा है) ॥ 23 ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।
अभाग्याञ्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः ॥ 24 ॥

मैं एक अनन्त महासमुद्र हूँ, जगत् जहाज है और जीव व्यापारी। जब उसके दुर्भाग्यसे चित्तरूप वायु (संकल्प) शान्त हो जाता है तब जगत्का जहाज नष्ट हो जाता है ॥ 24 ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः ॥ 25 ॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि मुझ अनन्त महा समुद्रमें बहुत-सी जीवरूपी तरंगे स्वभावसे ही उठती हैं। आपसमें टकराती हैं, लहराती हैं और समा जाती हैं। (अन्तःकरण रूप उपाधिकी स्थितियोंका संकेत है) ॥ 25 ॥

●

: 3 :

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः॥ 1॥

तुमने अद्वितीय अविनाशी आत्माको तत्त्वतः (अभेद रूपसे) जान लिया है; तुम आत्मज्ञ हो, धीर हो। फिर धन कमानेमें तुम्हारी प्रीति क्यों है?॥ 1॥

आत्माऽज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।
शुक्रेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे॥ 2॥

जैसे सीपको न जाननेसे भ्रान्ति-सिद्ध चाँदीका लोभ होता है वैसे ही अपने स्वरूपको न जाननेसे ही विषयोंमें सत्यत्व-भ्रान्तिके कारण प्रीति होती है॥ 2॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि॥ 3॥

जिस अधिष्ठान चैतन्यमें यह सम्पूर्ण विश्व तरंगोंके समान स्फुरित हो रहा है, वह मैं ही हूँ—ऐसा जानकर भी तुम दीन-हीनके समान विषयियोंके समान दौड़-धूप कर रहे हो॥ 3॥

श्रुत्वाऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम्।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति॥ 4॥

मैं अत्यन्त सुन्दर शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसा गुरु एवं शास्त्रसे श्रवण करके भी जो जननेन्द्रिय-सम्बन्धी विषय-भोगमें अत्यन्त आसक्त है उसे मलिनताकी प्राप्ति होती है॥ 4॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते॥ 5॥

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंमें अपनेको और अपनेमें समस्त दृश्य पदार्थोंको जाननेवाले विवेकशील पुरुषके चित्तमें भी ममता बनी रह जाती है, ऐसा सर्वथा नहीं होना चाहिए॥ 5॥

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया॥ 6॥

सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-शून्य अद्वैत-वस्तुमें निष्ठा होनेपर एवं नित्य-मुक्त-स्वरूप आत्माका दृढ़ निश्चय हो जानेपर भी बड़े आश्चर्यकी बात है कि पूर्वाभ्यासके कारण तुम कामके अधीन होकर विकल हो जाते हो॥ 6॥

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः।
आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत्कालमन्तमनुश्रितः॥ 7॥

ज्ञानका शत्रु है काम। शरीर-सम्बन्धी सारे पदार्थ मृत्यु-ग्रस्त हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस बातको जानकर भी तुम कमजोर हो जाते हो और भोगकी आकांक्षा करते हो॥ 7॥

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव बिभीषिका॥ 8॥

जो नित्यानित्य-वस्तु-विवेकी लौकिक-पारलौकिक भोगोंसे विरक्त एवं मुमुक्षु पुरुष भी मोक्षसे (विषयोंके अदर्शनरूप नाशसे) डरता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है॥ 8॥

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा।
आत्मानं केवलं पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति॥ 9॥

धीर पुरुष तो चाहे कोई भोग दे अथवा ताड़ना (पीड़ा) सर्वदा केवल आत्म-दृष्टि रखता है। न तुष्ट होता है, न रुष्ट॥ 9॥

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।
संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः॥ 10॥

महापुरुष तो कर्ममें लगे हुए अपने शरीरको दूसरेके शरीरके समान समझता है। चाहे कोई स्तुति करे चाहे निन्दा, उसे क्षोभ क्योंकर होगा?॥ 10॥

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः॥ 11॥

स्थितप्रज्ञ एवं आश्चर्यरहित पुरुष इस विश्वको जादूका खेल (माया मात्र) समझता है। मौतको सामने देखकर भी भला वह क्योंकर डरेगा? ॥ 11 ॥

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते॥ 12॥

जिस महात्मा पुरुषकी चित्त-वृत्तियाँ मोक्ष पदके लिए भी अथवा निर्विकल्प समाधिके लिए भी विचलित नहीं होती उस आत्म-ज्ञान-तृप्तकी समता भला किसके साथ की जा सकती है ॥ 12 ॥

स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किञ्चन।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः॥ 13॥

जो यह जानता है कि यह सम्पूर्ण दृश्य वस्तुतः कुछ नहीं है वह स्थित-प्रज्ञ भला यह क्यों देखने लगा कि यह ग्राह्य है और यह त्याज्य है ॥ 13 ॥

अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।
यदृच्छयाऽऽगतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये॥ 14॥

जिसने अपने अन्तःकरणसे वासनाओंका रंग धो दिया है, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको भगा दिया है और आशा, तृष्णाकी गन्धसे अछूता है, उसके सामने प्रारब्धवश भोग आवें, चाहें न आवें उसे न सुख होता है, न दुःख ॥ 14 ॥

●

: 4 :

हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानतः ॥ 1 ॥

यह सत्य है कि स्थितप्रज्ञ आत्मज्ञानी पुरुष भी भोगके खेल खेलता है, परन्तु संसारका भार होनेवाले मूढ़ोंके साथ उसकी कोई तुलना नहीं है ॥ 1 ॥

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥ 2 ॥

इन्द्रादि सारे देवता जिस पदकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त दीन हो रहे हैं, बड़े आश्चर्यकी बात है कि उसी पदपर स्थित होकर तत्त्वज्ञानी हर्षरूप विकारको नहीं प्राप्त होता ॥ 2 ॥

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते।
न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानाऽपि संगतिः ॥ 3 ॥

यद्यपि धूएँसे आकाश धूमिल-सा मालूम पड़ता है परन्तु वास्तवमें वह ऐसा नहीं है, ऐसे ही तत्त्वज्ञ पुरुषका पुण्य-पापसे (बाहर सम्बन्ध दीखनेपर भी) भीतर किसी प्रकारका संस्पर्श नहीं होता ॥ 3 ॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।
यदृच्छया वर्त्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः॥ 4॥

जिस महापुरुषने इस तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है कि यह सम्पूर्ण जगत् आत्म-स्वरूप ही है, यदि वह स्वेच्छानुसार (प्रारब्धसे) बर्ताव करे तो उसे भला कौन रोक सकता है?॥ 4॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छानिच्छाविवर्जने॥ 5॥

ब्रह्मासे तिनकेतक चार प्रकारके प्राणियोंमें एकमात्र तत्त्वज्ञ पुरुषकी वह शक्ति है कि वह इच्छा और अनिच्छा दोनोंका त्याग कर सके (विषयी जीव तो इच्छाका त्याग नहीं कर सकते और निर्विकल्प समाधिकी निष्ठामें तत्पर योगी अनिच्छाका परित्याग नहीं कर सकते—निष्काम-स्वरूपमें स्थित केवल तत्त्वज्ञ ही भावा भावात्मक दोनों स्थितियोंको प्रतीतिमात्र जानता है, यही इच्छा-अनिच्छाका त्याग है)॥ 5॥

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम्।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्॥ 6॥

कोई विरला पुरुष ही आत्मा और ब्रह्मकी एकताको जानता है। इसलिए वह सब कुछ कर सकता है, उसे कहीं भी कोई भय नहीं है॥ 6॥

●

: 5 :

न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज॥ 1॥

किसी भी वस्तुके साथ तुम्हारा अध्यास (तादात्म्य) नहीं है। तुम स्वयं शुद्ध हो फिर क्या छोड़ना चाहते हो? व्यष्टि अथवा समष्टि शरीरको इसी प्रकार विचारके द्वारा छोड़ते हुए तुम मुक्त हो जाओ॥ 1॥

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज॥ 2॥

जैसे समुद्रसे बुद-बुद उठते हैं वैसे ही तुमसे यह दृश्य पदार्थ उदय हो रहे हैं। इस प्रकार एकमात्र आत्म--सत्ताको ही जानकर तुम धीरे-धीरे निर्विकल्प, शान्त एवं मुक्त हो जाओ॥ 2॥

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज॥ 3॥

यद्यपि जगत् प्रत्यक्ष दीख रहा है तथापि यह तुम्हारे शुद्ध स्वरूपमें सर्वथा ही नहीं है। यह तो रज्जुमें सर्पके समान दीखने लगा है। ऐसा निश्चय करके तुम मुक्त हो जाओ॥ 3॥

समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज॥ 4॥

तुम पूर्ण हो, तुम यह जानकर कि सुख-दुःख, आशा-निराशा जीवन और मृत्यु समान ही हैं, मुक्त हो जाओ॥ 4॥

●

: 6 :

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत्।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ 1 ॥

मैं आकाशके समान अनन्त हूँ और यह प्राकृतिक जगत् घटके समान है (आकाशको अनन्त मानकर विचार करनेसे उसके किसी भी अंशमें घटकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती) ऐसी अवस्थामें न तो इस जगत्का त्याग है, न ग्रहण है और न तो लय ही है। यही ज्ञान है (अनन्त देशकी दृष्टिसे अल्प देश नहीं है) ॥ 1 ॥

महोदधिरिवाहं स प्रपञ्चो वीचिसन्निभः।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ 2 ॥

मैं महासमुद्रके समान हूँ और यह प्रपञ्च तरंगके समान। यह ज्ञान है। ऐसी अवस्थामें न तो इस प्रपञ्चका त्याग है, न ग्रहण है, न रूप है (कारणकी दृष्टिसे कार्य पृथक् नहीं है) ॥ 2 ॥

अहं सः शुक्तिसङ्काशो रूप्यवद्विश्वकल्पना।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ 3 ॥

मैं सीपके समान हूँ और मुझमें रजतके समान विश्वकी कल्पना हुई है। यह ज्ञान है। ऐसी वस्तु-स्थितिमें न जगत्का त्याग है, न ग्रहण है, न लय ही है। यहाँ जगत्की आत्माका विवर्त्त बतलाया है। तात्पर्य यह कि (भ्रान्तिजन्य) कार्य-कारण आदि भाव नहीं हैं ॥ 3 ॥

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ 4 ॥

मैं समस्त भूतोंमें हूँ और सब भूत मुझमें हैं (सीपमें रजतके समान) यह ज्ञान है। ऐसी अवस्थामें इस जगत्का त्याग, ग्रहण अथवा लय क्या होगा? (एकात्मवाद) ॥ 4 ॥

●

: 7 :

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः।
भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता॥ 1॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें मनकी वायुसे प्रेरित होकर जगत्-रूप नौका इधर-उधर घूमती रहती है, इससे मुझे कोई चिढ़ नहीं है॥ 1॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः॥ 2॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें यह जगत्‌की तरंग स्वभावसे ही उठे या न उठे। न तो इससे मेरी वृद्धि होती है और न तो क्षति॥ 2॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना।
अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः॥ 3॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें यह विश्व केवल कल्पनामात्र है, मैं अत्यन्त शान्त और नाम रूपसे रहित हूँ, यही मेरी निष्ठा है॥ 3॥

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः॥ 4॥

शरीरादिमें मैं आत्मा नहीं हूँ और न तो मुझ अनन्त शुद्धात्मामें शरीरादि ही हैं (शरीर और आत्माका व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है, वास्तवमें द्वैत है ही नहीं) अतः मुझमें न तो आसक्ति है, न स्पृहा, मैं अक्षुब्ध शान्त हूँ, यही मेरी निष्ठा है॥ 4॥

अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत्।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपदेयकल्पना॥ 5॥

कैसा आश्चर्य है कि मैं केवल चित्स्वरूप हूँ और यह जगत् इन्द्रजालके समान है। अब मुझे क्यों किसमें त्याज्य और ग्रहणकी कल्पना हो॥ 5॥

●

: 8 :

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिद्धृष्यति कुप्यति॥ 1॥

जब चित्त कुछ चाहता है, किसीके लिए शोक करता है, किसी वस्तुको छोड़ता-पकड़ता है और किसी वस्तुसे रुष्ट एवं तुष्ट होता है तब बन्धन है॥ 1॥

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति॥ 2॥

जब चित्त चाह, शोक, त्याग, ग्रहण, हर्ष और रोषसे रहित होता है तब मुक्ति है॥ 2॥

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदा चित्तमासक्तं सर्वदृष्टिषु॥ 3॥

जब चित्त किन्हीं दृष्टियोंमें आसक्त है तब बन्धन है। जब चित्त किसी भी दृष्टिमें आसक्त नहीं है तब मोक्ष है॥ 3॥

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा॥ 4॥

जब व्यष्टि-समष्टि अहंभावका बाध है तब मोक्ष है जब कहीं भी अहंभाव है तब बन्धन है। ऐसा जानकर अपेक्षासे न किसीको पकड़ो, न छोड़ो॥ 4॥

●

: 9 :

कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽव्रती॥ 1॥

'यह किया और यह नहीं किया'—यह द्वन्द्व कब, किसके शान्त हुए हैं ? ऐसा जानकर निर्वेदसे त्याग-परायण हो जाओ, कोई व्रत मत लो। (दृश्यकी किसी प्रतीतिके प्रति कुछ करने या न करनेका आग्रह मत करो। ज्ञानका फल अनाग्रह है) ॥ 1 ॥

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात्।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गता॥ 2॥

कोई बिरला ही महापुरुष ऐसा होता है जिसकी लोगोंके रंग-ढंग देखकर जीनेकी-भोगनेकी और जाननेकी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं (कर्त्तव्य, प्राप्तव्य, ज्ञातव्य, व्यक्तव्य, ज्ञानीको नहीं रहते) ॥ 2 ॥

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम्!
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति॥ 3॥

यह सम्पूर्ण जगत् मानसिक, दैविक एवं भौतिक तापसे दूषित तथा अनित्य है। इसमें कुछ सार नहीं है, निन्दित एवं त्याज्य है, ऐसा निश्चय करके वह शान्त हो जाता है ॥ 3 ॥

कोऽसौ कालो वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम्।
तान्युपेक्ष्य यथा प्राप्तवर्त्ती सिद्धिमवाप्नुयात्॥ 4॥

भला ऐसा कौन-सा समय है अथवा कौन-सी अवस्था है जब मनुष्य सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादिके द्वन्द्वोंसे आक्रान्त नहीं रहता ? इसलिए उनकी उपेक्षा करके जब जो जैसे मिले उसीसे अपना काम चला ले। ऐसे पुरुषको ही सिद्धि मिलती है ॥ 4 ॥

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः॥ 5॥

ऐसा कौन (विचारशील) मनुष्य है जो महर्षि साधु एवं योगियोंके अनेकों मतमतान्तर देख उनसे उदासीन होकर उपशान्त न हो जाय॥ 5॥

कृत्वा मूर्त्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः॥ 6॥

जो चैतन्यके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके निर्वेद और समताकी युक्तिसे औरोंको भी संसार-सागरसे तार देता है वह क्या गुरु नहीं है॥ 6॥

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।
तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि॥ 7॥

तुम पञ्चभूतके विकारोंको (देहेन्द्रियादिको) यथार्थमें पंचभूत-मात्र ही देखो। तब तुम तत्क्षण ही बन्धन-मुक्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओगे (अनात्ममें-से आत्मदृष्टि दूर होते ही अनात्मा असत् एवं आत्माकी स्वरूप-स्थिति हो जाती है)॥ 7॥

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः।
तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा॥ 8॥

वासना ही संसार है इसलिए इन सबका परित्याग कर दो। वासना त्यागसे ही संसारका त्याग होता है। अब शरीर, अन्तःकरण और संसारकी चाहे जैसी स्थिति हो उससे कोई सम्बन्ध नहीं॥ 8॥

●

: 10 :

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम्।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु॥ 1॥

अपने शत्रु काम, भोग और अनर्थ-संकुल अर्थ तथा इन दोनोंके कारण धर्मको भी छोड़कर सर्वत्र उपेक्षाका भाव रखो॥ 1॥

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः॥ 2॥

मित्र, जमीन, धन, महल, स्त्रियाँ, उत्तराधिकार आदि सम्पत्तियाँ स्वप्न और इन्द्रजालके समान तीन या पाँच दिनकी वस्तु है, ऐसा देखो, समझो॥ 2॥

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव॥ 3॥

जहाँ-जहाँ तृष्णा है वहीं-वहीं संसार है (इच्छुक, इच्छा और इष्टकी त्रिपुटी ही संसार है) प्रौढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर तृष्णाको छोड़ दो और सुखी (निश्चिन्त) हो जाओ॥ 3॥

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः॥ 4॥

बन्धनका स्वरूप है केवल तृष्णा। उसके नाशका ही नाम मोक्ष है। दृश्यवर्गमें अनासक्त होते ही बार-बार कृतकृत्यता और आनन्दकी उपलब्धि होने लगती है॥ 4॥

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा।
अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते॥ 5॥

तुम एक एवं शुद्ध चेतन हो और यह विश्व जड़ तथा असत् है। जिज्ञासुओंमें परम प्रसिद्ध अविद्या भी कुछ नहीं है। फिर तुम किस वस्तुको जाननेकी इच्छा करते हो?॥ 5 ॥

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥ 6 ॥

राज्य, पुत्र, स्त्री, शरीर, सुख—इनमें तुम जन्म-जन्म आसक्त रहे हो। परन्तु ये कभी रहे नहीं, नष्ट हो गये॥ 6 ॥

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः॥ 7 ॥

धन-भोग अथवा पुण्य-कर्म—ये सब अब काफी हो चुके हैं, बस करो। इस संसारके घोर जंगलोंमें इन साधनोंमें मनको शान्ति नहीं मिली॥ 7 ॥

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम्॥ 8 ॥

न जाने कितने जन्मोंतक तुमने शरीर, मन एवं वाणीसे परिश्रम और दुःखप्रद कर्मोंका अनुष्ठान किया है। अब भी तो उनसे उपराम हो जाओ!॥ 8 ॥

●

: 11 :

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति॥ 1॥

भावसे अभाव और अभावसे भावरूप विकार (जैसे जाग्रत्-स्वप्नसे सुषुप्ति, जन्मसे मृत्यु, सृष्टिसे प्रलय तथा पुनः प्रलयसे सृष्टि) स्वभावसे ही होते रहते हैं। जो ऐसा निश्चय कर लेता है वह विकार एवं क्लेशसे रहित हो जाता है और उसे अनायास ही शान्ति प्राप्त होती है॥ 1॥

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी।
अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते॥ 2॥

ईश्वर ही सर्वका निर्माता है, दूसरा कोई नहीं। जो ऐसा निश्चय कर लेता है उसकी सारी आशाएँ गल जाती हैं, वह शान्त हो जाता है और उसकी कहीं भी आसक्ति नहीं होती॥ 2॥

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाञ्छति न शोचति॥ 3॥

समयपर आपत्तियाँ और सम्पत्तियाँ दैव (प्रारब्ध)से होती हैं, ऐसा जो निश्चय कर लेता है वह सदा तृप्त रहता है। उसकी इन्द्रियाँ सदा स्वस्थ रहती हैं। न तो वह अप्राप्तकी प्राप्तिकी इच्छा करता है और न तो नष्ट वस्तुके लिए शोक ही करता है। (पहले श्लोकमें स्वभाववाद, दूसरेमें ईश्वरवाद, तीसरे श्लोकमें दैववादका आश्रय लेकर अपने अकर्त्तापनका अथवा अन्तःकरणकी निश्चिन्तताके उपायका वर्णन है)॥ 3॥

सुखदुःखे जन्ममृत्यु दैवादेवेति निश्चयी।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 4॥

सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु दैवसे ही होते हैं, जो ऐसा निश्चय कर लेता है, उसकी दृष्टिमें साध्य कुछ नहीं रहता। उसे परिश्रम नहीं होता और कर्म करनेपर भी वह तृप्त नहीं होता (कर्त्तव्य ही परिश्रम है)॥ 4॥

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः॥ 5॥

इस संसारमें चिन्तासे ही दुःख होता है अन्यथा नहीं। जिसने ऐसा निश्चय कर लिया है वह चिन्ताहीन सुखी एवं शान्त हो जाता है, उसको कहीं भी स्पृहा नहीं होती॥ 5॥

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्॥ 6॥

न मैं देह हूँ न देह मेरा है, मैं तो शुद्ध बोध-स्वरूप हूँ। जिसको ऐसा निश्चय हो गया है उसे मानो (नित्य-प्राप्त होनेके कारण) कैवल्यकी प्राप्ति हो गयी है, वह इस बातका स्मरण नहीं करता कि मैंने क्या किया और क्या नहीं किया॥ 6॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी।
निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः॥ 7॥

'ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब मैं ही हूँ'—ऐसा जिसका निश्चय है वह संकल्प-विकल्पसे रहित पवित्र एवं शान्त है। प्राप्ति और अप्राप्ति दोनोंमें वह निश्चिन्त है॥ 7॥

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति॥ 8॥

अनेक आश्चर्योंसे परिपूर्ण यह संसार कुछ नहीं है। ऐसा जिसका निश्चय है उसकी सारी वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। वह स्फूर्तिमात्र है और वह मानो कुछ नहीं है, निर्वाण ही निर्वाण है इस प्रकार शान्त हो जाता है। (उसका जीवन स्फूर्तिमात्र है वासनायुक्त नहीं है)॥ 8॥

●

: 12 :

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।
अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ 1 ॥

पहले शारीरिक कर्मकी असहिष्णुता तदनन्तर वाणीके विस्तारकी और फिर चिन्ता की असहिष्णुता। इसलिए मैं यों ही ज्योंका-त्यों स्थित हूँ। (कार्यका त्याग करनेसे धीरे-धीरे कारणकी भी आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है और निःसंकल्प स्थिति हो जाती है) ॥ 1 ॥

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः।
विक्षेपैकाहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥ 2 ॥

शब्दादि विषयोंमें प्रीति न होनेके कारण और आत्मा दृश्य नहीं है, इस हेतु से मैं विक्षेपके निमित्त उपस्थित होनेपर भी एकाग्र रहता हूँ (वृत्ति विषयाकार तो स्वयं नहीं होती और आत्माकार करनेकी आवश्यकता नहीं हो सकती) इसलिए मैं यों ही स्थित हूँ ॥ 2 ॥

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः ॥ 3 ॥

सम्यक् अध्यास आदिके कारण विक्षेप होने पर समाधिके लिए साधन होता है। ऐसा नियम देखकर मैं यों ही स्थित हूँ (विक्षेप नहीं तो समाधि भी नहीं) ॥ 3 ॥

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः।
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः ॥ 4 ॥

त्याज्य, ग्राह्य, हर्ष और विषाद न होनेके कारण हे ब्रह्मस्वरूप जनक! मैं तो यों ही ज्यों-का-त्यों स्थित हूँ ॥ 4 ॥

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम्।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः ॥ 5 ॥

'यह आश्रम है और यह आश्रमका त्याग'। यह ध्यान है और यह विक्षेप। यह चित्तके द्वारा स्वीकार करने योग्य है और यह नहीं'—इन बातोंसे विकल्प ही होता है। इसलिए मैं तो (इन सबको छोड़कर) यों ही स्थित हूँ ॥ 5 ॥

कर्माऽनुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा ।
बुद्ध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः ॥ 6 ॥

जैसे अज्ञानसे कर्मानुष्ठान होता है वैसे ही अज्ञानसे उसका त्याग भी होता है। इस तत्त्वको भलीभाँति जानकर मैं तो यों ही (प्रवृत्ति-निवृत्तिसे निरपेक्ष) स्थित हूँ ॥ 6 ॥

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ 7 ॥

अचिन्त्य आत्मतत्त्वका चिन्तन करनेसे भी वह चिन्तनरूप हो जाता है। इसलिए उसका चिन्तन, भावना छोड़-छाड़कर मैं तो यों ही अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित हूँ ॥ 7 ॥

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ ॥ 8 ॥

जिसने अभ्यासके द्वारा अपनेको ऐसा बना लिया वह कृतार्थ हो जाता है। जिसका ऐसा स्वभाव ही है वह स्वतः कृतार्थ है ॥ 8 ॥

●

: 13 :

अकिञ्चनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।
त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ 1 ॥

'आत्माके सिवाय अन्य कोई वस्तु है ही नहीं' ऐसे बोधसे जो स्वस्थता प्राप्त होती है वह केवल कौपीनधारी होनेपर भी दुर्लभ है। इसलिए त्याग-ग्रहणका परित्याग करके मैं मौजसे रहता हूँ॥ 1 ॥

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्॥ 2 ॥

कहीं तो शरीरको कष्ट होता है और कहीं जिह्वाको तथा कहीं मनको। इसलिए उन सबको छोड़कर अपने स्वरूपमें सुखपूर्वक स्थित हूँ॥ 2 ॥ (व्यवहारपर दृष्टि रखी जाय तो उसमें तो कुछ-न-कुछ हर जगह दुःख है ही, अतः उधरसे दृष्टि हटा लेनी चाहिए)।

कृतं किमपि नैव स्यादिति संचिन्त्य तत्त्वतः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वाऽऽसे यथासुखम्॥ 3 ॥

शरीर अन्तःकरणदिके द्वारा किया हुआ कर्म वस्तुतः कुछ नहीं है, प्रतीतिमात्र है, ऐसा निश्चय करके जब जो सामने आ जाता है वह करके मैं मौजसे रहता हूँ॥ 3 ॥

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम्॥ 4 ॥

कर्मका संकल्प करो अथवा उसके त्यागका संकल्प करो, यह दुराग्रह तो देहाभिमानी साधकके लिए है। न मुझसे किसीका संयोग है और न तो वियोग (क्योंकि दूसरा कोई नहीं है) इसलिए मैं यथासुख रहता हूँ॥ 4॥

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या वा शयनेन वा।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम्॥ 5॥

स्थिति, गति अथवा शयनसे न मेरा कोई लाभ है न तो हानि; इसलिए बैठते, उठते-सोते मैं अपनी मौजसे रहता हूँ॥ 5॥

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ 6॥

न सोनेसे मेरी कोई हानि है और न तो यत्नतः प्राप्त सिद्धिसे कोई लाभ। इसलिए हानि और लाभकी बुद्धिका परित्याग करके मैं मौजसे रहता हूँ॥ 6॥

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ 7॥

जगत्के किसी भी पदार्थमें, स्थितिमें, यह सुख है यह दुःख है ऐसा नियम नहीं है यह बात मैंने बार-बार देख ली है। इसलिए शुद्ध (हित) और अशुद्ध (अहित) बुद्धिका परित्याग करके मैं मौजसे रहता हूँ॥ 7॥

●

: 14 :

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः॥ 1॥

जिसका चित्त स्वभावसे ही शून्य (विषय-चिन्तन-रहित) है और जो प्रमाद (उपेक्षा, बेगार टालनेकी तरह)से विषयोंमें बरत लेता है सो भी इस तरह मानो कोई गाढ़ी नींदसे जगाया हुआ पुरुष आलस्यभरे शरीरसे काम कर रहा हो—ऐसा पुरुष संसार से रहित ही है॥ 1॥

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा॥ 2॥

जब मेरी स्पृहा ही नष्ट हो गयी तब धन क्या, मित्र क्या और मेरे लिए विषय-रूप लुटेरे भी क्या? और तो क्या मेरे लिए शास्त्र और विज्ञान भी तो कुछ नहीं है?॥ 2॥

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।
नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चिन्ता मुक्तये मम॥ 3॥

शुद्ध त्वं-पदार्थ और शुद्ध तत्पदार्थ दोनों एक ही साक्षी हैं। यह बात जान लेने पर जब बन्ध और मोक्ष दोनोंकी आस्था नष्ट हो गयी तब मुझे मुक्तिके लिए क्या चिन्ता हो सकती है॥ 3॥

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते॥ 4॥

जो भीतरसे तो विकल्प-शून्य है और बाहरसे भ्रान्त-पुरुषके समान स्वच्छन्द आचरण करता है, उसकी उन-उन अनिर्वचनीय अवस्थाओं को वैसे लोग ही जानते हैं॥ 4॥

●

: 15 :

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान्।
अजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति ॥ 1 ॥

सात्त्विक-बुद्धिसे सम्पन्न पुरुषको जैसे-तैसे थोड़ेमें भी समझा दो तो वह कृतार्थ हो जाता है और इससे हीन पुरुष तो जीवनभर जिज्ञासा करता फिरे तो भी मोहग्रस्त ही रहता है ॥ 1 ॥

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ 2 ॥

विषयोंका नीरस हो जाना ही मोक्ष है, विषयमें रस आना ही बन्धन है; बस इतना ही विज्ञान है। (इसे जानकर) जो इच्छा हो करो ॥ 2 ॥

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम्।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः ॥ 3 ॥

यह तत्त्वबोध वक्ताको मूक, प्राज्ञको जड़ और महान् उद्योगीको आलसी बना देता है। इसलिए भोग चाहने वालोंने इसका परित्याग कर दिया है ॥ 3 ॥

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर ॥ 4 ॥

न तुम देह हो और न देह तुम्हारा है, न तुम कर्त्ता हो और न तुम भोक्ता। तुम सदा एकरस चेतन साक्षी हो। निरपेक्ष होकर सुखसे विचरो ॥ 4 ॥

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखंचर ॥ 5 ॥

राग-द्वेष मनके धर्म हैं और यह मन कदापि तुम्हारा नहीं है। तुम विकल्प एवं विकारसे रहित बोधस्वरूप हो। सुखसे विचरो ॥ 5 ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममत्वं सुखी भव ॥ 6 ॥

समस्त पदार्थोंमें अपने-आपको और समस्त पदार्थोंको अपने-आपमें जानकर अहंकार और ममतासे रहित एवं सुखी हो जाओ (जहाँ आधार-आधेय भाव नियत होता है वहाँ वह सत्य होता है आत्मा और विश्वमें वह (आधार-आधेय भाव) अनियत है, इसलिए रज्जु-सर्पके समान मिथ्या है। केवल आत्मा ही है॥ 6॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
तत्त्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव॥ 7॥

ओ चित्स्वरूप! जिस अधिष्ठान चैतन्यमें, समुद्रमें तरंगके समान यह विश्व चमक रहा है, वह तुम ही हो; इसमें सन्देह नहीं—निश्चिन्त हो जाओ॥ 7॥

श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः॥ 8॥

वत्स! श्रद्धा करो श्रद्धा करो, इस सम्बन्धमें भूल मत करो। तुम्हारा शुद्ध स्वरूप प्रकृतिसे परे केवल ज्ञान और तत्-पदके लक्ष्यार्थसे एक है। तुम (ईश्वरत्व और जीवत्वकी उपाधिसे मुक्त) आत्मा हो॥ 8॥

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि॥ 9॥

गुणोंसे (संस्कार, वासना, इन्द्रिय, वृत्ति और प्राणोंसे) लपेटा हुआ (वेष्टित) यह शरीर ही स्थित है यही आता-जाता है। आत्मा न आता है, न जाता है; फिर तुम इसके लिए क्यों शोक करते हो?॥ 9॥

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः॥ 10॥

चाहे यह शरीर कल्पपर्यंत रहे और चाहे आज ही मर-मिट जाय, तुम केवल चित्-स्वरूप हो। इससे तुम्हारी हानि अथवा लाभ ही क्या है?॥ 10॥

त्वय्यनन्तमहामभोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः॥ 11॥

तुम अनन्त महासमुद्र हो और तुममें यह विश्व एक नन्हीं-सी तरंग। यह स्वभावसे ही उठे या न उठे। इससे न तो तुम्हारी कोई बढ़ती है और न घटती ॥ 11 ॥

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥ 12॥

वत्स! तुम केवल चित्स्वरूप हो। यह जगत् तुमसे भिन्न नहीं है। ऐसी स्थितिमें किसे, कहाँ, क्यों, हेय और उपादेयकी कल्पना हो ॥ 12 ॥

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च॥ 13॥

तुम एक अविनाशी, शान्त एवं निर्मल चिदाकाश हो। तुममें जन्म कहाँ? कर्म कहाँ? और अहंकार ही कहाँ? ॥ 13 ॥

यत्त्वं पश्यति तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।
किं पृथग्भासते स्वर्णात्कटकाङ्गदनूपुरम्॥ 14॥

जो कुछ तुम देखते हो उस दीखनेवाले पदार्थके रूपमें एकमात्र तुम्हीं प्रतीत हो रहे हो। क्या कड़े, बाजूबन्द और पायजेब स्वर्णसे पृथक् प्रतीत होते हैं? ॥ 14 ॥

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखी भव॥ 15॥

यह मैं हूँ, वह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, इस बँटवारेको छोड़ दो। सब आत्मा ही है—ऐसा निश्चय करके निःसंकल्प और सुखी हो जाओ ॥ 15 ॥

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन॥ 16॥

तुम्हारे निज स्वरूपके अज्ञानसे ही विश्वकी सत्ता है। परमार्थतः एकमात्र तुम ही हो, तुमसे भिन्न न तो कोई संसारी जीव है औन न कोई असंसारी (ईश्वर) ॥ 16 ॥

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति॥ 17॥

यह विश्व भ्रान्ति-मात्र है। वस्तुतः कुछ नहीं है। जिसका ऐसा निश्चय हो गया है—उसकी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वह स्फूर्ति-मात्र है, वह 'न कुछ' के समान निर्वाणका अनुभव करता है ॥ 17 ॥

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति।
न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर॥ 18॥

इस संसार-समुद्रमें एक ही था और रहेगा। न तुम्हारा बन्धन है और न तो मोक्ष। तुम कृतकृत्य हो, सुखसे विचरो ॥ 18 ॥

मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे॥ 19॥

ओ चित्स्वरूप! संकल्प और विकल्पके द्वारा अपना चित्त क्षुब्ध मत करो। उपशम, शान्त हो जाओ और अपने आनन्द-स्वरूप आत्मामें सुखसे रहो ॥ 19 ॥

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किञ्चिद्धृदि धारय।
आत्मा त्वम्मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥ 20॥

तुम कहीं भी किसीका भी ध्यान मत करो। कहीं कुछ भी हृदयमें धारण मत करो। तुम नित्य मुक्त आत्मा हो। विचार करके भी क्या करोगे ॥ 20 ॥

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥ 1॥

वत्स! चाहे तुम बार-बार अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करो या श्रवण करो। फिर भी जबतक तुम सबको भूल नहीं जाओगे (निःसंकल्प दशा प्राप्त नहीं करोगे) तबतक तुम्हारी स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती॥ 1॥

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति॥ 2॥

विवेकी! तुम भोग करो, कर्म करो या समाधि लगाओ। तुम्हें परम सुख-शान्तिका अनुभव तो तभी होगा जब तुम्हारे चित्तसे सब आशा (क्रिया, भाव अथवा स्थितिकी आस्था) सर्वथा मिट जायगी॥ 2॥

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्॥ 3॥

अभ्यास (कर्म, करण और कर्त्ताकी त्रिपुटीसे तादात्म्य) से ही सब दुःखी हैं परन्तु इस बातको कोई समझता ही नहीं है। शुद्धान्तःकरण पुरुष केवल इसी उपदेशसे परम सुख-शान्तिकी प्राप्ति करते हैं॥ 3॥

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि।
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित्॥ 4॥

जो महापुरुष आँख खोलने और मूँदनेके व्यापारमें भी खेदका अनुभव करता है (कर्त्तव्यके स्वीकार-मात्रको साक्षी भावसे च्युति समझता है) उसी आलसी-शिरोमणिको सुख है और किसीको नहीं॥ 4॥

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत्॥ 5॥

'जब यह किया और यह नहीं किया' इन द्वन्द्वोंसे मन मुक्त हो जाता है, तब वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंसे निरपेक्ष हो जाता है॥ 5॥

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्॥ 6॥

विरक्त पुरुष विषयसे द्वेष करता है और रागी पुरुष विषयोंके लिए मचलता रहता है, परन्तु जो ग्रहण और त्याग के भावसे रहित है वह तो न विरक्त है और न तो रागी है ॥ 6 ॥

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपाङ्कुरः।
स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम्॥ 7 ॥

स्पृहाका आश्रय है अविवेक-दशा। यह जबतक रहती है तबतक त्याज्य और ग्राह्यका भेद रहता है, यही संसार रूप वृक्षका अंकुर है ॥ 7 ॥

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः॥ 8 ॥

प्रवृत्तिमें राग हो जाता है और निवृत्तिमें द्वेष हो जाता है, परन्तु विवेकी पुरुष तो बालकके समान निर्द्वन्द्व होता है। इसलिए वह यों ही (प्रवृत्ति-निवृत्तिमें समान) रहता है ॥ 8 ॥

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।
वीतरागो हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यति॥ 9 ॥

रागी पुरुष दुःखसे छूटनेकी इच्छासे संसारका त्याग करना चाहता है, परन्तु वीत-राग पुरुष दुःख-रहित होनेके कारण संसारमें भी खेदका अनुभव नहीं करता ॥ 9 ॥

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।
न च योगी न वा ज्ञानी केवलं दुःखभ गसौ॥ 10 ॥

जिसको अपनी मुक्तिका भी अभिमान है और शरीरमें भी ममता है—वह न तो योगी है न ज्ञानी, केवल दुःखका ही हकदार है ॥ 10 ॥

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कलजोऽपि वा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥ 11 ॥

चाहे तुम्हें शिवजी, भगवान् विष्णु अथवा ब्रह्मा ही उपदेश क्यों न करें; फिर भी सबका विस्मरण हुए बिना तुम्हारी स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती ॥ 11 ॥

●

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः॥ 1॥

जो अपने आपमें तृप्त है, जिसकी इन्द्रियाँ पवित्र हैं और जो हमेशा अपने एकाकीपनेमें ही रमता है उसने ज्ञानका तथा योगाभ्यासका फल प्राप्त कर लिया॥ 1॥

न कदाचिज्जगत्यस्मिस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम्॥ 2॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि तत्त्वज्ञ पुरुष इस जगत्‌में कभी खेदका अनुभव नहीं करता, क्योंकि उस एकके ही द्वारा यह समस्त ब्रह्माण्ड-मण्डल परिपूर्ण हो रहा है॥ 2॥

न जातु विषयाः केऽपि स्वरामं हर्षयन्त्यमी।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः॥ 3॥

आत्माराम पुरुषको दृश्य जगत्‌के कोई भी विषय कभी हर्षित करनेमें समर्थ नहीं हैं, ठीक वैसे ही जैसे मीठी-मीठी सल्लकी लताके पत्तों से तृप्त हाथीको नीमके कड़वे पत्ते॥ 3॥

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भवदुर्लभः॥ 4॥

जो महापुरुष भोगोंका भोग समाप्त हो जानेपर उनकी वासनासे युक्त नहीं हो जाता और भोगोंके न मिलनेपर उनकी आकांक्षा नहीं करता, ऐसा (महापुरुष) संसारमें दुर्लभ है॥ 4॥

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः॥ 5॥

इस जगत्‌में बुभुक्षु और मुमुक्षु दोनों ही मिलते हैं। परन्तु, महापुरुष जो भोग और मोक्ष दोनों नहीं चाहता हो कोई विरला ही होता है॥ 5॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि॥ 6॥

किसी भी उदारचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुषकी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जीवन तथा मरणमें हेयोपादेय बुद्धि नहीं होती॥ 6॥

वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।
यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम्॥ 7॥

न विश्वके विलयकी इच्छा है और न तो इसकी स्थितिसे कोई द्वेष है, इसलिए कृतकृत्य पुरुष जैसे जीवन-निर्वाह हो वैसे ही यथा-प्राप्तमें मौजसे रहते हैं॥ 7॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्॥ 8॥

इस ज्ञानसे मैं कृतार्थ हूँ—ऐसा निश्चय होते ही बुद्धि-वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, इसलिए कृतार्थ पुरुष नेत्रसे दर्शन, श्रोत्रसे श्रवण, त्वचासे स्पर्श, नासिकासे घ्राण और रसनासे रस ग्रहण करता हुआ भी मस्तीसे रहता है॥ 8॥

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे॥ 9॥

जिसका संसार-सागर सूख गया है (मरुस्थलमें प्रतीयमान समुद्रमें-से समुद्रत्व-बुद्धिके बोधके समान संसारमें-से संसारत्व-बुद्धि बाधित हो गयी है) उसकी दृष्टि शून्य है, चेष्टाएँ व्यर्थ हैं अथवा इन्द्रियाँ विकल हैं—इन बातोंमें न स्पृहा है न तो विरक्ति॥ 9॥

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः॥ 10॥

न जागता है न सोता है, न आँखें खोलता है न मीचता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि मुक्त-चित्त पुरुषकी कुछ विलक्षण ही अनिर्वचनीय-सी दशा होती है॥ 10॥

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते॥ 11॥

मुक्त-पुरुष सर्वत्र स्वस्थ रहता है। सर्वत्र उसका हृदय निर्मल रहता है। लेशमात्र भी वासना उसका स्पर्श नहीं कर सकती। वह सर्वत्र एक-सा शोभायमान होता है ॥ 11 ॥

पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गृह्णन् वदन् व्रजन्।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः ॥ 12 ॥

महानिश्चय-सम्पन्न महापुरुष देखते, सुनते, छूते, सूँघते, भोगते, पकड़ते, बोलते और चलते भी रागद्वेष, इच्छा एवं अनिच्छासे मुक्त ही रहता है। वास्तवमें वह मुक्त ही है ॥ 12 ॥

न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।
न ददाति न गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः ॥ 13 ॥

मुक्त-पुरुषको किसी भी अनात्माके समान प्रतीयमान वस्तुमें रस नहीं है। इसलिए वह निन्दा-स्तुति, हर्ष-क्रोध, दान और आदानसे सर्वथा रहित होता है ॥ 13 ॥

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थिताम्।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः ॥ 14 ॥

जो महानिश्चय-सम्पन्न महापुरुष अपने सामने अनुरागवती युवती अथवा मृत्युको भी उपस्थित देखकर विह्वल नहीं होता, स्वस्थ रहता है; वह पुरुष मुक्त ही है ॥ 14 ॥

सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु च विपत्सु च।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥ 15 ॥

स्थित-प्रज्ञ एवं सर्वत्र समदर्शी पुरुषके लिए सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष और सम्पत्ति-विपत्तिमें कोई अन्तर नहीं है ॥ 15 ॥

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे ॥ 16 ॥

जिस पुरुषका संसार-भाव नष्ट हो चुका है—उसमें न हिंसा है और न तो करुणा। न उच्छृङ्खलता है और न तो दीनता। उसके लिए न तो कहीं आश्चर्यकी बात है ओर न क्षोभकी ॥ 16 ॥

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः।
असंसक्तमना: नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते॥ 17॥

मुक्त पुरुष न तो विषयोंसे द्वेष करता है और न तो उसके लिए लोलुप होता है। उसका मन कहीं भी आसक्त नहीं होता। वह सदा प्राप्त एवं अप्राप्त वस्तुका उपभोग करता है॥ 17॥

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः॥ 18॥

दृश्य मिथ्यात्वके कालमें जिसका चित्त शून्य हो गया है और जो अपने कैवल्य-स्वरूपमें मानों स्थित है, वह पुरुष समाधि और विक्षेप, हित और अहितकी झूठी कल्पनाओंको जानता ही नहीं है॥ 18॥

निर्ममो निरहङ्कारो न किञ्चिदिति निश्चितः।
अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 19॥

जिसकी अहंता और ममता नष्ट हो चुकी है, जिसका यह निश्चय है कि मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं, उसकी सब आशा और अवस्थाएँ भीतर ही गल जाती हैं। और वह करता हुआ भी कर्तृत्व (कर्म अथवा फल) से लिप्त नहीं होता॥ 19 ॥

मनः प्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः।
दशां कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः॥ 20॥

जिसका मन और मानस-संसार सत्ता-शून्य हो चुका है वह किसी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्थामें स्थित हो जाता है कि न तो उसे मनका प्रकाश, मोह अथवा स्वप्नावस्था कह सकते और न तो जड़ अवस्था ही कह सकते हैं॥ 20॥

●

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे॥ 1॥

जिसके बोधका उदय होनेपर, जागनेपर स्वप्नके समान भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है, उस एकमात्र सुखस्वरूप शान्त प्रकाशको नमस्कार है (प्रकाश अर्थात् बोद्धा और बोध्यसे रहित शुद्ध-बोध। नमस्कार अर्थात् उस सत्तासे अपनी सत्ताका अपार्थक्य)॥ 1॥

अर्जयित्वाऽखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्।
न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत्॥ 2॥

कोई जगत्के समस्त पदार्थोंका उपार्जन करके अधिक-से-अधिक भोग प्राप्त कर सकता है, परन्तु सबका परित्याग किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता॥ 2॥

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्॥ 3॥

जिसका चित्त 'यह कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है' इत्यादि दुःखोंकी मार्त्तण्ड-ज्वालासे झुलस रहा है उसे भला कर्म-त्याग रूप पीयूष-धाराका सार सेवन किये बिना सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है॥ 3॥

भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः।
नास्त्यभावः स्वभावानां भावाभावविभाविनाम्॥ 4॥

यह संसार केवल भावना है, परमार्थतः कुछ नहीं है। भाव और अभावके रूपमें स्थित पदार्थोंका कभी अभाव नहीं हो सकता (भावका अभाव और अभावका अभाव होना भाव होना है)॥ 4॥

न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम्॥ 5॥

आत्माका स्वरूप न दूर है न निकट। वह तो प्राप्त ही है। (तुम स्वयं ही हो) उसमें न विकल्प है, न प्रयत्न, न विकार है, न मल॥ 5॥

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः॥ 6॥

अज्ञानमात्रकी निवृत्ति होते ही अथवा स्वरूपका ठीक-ठीक बोध होते ही दृष्टिका आवरण-भंग हो जाता है और तत्त्वज्ञ-पुरुष शोक-रहित होकर शोभायमान होते हैं॥ 6॥

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्॥ 7॥

सब कुछ कल्पनामात्र है और आत्मा नित्य मुक्त है, धीर-पुरुष इस बातको जानकर फिर बालकके समान क्या अभ्यास करे? (अप्राप्त-वस्तुकी प्राप्तिके लिए अथवा आगन्तुक वस्तुकी निवृत्तिके लिए अभ्यास किया जाता है। जब कुछ अप्राप्त नहीं है, आगन्तुकका अस्तित्व नहीं है, तो अभ्यास किसलिए होगा?)॥ 7॥

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्?॥ 8॥

आत्मा ही ब्रह्म है और भाव, अभाव कल्पित हैं—ऐसा निश्चय होते ही काम-ग्रन्थियाँ (भोक्ता, भोग्य और भोगकी त्रिपुटियाँ) शान्त हो जाती हैं। फिर क्या जाने, क्या कहे, क्या करे?॥ 8॥

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः॥ 9॥

वही 'यह मैं हूँ यह मैं नहीं हूँ' इत्यादि विकल्पनाएँ शान्त हो गयी हैं, उस पुरुषके लिए जो सब आत्मा ही है' ऐसा निश्चय करके चुप हो गया है। (जहाँ स्पन्दन है वहाँ शब्द है, जो निस्सन्देह है वही मौन है। मौन केवल आत्मा ही है)॥ 9॥

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता।
न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः॥ 10॥

अपने स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञके लिए न विक्षेप है और न तो एकाग्रता। न ज्ञान है न अज्ञान। न सुख है न दुःख॥ 10॥

स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः॥ 11॥

जो तत्त्वज्ञ स्वभावसे ही निर्विकल्प है (जो अभ्यास-जनित निर्विकल्पता है वह आगन्तुक, अनात्मा, मिथ्या है) उसके लिए अपने राज्यमें अथवा भिक्षामें, लाभ-हानिमें, भीड़में अथवा सूने जंगलमें कोई अन्तर नहीं है॥ 11॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता।
इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः॥ 12॥

'यह कर लिया और वह कार्य शेष है' इन द्वन्द्वोंसे जो मुक्त है उसके लिए धर्म कहाँ, काम कहाँ, अर्थ कहाँ और विवेक भी कहाँ है?॥ 12॥

कृत्यं किमपि न एव न कापि हृदि रञ्जना।
यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः॥ 13॥

जीवनमुक्त ज्ञानीके लिए न तो कुछ कर्त्तव्य है और न तो उसके हृदयमें कोई रंग कहीं है। जिस प्रकार जीवन बीते वही उसकी स्थिति है॥ 13॥

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः॥ 14॥

जो महात्मा समस्त संकल्पोंकी सीमा पर विश्राम कर रहा है (साक्षीमात्र है) उसके लिए अज्ञान कहाँ, विश्व कहाँ, ध्यान कहाँ और मुक्ति भी कहाँ है?॥ 14॥

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति॥ 15॥

जिसने इस विश्वको कभी देखा हो वह कहा करे कि 'यह नहीं है, नहीं है।' जिसे विषय-वासना ही नहीं है वह क्या करे? वह तो देखता हुआ भी नहीं देखता॥ 15॥

येन दृष्टं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति न चिन्तयेत्।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति॥ 16॥

जिसने परब्रह्मको देखा हो वह इस तरह चिन्तन किया करे कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ—सोऽहं सोऽहं'। जिसे कुछ दूसरा दीखता ही नहीं, वह निश्चिन्त क्या चिन्तन करे ?॥ 16 ॥

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्॥ 17 ॥

जिसने अपने स्वरूपमें कभी विक्षेप देखा है, वही निरोध करता है। तत्त्वज्ञ पुरुष तो कभी विक्षिप्त ही नहीं हुआ। उसके लिए कुछ साध्य ही नहीं है फिर वह करे क्या ?॥ 17 ॥

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्त्तमानोऽपि लोकवत्।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति॥ 18 ॥

तत्त्वज्ञ-पुरुष तो संसारियोंसे उलटा ही होता है। वह लोगों-जैसा व्यवहार करता हुआ भी अपने स्वरूपमें न समाधि देखता है, न विक्षेप और न तो लेप ही॥ 18 ॥

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।
नैव किञ्चित् कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता॥ 19 ॥

तत्त्वज्ञ-पुरुष भाव और अभावसे रहित तृप्त एवं वासना रहित है। लोक-दृष्टिसे सीधा-उलटा बहुत कुछ करते रहने पर भी वह कुछ नहीं करता॥ 19 ॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्॥ 20 ॥

तत्त्वज्ञ-पुरुषका प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे दुराग्रह नहीं होता है। जब जो सामने आ जाता है तब वह करके मौजसे रहता है॥ 20 ॥

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्॥ 21 ॥

ज्ञानी पुरुष वासना, आलम्बन, परतन्त्रता और अज्ञानके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होता है। जैसे वायुवेगसे सूखा पत्ता हिलता-डोलता उड़ता-पड़ता है, वैसे ही प्रारब्धसे उसका शरीर॥ 21 ॥

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते॥ 22॥

संसार-मुक्त पुरुषको न कभी कहीं हर्ष होता है और न विषाद। उसका मन सर्वदा शीतल रहता है और वह संदेह होनेपर भी विदेहके समान शोभायमान होता है॥ 22॥

कुत्रापि न जिहासाऽस्ति आशा वाऽपि न कुत्रचित्।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः॥ 23॥

जिसका अन्तःकरण शीतल एवं स्वच्छ है, अनात्मासे जिसकी प्रीति नहीं है और जो दृश्य-वर्गके परिवर्तनोंको शान्त-दृष्टिसे देखता है, उसकी न तो किसी वस्तुके त्यागकी इच्छा होती है और न तो कभी कुछ पानेकी आशा॥ 23॥

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता॥ 24॥

जिस धीरका चित्त स्वभावसे ही शून्य (निर्विषय) है, वह साधारण पुरुषके समान प्रारब्ध-वश (विषय होनेपर भी राग-रहित) बहुतसे काम करता है। परन्तु, न उसे मान है और न तो अपमान ही॥ 24॥

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।
इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न॥ 25॥

'यह कर्म शरीरने किया है मैंने नहीं, मैं तो शुद्ध स्वरूप हूँ'—जिसने इस प्रकार निश्चय कर लिया है, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता॥ 25॥

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते॥ 26॥

सुखी एवं श्रीमान् जीवन्मुक्त पुरुष 'जो करे भी और मुकर भी जाय' ऐसे विषयीके समान काम करता है; परन्तु विषयी नहीं होता। यह तो संसारका कार्य करता भी अतिशय शोभाको प्राप्त होता है॥ 26॥

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति॥ 27॥

धीर पुरुष अनेक विचारोंसे थककर अपने स्वरूपमें विश्राम पा चुका है। वह न कल्पना करता हे, न जानता है। न सुनता है और न देखता है॥ 27॥

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः॥ 28॥

ज्ञानी-पुरुष समाहित चित्तममें आग्रह न होनेके कारण मुमुक्षु नहीं है और विक्षेप नहीं होनेके कारण विषयी नहीं है। मेरे सिवाय जो कुछ दीख रहा है सब कल्पित ही है—ऐसा निश्चय करके सबको देखता हुआ वह वास्तमें ब्रह्म ही है॥ 28॥

यस्यान्तः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किञ्चिदकृतं कृतम्॥ 29॥

जिसके भीतर अहंकार है वह देखनेमें कर्म न करे तो भी करता है पर जो धीर-पुरुष निरहंकार है वह न कुछ किया और न कुछ न किया (कर्म और कर्म-त्याग) दोनोंसे सब कुछ करते हुए भी रहित है॥ 29॥

नोद्विग्नं न च संतुष्टमकर्तृस्पन्दवर्जितम्।
निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते॥ 30॥

मुक्त पुरुषके चित्तमें न उद्वेग है, न सन्तोष। न कर्तृत्व है, न स्पन्द। न आशा है, न सन्देह। वास्तवें ऐसे चित्तकी ही शोभा है॥ 30॥

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते।
निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायति विचेष्टते॥ 31॥

जीवन्मुक्तका चित्त ध्यान न करनेके लिए और न तो व्यवहार करनेके लिए ही प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रवृत्ति-निमित्त शून्य होनेपर भी ध्यान भी करता है और व्यवहार भी करता है॥ 31॥

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम्।
अथवाऽऽयाति सङ्कोचममूढः कोऽपि मूढवत्॥ 32॥

बुद्धि-शून्य पुरुष यथार्थ-तत्त्वका वर्णन सुनकर और अधिक मूढ़ता (संशय-विपर्यय) को प्राप्त होता है। अथवा समाधिकी ओर अग्रसर हो जाता है। कभी-कभी तो कोई-कोई ज्ञानी पुरुष भी संशय-विपर्यय अथवा समाधिकी वासनासे शून्य होनेपर भी उसी मूढ़के समान व्यवहार करने लगते हैं॥ 32॥

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः॥ 33॥

मूढ पुरुष बार-बार एकाग्रता तथा निरोधका अभ्यास करते हैं। धीर पुरुष सुषुप्तके समान अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं और एकाग्रता तथा निरोधको भी कर्त्तव्य रूपसे नहीं देखते॥ 33॥

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः॥ 34॥

मूढ़ पुरुष प्रयत्नसे अथवा प्रयत्न-त्यागसे शान्ति नहीं प्राप्त करता। प्रज्ञावान् पुरुष तत्त्वके निश्चय मात्रसे शान्ति प्राप्त कर लेता है॥ 34॥

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः॥ 35॥

आत्माके सम्बन्धमें जो लोग अभ्यासमें लग रहे हैं, वे अपने शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, निष्प्रपंच और निरामय ब्रह्म-स्वरूपको सर्वथा ही नहीं जानते हैं॥ 35॥

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यसरूपिणः।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः॥ 36॥

अज्ञानी कर्मरूप अभ्यासके द्वारा मुक्ति नहीं पा सकता और ज्ञानी कर्म रहित होनेपर भी केवल ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ 36॥

मूढो नाप्नोति तद् ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्म स्वरूपभाक्॥ 37॥

अज्ञानीको ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता क्योंकि वह ब्रह्म होना चाहता है (इच्छा ही ब्रह्मत्वमें प्रतिबन्धक है) ज्ञानी पुरुष इच्छा न करनेपर भी परब्रह्म बोध-स्वरूप है॥ 37॥

निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः ॥ 38 ॥

अज्ञानी निराधार आग्रहोंमें पड़कर संसारका पोषण करते हैं। ज्ञानियोंने समस्त अनर्थोंकी जड़ संसार-सत्ताका ही सर्वथा उच्छेद कर दिय है ॥ 38 ॥

न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः ॥ 39 ॥

अज्ञानीको शान्ति नहीं (मिल) हो सकती, क्योंकि वह शान्त होनेकी इच्छासे युक्त है (इच्छा ही अशान्ति है)। ज्ञानी पुरुष तत्त्वका दृढ़ निश्चय करके सर्वदा शान्त मानस ही रहता है ॥ 39 ॥

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलम्बते।
धीरास्तं तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम् ॥ 40 ॥

अज्ञानीको आत्म-साक्षात्कार कैसे हो सकता है जब कि वह दृश्य पदार्थका आलम्बन स्वीकार करता है। ज्ञानी पुरुष उन दृश्य पदार्थोंको देखता ही नहीं, वह तो अपने अविनाशी स्वरूपको ही देखता है ॥ 40 ॥

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः ॥ 41 ॥

जो आग्रह करता है उस मूर्खका चित्त निरुद्ध कहाँ है। स्थित-प्रज्ञ आत्मारामका चित्त तो सर्वदा स्वाभाविक ही निरुद्ध रहता है (चेत्ताका अस्तित्व नहीं रहनेसे चित्त भी नहीं रहता, यही वास्तविक निरोध है) ॥ 41 ॥

भावस्य भावकः कश्चिन्न किञ्चिद्भावकोऽपरः।
उभयाऽभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः ॥ 42 ॥

कोई पदार्थ-सत्ताकी भावना करता है और कोई पदार्थोंकी असत्ताकी भावना करता है। ज्ञानी-पुरुष तो भाव-अभाव दोनोंकी भावना छोड़कर यों तो निश्चिन्त (मस्त) रहता है ॥ 42 ॥

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ॥ 43 ॥

बुद्धिहीन पुरुष अज्ञानवश अपने शुद्ध अद्वितीय स्वरूपका ज्ञान तो प्राप्त करते नहीं, भावना करते हैं। उन्हें जीवनपर्यन्त शान्ति नहीं मिलती ॥ 43 ॥

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥ 44 ॥

मुमुक्षु पुरुषकी बुद्धि कुछ-न-कुछ आलम्बन ग्रहण किये बिना नहीं रहती। मुक्त पुरुषकी बुद्धि तो सर्वथा निष्काम और निरालम्ब ही रहती है ॥ 44 ॥

विषवद्वीपिनो वीक्ष्य चकितः शरणार्थिनः।
विशन्ति झटिति क्रोडन्निरोधैकाग्रयसिद्धये ॥ 45 ॥

अज्ञानी पुरुष विषयरूपी मतवाले हाथियोंको देखकर भयभीत हो जाते हैं और शरणके लिए बराबर निरोध और एकाग्रताकी सिद्धिके लिए झट-झट चित्तकी गुफामें घुस जाते हैं ॥ 45 ॥

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ॥ 46 ॥

वासनाहीन ज्ञानी सिंह हैं, उसे देखकर विषयके मतवाले हाथी चुपचाप भाग जाते हैं। उनकी एक नहीं चलती। उलटे तरह-तरहसे खुशामद करके सेवा करते हैं ॥ 46 ॥

न मुक्तिकारिकान्धत्ते निःशङ्को युक्तमानसः।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥ 47 ॥

तत्त्वज्ञ पुरुष मुक्तिके साधनोंका अभ्यास नहीं करता है, निःशंक रहता है। देखते, सुनते, छूते, सूँघते, भोगते, बैठते वह आनन्दमें मग्न रहता है ॥ 47 ॥

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति ॥ 48 ॥

शुद्ध बुद्धि पुरुष वस्तुतत्त्वका श्रवण करनेमात्रसे आकुलतारहित हो जाता है, फिर आचार-अनाचार अथवा उदासीनतापर उसकी दृष्टि नहीं जाती है ॥ 48 ॥

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्॥ 49 ॥

शुभ हो चाहे अशुभ, जो जब करनेके लिए सामने आ जाता है तब वह उसे सरलतासे कर डालता है। उसकी चेष्टा बच्चेके समान होती है ॥ 49 ॥

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम्।
स्वातन्त्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातन्त्र्यात्परमं पदम्॥ 50 ॥

स्वतन्त्रतासे ही सुखकी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्रतासे ही परतत्त्वकी उपलब्धि होती है। स्वतन्त्रतासे ही परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्रतासे ही परम पद मिलता है। (देश, काल, वस्तु, क्रिया, भावना, स्थिति, लोक, वेद, ईश्वर, धर्म आदि-आदि समस्त दृश्य, सत्ता-शून्य, अनात्माके परतन्त्र न होना ही स्वतन्त्रता है ॥ 50 ॥

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः॥ 51 ॥

जब जिज्ञासु पुरुष अपने आपको अकर्त्ता और अभोक्ता निश्चय कर लेता है तब चित्तकी समस्त वृत्तियाँ क्षीण हो ही जाती है ॥ 51 ॥

उच्छृङ्खलाप्याकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।
न तु संस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा॥ 52 ॥

इसलिए स्थित-प्रज्ञ पुरुषकी स्थिति उच्छृङ्खल होनेपर भी स्वाभाविक, विशेष श्रेष्ठ है। अज्ञानी पुरुषकी, जिसके चित्तमें अनेक इच्छाएँ भरी हैं शान्ति, समाधि तो बनावटी हैं ॥ 52 ॥

विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान्।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः॥ 53 ॥

स्थित-प्रज्ञ पुरुष कल्पना, बन्धन एवं बुद्धि-वृत्तियोंसे मुक्त होते हैं।

वे महान् भोगोंमें विलास करते हैं और पर्वतोंकी गहन गुफाओंमें भी प्रवेश करते हैं ॥ 53 ॥

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम्।
दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना॥ 54॥

स्थित-प्रज्ञ पुरुष श्रोत्रिय, देवता, तीर्थ, स्त्री, राजा और प्रियको देखकर उनका सत्कार करता है, परन्तु उसके हृदयमें कोई वासना नहीं होती है ॥ 54 ॥

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्॥ 55॥

सेवक, पुत्र, स्त्री, दौहित्र और सगोत्रके द्वारा हँसी उड़ाये जानेपर, धिक्कार देनेपर भी तत्त्वज्ञ-पुरुषके चित्तमें तनिक भी विकार नहीं होता ॥ 55 ॥

संतुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते॥ 56॥

लोगोंकी दृष्टिसे प्रसन्न होनेपर भी वह प्रसन्न नहीं होता और खिन्न होनेपर भी खिन्न नहीं होता। उसकी उन आश्चर्यदशाओंको वैसे लोग ही जानते हैं ॥ 56 ॥

कर्त्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः॥ 57॥

कर्त्तव्य बुद्धिका नाम ही संसार है। विद्वान् लोग उसे ही नहीं देखते क्योंकि वे शून्याकार, निराकार, निर्विकार एवं निरामय होते हैं ॥ 57 ॥

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः॥ 58॥

अज्ञानी पुरुष कुछ न करता हो तब भी क्षोभवश सर्वत्र व्यग्र ही रहता है। स्थित-प्रज्ञ (कुशल) पुरुष बहुतसे काम करता हुआ भी शान्त रहता है ॥ 58 ॥

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुङ्क्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः॥ 59॥

स्थित-प्रज्ञ पुरुष व्यवहारमें भी सुखसे बैठता है, सुखसे सोता है, सुखसे आता-जाता है, सुखसे बोलता है और सुखसे खाता भी है ॥ 59 ॥

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः ।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते ॥ 60 ॥

जो महाह्रदके समान अक्षुब्ध है, व्यवहार करते रहने पर भी साधारण लोगोंके समान स्वभावसे ही जिसको पीड़ा नहीं होती, वह दुःख रहित ज्ञानी शोभायमान होता है ॥ 60 ॥

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी ॥ 61 ॥

मूढ़की निवृत्ति भी प्रवृत्ति हो जाती है। स्थितप्रज्ञकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिका फल देती है ॥ 61 ॥

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते ।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता ॥ 62 ॥

अज्ञानी पुरुष प्रायः गृह-द्रव्यादि पदार्थोंसे वैराग्य करता है परन्तु जिसका देहाभिमान नष्ट हो चुका है उसके लिए कहाँ राग कहाँ विराग ? ॥ 62 ॥

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा ।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी ॥ 63 ॥

अज्ञानीकी दृष्टि सर्वदा भाव या अभावमें लगी रहती हैं। तत्त्वज्ञ-पुरुषकी दृष्टि तो दृश्यको देखते रहनेपर भी अदृष्टि ही है ॥ 63 ॥

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः ।
न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि ॥ 64 ॥

जो तत्त्वज्ञ बड़े-से-बड़े कामोंमें भी बालकके समान निष्काम व्यवहार करता है वह शुद्ध है। कर्म करनेपर भी वह लिप्त नहीं होता ॥ 64 ॥

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः ॥ 65 ॥

वह आत्मज्ञानी धन्य है जो समस्त स्थितियोंमें सम रहता है। देखते, सुनते, छूते, सूँघते और खाते-पीते भी उसका मानस तृष्णा रहित होता है ॥ 65 ॥

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा ॥ 66 ॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष सर्वद आकाशके समान निर्विकल्प रहता है। उसकी दृष्टिमें संसार कहाँ और उसका भान कहाँ? उसके लिए साध्य क्या और साधन क्या? ॥ 66 ॥

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते ॥ 67 ॥

तत्त्वज्ञ पुरुषको अपने अखण्ड स्वरूपमें सर्वदा स्वाभाविक समाधि रहती है। उसका लौकिक, पारलौकिक कोई स्वार्थ नहीं है। वह पूर्ण स्वानन्द-घन है। वास्तवमें वही विजयी है ॥ 67 ॥

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञातत्त्वो महाशयः।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः ॥ 68 ॥

बहुत कहनेसे क्या लाभ? स्थितप्रज्ञ तत्त्वज्ञ भोग और मोक्ष दोनोंके प्रति आकांक्षा रहित होता है और सदा सर्वत्र राग-द्वेष रहित होता है ॥ 68 ॥

महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥ 69 ॥

महत्तत्वसे लेकर सम्पूर्ण दृश्य द्वैत-रूप जगत् नाममात्रका पसारा है। शुद्ध बोध-स्वरूप तत्त्वज्ञने जब (बाघके द्वारा) इसका परित्याग कर दिया तब भला उसका क्या कर्त्तव्य शेष है ॥ 69 ॥

भ्रमभूतमिदं सर्वं किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति ॥ 70 ॥

यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच भ्रममात्र है। कुछ नहीं है। ऐसे महा निश्चयसे सम्पन्न शुद्ध पुरुष दृश्यकी स्फूर्तिसे भी रहित हो जाता है और

स्वभावसे ही शान्त हो जाता है। (ज्ञानके पश्चात् दृश्यकी स्फूर्तिसे रहित होना ही ब्रह्मात्मानुभूति है॥ 70॥

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।
क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमेपि वा॥ 71॥

जो शुद्ध स्फुरण-स्वरूप है, जिसे दृश्य सत्तावान् नहीं मालूम पड़ता, उसके लिए विधि क्या? वैराग्य क्या? त्याग क्या? और शान्ति क्या?॥ 71॥

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादता॥ 72॥

जो अनन्त रूपसे स्वयं ही स्फुरित हो रहा है और प्रकृतिकी पृथक् सत्ताको नहीं देखता है उसके लिए बन्ध कहाँ? मोक्ष कहाँ? हर्ष कहाँ और विषाद कहाँ?॥ 72॥

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्त्तते।
निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः॥ 73॥

संसारका पर्यवसान है बुद्धि। अपने स्वरूपमें बोद्धा, बुद्धि, बोध्यकी त्रिपुटी मायामात्र प्रतीत हो रही है। इस तत्त्वको जाननेवाला पुरुष काम, ममता और अहंकारसे रहित होकर शोभा पाता है॥ 73॥

अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः।
क्व विद्या क्व वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा॥ 74॥

जो तत्त्वज्ञ विविध तापसे रहित अपने अविनाशी स्वरूपको जानता है, उसके लिए विद्या कहाँ, विश्व कहाँ? देह कहाँ, और अहंता-ममता कहाँ?॥ 74॥

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोति तत्क्षणात्॥ 75॥

अज्ञानी पुरुष आदि निरोधादि अभ्यासोंको छोड़ देता है तो उसके दूसरे ही क्षण बड़े-बड़े मनोरथ और प्रलाप करने लगता है॥ 75॥

मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः॥ 76॥

अज्ञानी ब्रह्म और आत्माकी एकता श्रवण करके भी अपनी मूर्खताका परित्याग नहीं करता। वह बाहर तो प्रयत्नसे कुछ क्षणके लिए निःसंकल्प हो जाता है परन्तु भीतर विषयोंकी लालसाका बीज बना ही रहता है॥ 76॥

ज्ञानाद्‌बलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत्।
नाप्नोत्यवसं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन॥ 77॥

आत्मज्ञानसे जिसकी कर्म-वासना गल गयी है वह लोकदृष्टिसे कर्म करता रहे तो भी उसके कुछ करने अथवा कहनेके लिए कोई अवसर नहीं मिलता। (वास्तवमें वह अकर्त्ता, अवक्ता और अकाल ही है)॥ 77॥

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा॥ 78॥

जो स्थितप्रज्ञ सर्वदा निर्विकार अतएव निरांतक है उसके लिए अज्ञान कहाँ, ज्ञान कहाँ? त्याग कहाँ? कुछ कहाँ, न कुछ कहाँ?॥ 78॥

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकतापि वा।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिना॥ 79॥

स्थितप्रज्ञका स्वभाव अनिर्वचनीय होता है। वास्तवमें तो वह स्वभाव रहित है। उसके धैर्य कहाँ, विवेक कहाँ? और निर्भयता भी कहाँ? (गुणोंमें-से भी महत्त्व-बुद्धि नष्ट हो जानेसे गुणादि कहाँ?)॥ 79॥

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन॥ 80॥

स्थितप्रज्ञ पुरुषके लिए न स्वर्ग है, न नरक और तो क्या, जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति भी नहीं है। इस सम्बन्धमें बहुत कहनेसे क्या लाभ? वस्तु-तत्त्वके साक्षात्कारकी दृष्टिसे कुछ नहीं है॥ 80॥

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम्॥ 81॥

स्थितप्रज्ञका चित्त ऐसा शीतल रहता है मानो अमृत ही लबालब भर रहा हो। न वह लाभकी अभिलाषा करता है और न हानिका शोक॥ 81॥

न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति।
समदुःखसुखस्तृप्तः किञ्चित्कृत्यं न पश्यति॥ 82॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष न सन्तकी स्तुति करता है न दुष्टकी निन्दा। वह दुःख एवं सुखमें सम रहता है। अपने आपमें ही तृप्त रहता है और वह अपने लिए कुछ कर्त्तव्य नहीं देखता॥ 82॥

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति॥ 83॥

स्थितप्रज्ञ न संसारसे द्वेष करता है और न तो आत्म-दर्शन ही करना चाहता है। वह हर्ष एवं रोषसे रहित होता है। वह न तो मृत है न जीवित॥ 83॥

निःस्नेह पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।
निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः॥ 84॥

जो पुत्र-स्त्री आदिके प्रति स्नेह रहित है, विषयोंके प्रति निष्काम है और अपने शरीरके लिए भी निश्चिन्त है, जिसे (अगले क्षणके लिए) किसी वस्तुकी आशा नहीं है, वह ज्ञानी शोभायमान होता है॥ 84॥

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्त्तिनः।
स्वच्छन्दं चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः॥ 85॥

जहाँ सूर्यास्त हुआ वहाँ सो गया। जहाँ मौज हुई वहीं विचर गया। जो सामने आया उसीमें वर्त लिया। तात्पर्य, स्थितप्रज्ञ सर्वत्र सन्तुष्ट होता है॥ 85॥

पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः।
स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः॥ 86॥

जो अपने स्वतः सिद्ध स्वरूपको भूमिमें विश्राम करके अशेष-

विशेष रूप प्रपंचका बाध कर चुका है उस स्थितप्रज्ञ महात्माको शरीर नष्ट हो जाय अथवा बना रहे ऐसी चिन्ता नहीं होती ॥ 86 ॥

अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः ॥ 87 ॥

ज्ञानी पुरुष अकिंचन, स्वच्छन्दचारी, निर्द्वन्द्व और सन्देह रहित होता है। वह किसी भी पदार्थमें आसक्त नहीं है। वह तो केवल विकार रहित विहार करता है ॥ 87 ॥

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
सुभिन्नहृदयग्रन्थि र्विनिधूतरजस्तमः ॥ 88 ॥

स्थितप्रज्ञकी हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है। रजोगुण, तमोगुण धुल जाते हैं। वह मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको सम-दृष्टिसे देखता है उसको कहीं ममता नहीं होती। वास्तवमें वही शोभा पाता है ॥ 88 ॥

सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद्वासना हृदि।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते ॥ 89 ॥

जो प्रपंचकी किसी वस्तु पर अवधान नहीं देता (गौरसे नहीं देखता); अन्तःकरण जिसका कहीं बँधता नहीं; जो आत्मतृप्त है; उसके हृदयमें तनिक भी वासना नहीं होती। उसकी बराबरी किसके साथ की जा सकती है ॥ 89 ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते ॥ 90 ॥

वासनाहीन स्थितप्रज्ञ अतिरिक्त ऐसा और कौन है जो जानता हुआ भी न जाने, देखता हुआ भी न देखे और बोलता हुआ भी न बोले ॥ 90 ॥

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाऽऽशोभना मतिः ॥ 91 ॥

राजा हो चाहे रंक, जो निष्काम है वही शोभा पाता है। (निष्काम कौन ?) जिसकी दृश्य-पदार्थोंमें शुभ और अशुभ बुद्धि नहीं होती ॥ 91 ॥

क्व स्वाच्छन्द्यं क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः॥ 92॥

तत्त्वज्ञ निष्कपट, सरल और कृतकृत्य होता है। उसके लिए स्वच्छन्दता कहाँ, संकोच कहाँ और तत्त्व-निश्चय भी कहाँ?॥ 92॥

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।
अन्तर्यदनुभयेत तत्कथं कस्य कथ्यते॥ 93॥

जो अपने स्वरूपमें विश्राम करके तृप्त है, दृश्यकी आशा नहीं रखता, आर्त्ति-रहित है, वह अपने अन्तःकरणमें जिस आश्चर्यका अनुभव करता है वह कैसे किसको बतलाया जाय?॥ 93॥

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे॥ 94॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष पद-पद पर तृप्त रहता है वह सोकर भी नहीं सोता। वह स्वप्न देखकर भी नहीं देखता और वह जागृत-अवस्थामें रहनेपर भी नहीं जागता॥ 94॥

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः।
सबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः॥ 95॥

तत्त्वज्ञ सचिन्त होनेपर भी निश्चिन्त है इन्द्रियवान् होनेपर भी निरिन्द्रिय है। बुद्धिमान् होनेपर भी बुद्धिहीन है। साहंकार होनेपर भी निरहंकार है। (लोगोंकी कल्पनाएँ उसे प्रभावित नहीं करतीं)॥ 95॥

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान्।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किञ्चिन्न च किञ्चन॥ 96॥

तत्त्वज्ञ न सुखी है न दुःखी। न विरक्त है न रक्त। न मुमुक्षु है, न मुक्त। न कुछ है, न न-कुछ॥ 96॥

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्।
जाड्योपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः॥ 97॥

तत्त्वज्ञ विक्षेपमें भी विक्षिप्त नहीं हैं, समाधिमें भी समाधिस्थ नहीं है। जड़तामें जड़ नहीं है और पाण्डित्यमें भी पण्डित नहीं है॥ 97॥

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्त्तव्यनिर्वृतः।
समः सर्वत्र वैतृष्णान्न स्मरत्यकृतं कृतम्॥ 98॥

तत्त्वज्ञ समस्त स्वतः परतः स्थितियोंमें स्वरूपस्थित रहता है। कृतकृत्य होनेके कारण परम शान्त रहता है—होता है। सर्वत्र सम रहता है। तृष्णाका अभाव होनेके कारण वह 'क्या किया, क्या नहीं किया', इन बातोंका स्मरण नहीं करता॥ 98॥

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति॥ 99॥

वन्दना करनेसे प्रसन्न नहीं होता। निन्दा करनेसे क्रोधित नहीं होता। मृत्युसे उद्वेग नहीं करता और जीवनका अभिनन्दन नहीं करता॥ 99॥

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते॥ 100॥

स्थितप्रज्ञ भीड़-भाड़के लिए दौड़ता नहीं और न तो जंगलमें ही जाना चाहता है। वह तो चाहे-जहाँ चाहे-जैसे समरससे ही स्थित रहता है॥ 100॥

●

: 19 :

तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात्।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया॥ 1॥

जैसे सफल चिकित्सक सँड़सीके द्वारा पेटमें घुसे हुए बाणोंको बड़ी चतुरतासे निकाल लेता है वैसे ही मैंने तत्त्वज्ञानके द्वारा अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प, विचार-मतादिको निकाल फेंका है॥ 1॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ 2॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिए धर्म कहाँ? काम कहाँ? अर्थ कहाँ? विवेक कहाँ? और तो क्या, द्वैत कहाँ और अद्वैत कहाँ?॥ 2॥

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा।
क्व देशः क्व च वा नित्य स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ 3॥

मैं सदा-सर्वदा अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिए भूत, भविष्य तथा वर्तमान-रूप काल कहाँ, देश कहाँ?॥ 3॥

क्व चात्मा क्व च वानात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा।
क्व चिन्ता क्व च वाचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ 4॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिए आत्मा-अनात्मा शुभाशुभ चिन्ता एवं अचिन्ताका अस्तित्व ही कहाँ है?॥ 4॥

क्व स्वप्न क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।
क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ 5॥

कहाँ स्वप्न और कहाँ सुषुप्ति? कहाँ जागरण और कहाँ तुरीय? मेरे लिए भय हो कहाँ है? क्योंकि मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ॥ 5॥

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा।

क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्निस्थितस्य मे॥ 6॥

कहाँ दूर और कहाँ समीप? कहाँ बाह्य और कहाँ आभ्यन्तर? कहाँ स्थूल और कहाँ सूक्ष्म? क्योंकि मैं अपनी स्वरूप-महिमामें स्थित हूँ॥ 6॥

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम्।

क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ 7॥

कहाँ मृत्यु और कहाँ जीवन? कहाँ लोक और कहाँ लौकिक? कहाँ लय और कहाँ समाधि? मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ॥ 7॥

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाऽप्यलम्।

अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि॥ 8॥

अर्थ, धर्म, कामकी बात बन्द करो। बस करो! योगकी कथा अनावश्यक है। अब विज्ञानकी कथा भी बहुत हो चुकी। बस, मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ॥ 8॥

●

: 20 :

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः।

क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने॥ 1॥

मेरे निर्मल स्वरूपमें पंचभूत कहाँ? देह कहाँ? इन्द्रियाँ कहाँ? मन कहाँ? शून्य कहाँ? और निराशा भी कहाँ?॥ 1॥

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः।

क्व तृप्ति क्व वितृष्णात्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा॥ 2॥

मैं सर्वदा निर्द्वन्द्व हूँ। कहाँ शास्त्र और कहाँ आत्म-विज्ञान? कहाँ मनकी निर्विषयता और कहाँ तृप्ति? मेरे लिए तृष्णासे रहित होना भी क्या है?॥ 2॥

क्व विद्या क्व च वाऽविद्या क्वाहं क्वेदम् मम क्व वा।

क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता॥ 3॥

स्वरूपमें विद्या कहाँ? अविद्या कहाँ? अहं कहाँ और इदं कहाँ? ममता कहाँ? बन्धन कहाँ? मोक्ष कहाँ? उसमें रूपपना भी कहाँ है?॥ 3॥

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा।

क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा॥ 4॥

जो सर्वदा निर्विशेष एक-रस वस्तु है उसमें प्रारब्ध-कर्म कहाँ? जीवन्मुक्ति कहाँ और विदेह कैवल्य कहाँ?॥ 4॥

क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा।

क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्व मे सदा॥ 5॥

मैं सदा सर्वदा एक-रस, स्वभावरहित हूँ। मुझमें कर्त्ता कहाँ?

भोक्ता कहाँ? निष्क्रिय स्फुरण भी कहाँ? अपरोक्ष ज्ञान कहाँ और फल-ज्ञान कहाँ? (वृत्ति-व्याप्ति और फल-व्याप्ति दोनों ही मुझमें नहीं है।) ॥ 5 ॥

क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा।

क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ 6 ॥

अद्वितीय अहं स्वस्वरूपमें कहाँ लोक और कहाँ मुमुक्षु? कहाँ योगी और कहाँ ज्ञानवान्? कहाँ बद्ध और कहाँ मुक्त ॥ 6 ॥

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।

क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ 7 ॥

मेरे अद्वितीय स्वस्वरूपमें कहाँ सृष्टि और कहाँ संहार? कहाँ साध्य और कहाँ साधन? कहाँ साधक और कहाँ सिद्धि? ॥ 7 ॥

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा।

क्व किञ्चित्क्व न किञ्चिद्वा सर्वदा विमलस्य मे ॥ 8 ॥

मैं सर्वदा शुद्ध-स्वरूप हूँ। मुझमें न प्रमाता है न प्रमाण। न प्रमेय है न प्रमा। न कुछ है, न न-कुछ। यह सारे भेद प्रकाश्यगत हैं। प्रकाशकसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं। प्रकाशसे प्रकाश्य पृथक् नहीं होता। इसलिए जिसकी सत्तासे सबका भाव हो रहा है, वही मैं हूँ ॥ 8 ॥

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता।

क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ॥ 9 ॥

मैं सर्वदा निर्विकार, निस्पन्द, निष्क्रिय हूँ। मुझमें न विक्षेप है न एकाग्रता। न बोध है न मूढ़ता। न हर्ष है न विषाद (चित्त वृत्तिकी कोई भी अवस्था मुझमें नहीं है क्योंकि सभी अवस्थाएँ दृश्य सापेक्ष्य हैं और दृश्य द्रष्टासे पृथक् नहीं है इसलिए केवल स्वस्वरूप है ॥ 9 ॥

क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता।

क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा ॥ 10 ॥

संकल्प, विकल्प, विचार, बोध कुछ भी मुझमें नहीं, है, इसलिए न व्यवहार है न परमार्थ। न सुख है न दुःख ॥ 10 ॥

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे॥ 11॥

मै सर्वदा एक-रस सम्पूर्ण मलोंसे रहित हूँ। मुझमें माया कहाँ, संसार कहाँ? राग कहाँ? वैराग्य कहाँ? जीव कहाँ? ब्रह्म कहाँ? (ये सारे भेद जिज्ञासुओंको समझानेके लिए अध्यारोप मात्र हैं) ॥ 11 ॥

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा मुक्ति क्व च बन्धनम्।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा॥ 12॥

मैं कूटस्थ निरेश और निरवयव हूँ। सदा सर्वदा अपने स्वरूपमें ही स्थित हूँ। तब मेरे लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति क्या है? और मुक्ति तथा बन्धन क्या है? ॥ 12 ॥

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे॥ 13॥

मैं उपाधि रहित शिव हूँ। मेरे लिए उपदेश क्या? शास्त्र क्या? शिष्य क्या और गुरु क्या? मेरे लिए पुरुषार्थका अस्तित्व नहीं है ॥ 13 ॥

क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम्।
बहुनात्र विमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम॥ 14॥

'है' कहाँ और 'नहीं' कहाँ? न एक है, न दो है। बहुत कहनेसे क्या लाभ? मेरे स्वरूपमें कुछ नहीं है, कुछ नहीं है ॥ 14 ॥

॥ समाप्त ॥

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

वेदान्त

मुण्डक सुधा	200.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	45.00
केनोपनिषद्	70.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	120.00
श्वेताश्वतरोपनिषद्	150.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	120.00
दृग दृश्य विवेक	100.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	80.00
वेदान्त बोध	110.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	40.00
आनन्दानुभव	35.00
जीवन्मुक्ति विवेक	75.00
अष्टावक्रगीता	25.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	90.00
मिथ्यात्व ज्ञान	20.00
ध्यान और ज्ञान	90.00

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	200.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	200.00
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	150.00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अ.-7)	130.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अ.-8)	50.00
राजविद्या राजगुह्ययोग (गीता अध्याय-9)	90.00
विभूतियोग (गीता अ.-10)	175.00
भक्ति योग (गीता अ.-12)	90.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अ.-13)	150.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अ.-15)	120.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अ.-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	60.00
योगः कर्मसु कौशलम्	20.00
मामेकं शरणं व्रज	45.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेवः सर्वम्	10.00
मया ततमिदं सर्वं (मेरा सब ताना-बाना)	25.00
गीता दर्शन (तीन भागोंमें)	650.00

श्रीमद्भागवत

भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	600.00
ईशानुकथा (नवम स्कन्ध)	30.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
मुक्ति स्कन्ध (एकादश स्कन्ध) (दो भागोंमें)	270.00
रास पंचाध्यायी	150.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	80.00
भागवतामृत	70.00
भागवत व्यंजन	50.00
भागवत सर्वस्व	25.00
गोपीगीत	100.00
वेणुगीत	40.00
युगलगीत	50.00
प्रणयगीत	60.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	20.00
उद्धवगीत	25.00
कपिलोपदेश	80.00
ब्रह्म-स्तुति	85.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	15.00
सद्गुरुसे क्या सीखें?	15.00
उनकी कृपा	20.00
ऊखल बन्धन लीला	50.00
सत्संग महिमा	20.00
प्रह्लाद चरित	60.00
उद्धव व्रजगमन	180.00
भागवत विमर्श (दो भागोंमें)	45.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
गर्भ स्तुति	60.00
वसुदेव देवकी स्तुति	20.00
भागवत विचार दोहन	30.00
भिक्षुगीत	35.00
मैं ही मैं (चतु:श्लोकी भागवत)	30.00
सुदामा चरित	10.00

रामायण

श्रीरामचरितमानस (तीन भागोंमें)	1000.00
अध्यात्म रामायण	250.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	100.00
मानस दर्शन	40.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	30.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायण	400.00

भक्ति एवं साधना

विष्णु पुराण	.00
भक्ति एवं लीला	10.00
नाम महिमा	25.00
भगवन्नाम	10.00
शरण	10.00
प्रार्थना	10.00
नारद भक्ति दर्शन	100.00
भक्ति सर्वस्व	75.00
भक्तिदर्शनामृत	50.00
भक्तिका चमत्कार	35.00

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

विपुल 28/16 बी. जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006

फोन : (022) 23682055, मो. : 09619858361

● शाखा कार्यालय ●

श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281121

फोन : (0565) 2913043, 2540487, मो. : 09837219460

प्रवचन

सुगम-से-सुगम

राजर्षि जनक, महामुनि श्रीअष्टावक्रजीका दर्शन-सत्संग करके राजधानीके लिए प्रस्थान करते समय घोड़ेकी बायीं ओर लटकते रिकाबमें अपना बायाँ पाँव डाल चुके थे। पीठपर बैठनेके लिए अभी दाहिना पाँव उठाया नहीं था। इतनेमें श्रीअष्टावक्रजीकी धीर-गम्भीर, प्रसन्न-वाणी प्रतिध्वनित हो उठी—

'अरे राजा! तू नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अद्वितीय चिद्-ब्रह्म है, देहको अपना आत्मा मानकर झूठ-मूठ भवाटवीमें भटक रहा है। यह तो अज्ञानका जंगल है। तुझसे अन्य, अमंगल है। लगा दे अज्ञानके जंगलमें आग। न राग, न भाग। न संग्रह, न त्याग। बस, तू-ही-तू है!'

राजा अवाक! मैं ही अद्वितीय ब्रह्म हूँ! धन्य है, धन्य है!! राजा कृतकृत्य हो गया। कुछ करना, जानना, छोड़ना, पाना शेष नहीं रहा। निर्द्वन्द्व, निर्भय! एक क्षणमें कल्पित अनादि आवरण भंग हो गया। नित्य सिद्ध असंगता प्रकट हो गयी। जब दूसरा है ही नहीं तो आसक्ति एवं विरक्ति भी किससे?

उपनिषदोंमें सावधान रहकर ध्यानपूर्वक तात्पर्य ढूढ़ना पड़ता है। अद्वैत सिद्धि, चित्सुखी, खण्डन एवं धिक्कार आदि बड़े-बड़े ग्रन्थोंमें पर-मतके निरसन एवं आक्षेप-प्रतिक्षेप पर ही दृष्टि अटक जाती है—कभी भटकजाती है।

परन्तु, 'अष्टावक्रगीता' जिज्ञासु हृदयको तत्क्षण प्रकाशित कर देती है और विशुद्ध अनुभव रसको अपने स्वरूपके रूपमें ही निरावरण कर देती है।

आनन्द कानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337